विषय-सूची

जीवन और शिक्षण

: १ :

रोजकी प्रार्थना

ॐ असतो मा सद्गमय ।
तमसो मां ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर्मा अमृतं गमय ।।

हे प्रभो, मुझे असत्यमेंसे सत्यमें ले जा । अंधकारमेंसे प्रकाशमें ले जा । मृत्युमेंसे अमृतमें ले जा ।

इस मंत्रमें हम कहां हैं, अर्थात् हमारा जीव-स्वरूप क्या है, और हमें कहां जाना है, अर्थात् हमारा शिव-स्वरूप क्या है, यह दिखाया है । हम असत्यमें हैं, अंधकारमें हैं, मृत्युमें हैं । यह हमारा जीव-स्वरूप है । हमें सत्यकी ओर जाना है, प्रकाशकी ओर जाना है, अमृत्वको प्राप्त कर लेना है । यह हमारा शिव-स्वरूप है ।

दो बिंदु निश्चित हुए कि सुरेखा निश्चित हो जाती है । जीव और शिव ये दो बिंदु निश्चित हुए कि परमार्थ-मार्ग तैयार हो जाता है । मुक्तके लिए परमार्थ-मार्ग नहीं है, कारण उसका जीव-स्वरूप जाता रहा है । शिव-स्वरूपका एक ही बिंदु बाकी रह गया है, इसलिए मार्ग पूरा हो गया । जड़के लिए परमार्थ-मार्ग नहीं है । कारण, उसे शिव-स्वरूप का भान नहीं है । जीव-स्वरूपका एक ही बिंदु नजरके सामने है, इसलिए मार्ग आरंभ ही नहीं होता । मार्ग बीचवाले लोगोंके लिए है । बीचवाले लोग अर्थात् मुमुक्षु । उनके लिए मार्ग है और उन्हींके लिए इस मंत्रवाली प्रार्थना है ।

'मुझे असत्यमेंसे सत्यमें ले जा' ईश्वरसे यह प्रार्थना करनेके मानी हैं, 'मैं असत्यमेंसे सत्यकी ओर जानेका बराबर प्रयत्न करूंगा', इस तरहकी एक

प्रतिज्ञा-सी करना । प्रयत्नवादकी प्रतिज्ञाके बिना प्रार्थनाका कोई अर्थ ही नहीं रहता । यदि मैं प्रयत्न नहीं करता और चुप बैठ जाता हूं, अथवा विरुद्ध दिशामें जाता हूं, और जबानसे 'मुझे असत्यमेंसे सत्य में ले जा' यह प्रार्थना किया करता हूं, तो इससे क्या मिलनेका ? नागपुरसे कलकत्तेकी ओर जानेवाली गाड़ीमें बैठकर हम 'हे प्रभो, मुझे बंबई ले जा' की कितनी ही प्रार्थना करें, तो उसका क्या फायदा होना है ? असत्यसे सत्यकी ओर ले चलनेकी प्रार्थना करनी हो तो असत्यसे सत्यकी ओर जानेका प्रयत्न भी करना चाहिए । प्रयत्नहीन प्रार्थना प्रार्थना ही नहीं हो सकती । इसलिए ऐसी प्रार्थना करनेमें यह प्रतिज्ञा शामिल है कि मैं अपना रुख असत्यसे सत्यकी ओर करूंगा और अपनी शक्तिभर सत्यकी ओर जानेका भरपूर प्रयत्न करूंगा ।

प्रयत्न करना है तो फिर प्रार्थना क्यों ? प्रयत्न करना है, इसीलिए तो प्रार्थना चाहिए । मैं प्रयत्न करनेवाला हूं । पर फल मेरी मुट्ठीमें थोड़े ही है । फल तो ईश्वरकी इच्छापर अवलंबित है । मैं प्रयत्न करके भी कितना करूंगा ? मेरी शक्ति कितनी अल्प है ? ईश्वरकी सहायताके बिना मैं अकेला क्या कर सकता हूं ? मैं सत्यकी ओर अपने कदम बढ़ाता रहूं तो भी ईश्वरकी कृपाके बिना मैं मंजिलपर नहीं पहुंच सकता । मैं रास्ता काटनेका प्रयत्न तो करता हूं, पर अंतमें मैं रास्ता काटूंगा कि बीचमें मेरे पैर ही कट जानेवाले हैं, यह कौन कह सकता है ? इसलिए अपने ही बलबूते मैं मंजिलपर पहुंच जाऊंगा, यह घमंड फिजूल है । कामका अधिकार मेरा है, पर फल ईश्वरके हाथमें है । इसलिए प्रयत्नके साथ-साथ ईश्वरकी प्रार्थना आवश्यक है । प्रार्थना के संयोगसे हमें बल मिलता है । यों कहो न कि अपने पासका संपूर्ण बल काममें लाकर और बलकी ईश्वरसे मांग करना, यही प्रार्थनाका मतलब है ।

प्रार्थनामें दैववाद और प्रयत्नवादका समन्वय है । दैववादमें पुरुषार्थको अवकाश नहीं है, इससे वह बावला है । प्रयत्नवादमें निरहंकार वृत्ति नहीं है, इससे वह घमंडी है । फलतः दोनों ग्रहण नहीं किये जा सकते । किंतु दोनोंको छोड़ा भी नहीं जा सकता । कारण, दैववादमें जो नम्रता है वह जरूरी है । प्रयत्नवादमें जो पराक्रम है वह भी आवश्यक है । प्रार्थना इनका मेल साधती

है । 'मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः' गीतामें सात्त्विक कर्त्ताका यह जो लक्षण कहा गया है, उसमें प्रार्थनाका रहस्य है । प्रार्थना मानी अहंकार-रहित प्रयत्न । सारांश, 'मुझे असत्यमेंसे सत्यमें ले जा' इस प्रार्थनाका संपूर्ण अर्थ होगा कि 'मैं असत्यमेंसे सत्यकी ओर जानेका, अहंकार छोड़कर, उत्साहपूर्वक सतत प्रयत्न करूंगा ।' यह अर्थ ध्यानमें रखकर हमें रोज प्रभुसे प्रार्थना करनी चाहिए कि—

हे प्रभो, तू मुझे असत्यमेंसे सत्यमें ले जा । अंधकारमेंसे प्रकाशमें ले जा । मृत्युमेंसे अमृतमें ले जा ।

: २ :

जीवन और शिक्षण

आजकी विचित्र शिक्षण-पद्धतिके कारण जीवनके दो टुकड़े हो जाते हैं । आयुके पहले पंद्रह-बीस बरसोंमें आदमी जीनेके झंझटमें न पड़कर सिर्फ शिक्षाको प्राप्त करे और बादको शिक्षणको बस्तेमें लपेट रखकर मरने तक जिये ।

यह रीति प्रकृतिकी योजनाके विरुद्ध है । हाथभर लंबाईका बालक साढ़े तीन हाथका कैसे हो जाता है, यह उसके अथवा औरोंके ध्यानमें भी नहीं आता । शरीरकी वृद्धि रोज होती रहती है । यह वृद्धि सावकाश क्रम-क्रमसे, थोड़ी-थोड़ी होती है । इसलिए उसके होनेका भानतक नहीं होता । यह नहीं होता कि आज रातको सोये तब तो दो फुट ऊंचाई थी और सवेरे उठकर देखा तो ढाई फुट हो गई । आजकी शिक्षण-पद्धतिका तो यह ढंग है कि अमुक वर्षके बिल्कुल आखिरी दिनतक मनुष्य-जीवनके विषयमें पूर्ण रूपसे गैरजिम्मेदार रहे तो भी कोई हर्ज नहीं । यही नहीं, उसे गैरजिम्मे-दार रहना चाहिए और आगामी वर्षका पहला दिन निकले कि सारी जिम्मे-दारी उठा लेनेको तैयार हो जाना चाहिए । संपूर्ण गैरजिम्मेदारीसे संपूर्ण जिम्मेदारीमें कूदना तो एक हनुमान-कूद ही हुई । ऐसी हनुमान-कूदकी कोशिशमें हाथ-पैर टूट जायं तो क्या अचरज !

भगवान्‌ने अर्जुनसे कुरुक्षेत्रमें भगवद्‌गीता कही। पहले भगवद्‌गीताके 'क्लास' लेकर फिर अर्जुनको कुरुक्षेत्रमें नहीं ढकेला। तभी उसे वह गीता पची। हम जिसे जीवनकी तैयारीका ज्ञान कहते हैं उसे जीवनसे बिल्कुल अलिप्त रखना चाहते हैं, इसलिए उक्त ज्ञानसे मौतकी ही तैयारी होती है।

बीस बरसका उत्साही युवक अध्ययनमें मग्न है। तरह-तरहके ऊंचे विचारोंके महल बना रहा है। "मैं शिवाजी महाराजकी तरह मातृभूमिकी सेवा करूंगा। मैं वाल्मीकि-सा कवि बनूंगा। मैं न्यूटनकी तरह खोज करूंगा।" एक, दो, चार, जाने क्या-क्या कल्पना करता है। ऐसी कल्पना करनेका भाग्य भी थोड़ोंको ही मिलता है। पर जिनको मिलता है, उनकी ही बात लेते हैं। इन कल्पनाओंका आगे क्या नतीजा निकलता है? जब नोन-तेल-लकड़ीके फेर में पड़ा, जब पेटका प्रश्न सामने आया, तो बेचारा दीन बन जाता है। जीवनकी जिम्मेदारी क्या चीज़ है, आजतक इसकी बिलकुल ही कल्पना नहीं थी और अब तो पहाड़ सामने खड़ा हो गया। फिर क्या करता है? फिर पेटके लिए वन-वन फिरनेवाले शिवाजी, करुण गीत गानेवाले वाल्मीकि, और कभी नौकरीकी, तो कभी औरतकी, कभी लड़कीके लिए वरकी और अंतमें श्मशानकी शोध करनेवाले न्यूटन—इस प्रकारकी भूमिकाएं लेकर अपनी कल्पनाओंका समाधान करता है। यह हनुमान-कूदका फल है।

मैट्रिकके एक विद्यार्थीसे पूछा—"क्योंजी, तुम आगे क्या करोगे?"

"आगे क्या? आगे कालेजमें जाऊंगा।"

"ठीक है। कालेजमें तो जाओगे। लेकिन उसके बाद? यह सवाल तो बना ही रहता है।"

"सवाल तो बना रहता है। पर अभीसे उसका विचार क्यों किया जाय? आगे देखा जायगा।"

फिर तीन साल बाद उसी विद्यार्थीसे वही सवाल पूछा।

"अभीतक कोई विचार नहीं हुआ।"

"विचार हुआ नहीं, यानी? लेकिन विचार किया था क्या?"

"नहीं साहब, विचार किया ही नहीं। क्या विचार करें? कुछ सूझता नहीं। पर अभी डेढ़ बरस बाकी है। आगे देखा जायगा।"

'आगे देखा जायगा' ये वेही शब्द हैं जो तीन वर्ष पहले कहे गये थे। पर पहलेकी आवाजमें बेफिक्री थी। आजकी आवाजमें थोड़ी चिंताकी झलक थी।

फिर डेढ़ वर्ष बाद उसी प्रश्नकर्त्ताने उसी विद्यार्थीसे—अथवा कहो, अब 'गृहस्थ' से—वही प्रश्न पूछा। इस बार चेहरा चिंताक्रांत था। आवाज की बेफिक्री बिल्कुल गायब थी। 'ततः किं? ततः किं? ततः किम्?' यह शंकराचार्यजीका पूछा हुआ सनातन सवाल अब दिमागमें कसकर चक्कर लगाने लगा था। पर पास जवाब नहीं था।

आजकी मौत कलपर ढकेलते-ढकेलते एक दिन ऐसा आ जाता है कि उस दिन मरना ही पड़ता है। यह प्रसंग उनपर नहीं आता जो 'मरणके पहले ही' मर लेते हैं, जो अपना मरण आंखोंसे देखते हैं। जो मरणका 'अगाऊ' अनुभव कर लेते हैं, उनका मरण टलता है और जो मरणके अगाऊ अनुभवसे जी चुराते हैं, खिचते हैं, उनकी छातीपर मरण आ पड़ता है। सामने खंभा है, यह बात अंधेको उस खंभेका छातीमें प्रत्यक्ष धक्का लगनेके बाद मालूम होती है। आंखवालेको वह खंभा पहले ही दिखाई देता है। अतः उसका धक्का उसकी छातीको नहीं लगता।

जिंदगीकी जिम्मेदारी कोई निरी मौत नहीं है और मौत ही कौन ऐसी बड़ी 'मौत' है? अनुभवके अभावसे यह सारा 'हौआ' है। जीवन और मरण दोनों आनंदकी वस्तु होनी चाहिए। कारण, अपने परमप्रिय पिताने—ईश्वरने—वे हमें दिये हैं। ईश्वरने जीवन दुःखमय नहीं रचा। पर हमें जीवन जीना आना चाहिए। कौन पिता है जो अपने बच्चोंके लिए परेशानी-की जिंदगी चाहेगा। तिसपर ईश्वरके प्रेम और करुणाका कोई पार है? वह अपने लाड़ले बच्चोंके लिए सुखमय जीवनका निर्माण करेगा कि परेशानी और झंझटोंसे भरा जीवन रचेगा? कल्पनाकी क्या आवश्यकता है, प्रत्यक्ष ही देखिए न। हमारे लिए जो चीज जितनी जरूरी है उसके उतनी ही सुलभतासे मिलनेका इंतजाम ईश्वरकी ओरसे है। पानीसे हवा ज्यादा जरूरी है तो ईश्वरने पानीसे हवाको अधिक सुलभ किया है। जहां नाक है, वहां हवा मौजूद है। पानीसे अन्नकी जरूरत कम होनेकी वजह से पानी प्राप्त करनेकी बनिस्बत अन्न प्राप्त करनेमें अधिक परिश्रम करना पड़ता है।

'आत्मा' सबसे अधिक महत्वकी वस्तु होनेके कारण वह हरेकको हमेशाके लिए दे डाली गई है। ईश्वरकी ऐसी प्रेम-पूर्ण योजना है। इसका खयाल न करके हम निकम्मे, जड़ जवाहरात जमा करने जितने जड़ बन जायं तो तकलीफ हमें होगी ही। पर यह हमारी जड़ताका दोष है, ईश्वरका नहीं।

जिंदगीकी जिम्मेदारी कोई डरावनी चीज नहीं है। वह आनंदसे ओतप्रोत है, बशर्ते कि ईश्वरकी रची हुई जीवनकी सरल योजनाको ध्यानमें रखते हुए अयुक्त वासनाओंको दबाकर रखा जाय। पर जैसे वह आनंदसे भरी हुई वस्तु है वैसे ही शिक्षासे भी भरपूर है। यह पक्की बात समझनी चाहिए कि जो जिंदगीकी जिम्मेदारीसे वंचित हुआ वह सारे शिक्षणका फल गंवा बैठा। बहुतोंकी धारणा है कि बचपनसे जिंदगीकी जिम्मेदारी-का खयाल अगर बच्चोंमें पैदा हो जाय तो जीवन कुम्हला जायगा। पर जिंदगीकी जिम्मेदारीका भान होनेसे अगर जीवन कुम्हालता हो तो फिर वह जीवन-वस्तु ही रहने लायक नहीं है। पर आज यह धारणा बहुतेरे शिक्षण-शास्त्रियोंकी भी है और इसका मुख्य कारण है जीवनके विषय में दुष्ट कल्पना। जीवन मानी कलह, यह मान लेना। ईसप-नीतिके अरसिक माने हुए, परंतु वास्तविक, मर्मको समझनेवाले मुर्गेसे सीख लेकर ज्वारके दानोंको अपेक्षा मोतियोंको मान देना छोड़ दिया तो जीवनके अंदरका कलह जाता रहेगा और जीवनमें सहकार दाखिल हो जायगा। बंदरके हाथमें मोतियोंकी माला (मरकट-भूषण अंग) यह कहावत जिन्होंने गढ़ी है, उन्होंने मनुष्य का मनुष्यत्व सिद्ध न करके मनुष्यके पूर्वजोंके संबंधमें डार्विनका सिद्धांत ही सिद्ध किया है। 'हनुमान के हाथमें मोतियोंकी माला' वाली कहावत जिन्होंने रची वे अपने मनुष्यत्वके प्रति वफादार रहे।

जीवन अगर भयानक वस्तु हो, कलह हो, तो बच्चोंको उसमें दाखिल मत करो और खुद भी मत जियो। पर अगर जीने लायक वस्तु हो तो लड़कोंको उसमें जरूर दाखिल करो। बिना उसके उन्हें शिक्षण नहीं मिलने का। भगवद्गीता जैसे कुरुक्षेत्रमें कही गई वैसे शिक्षा जीवन-क्षेत्रमें देनी चाहिए, दी जा सकती है। 'दी जा सकती है', यह भाषा भी ठीक नहीं है, वहीं वह मिल सकती है।

अर्जुनके सामने प्रत्यक्ष कर्त्तव्य करते हुए सवाल पैदा हुआ। उसका उत्तर देनेके लिए भगवद्गीता निर्मित हुई। इसीका नाम शिक्षा है। बच्चोंको खेतमें काम करने दो। वहां कोई सवाल पैदा हो तो उसका उत्तर देनेके लिए सृष्टि-शास्त्र अथवा पदार्थ-विज्ञानकी या दूसरी जिस चीजकी जरूरत हो उसका ज्ञान दो। यह सच्चा शिक्षण होगा। बच्चोंको रसोई बनाने दो। उसमें जहां जरूरत हो रसायनशास्त्र सिखाओ। पर असली बात यह है कि उनको 'जीवन जीने दो'। व्यवहारमें काम करनेवाले आदमीको भी शिक्षण मिलता ही रहता है। वैसे ही छोटे बच्चोंको भी मिले। भेद इतना ही होगा कि बच्चोंके आसपास जरूरतके अनुसार मार्ग-दर्शन करानेवाले मनुष्य मौजूद हों। ये आदमी भी 'सिखानेवाले' बनकर 'नियुक्त' नहीं होंगे। वे भी 'जीवन जीनेवाले' हों, जैसे व्यवहारमें आदमी जीवन जीते हैं। अंतर इतना ही है कि इन 'शिक्षक' कहलानेवालोंका जीवन विचार-मय होगा, उसमेंके विचार मौकेपर बच्चोंको समझाकर बतानेकी योग्यता उनमें होगी। पर 'शिक्षक' नामके किसी स्वतंत्र धंधेकी जरूरत नहीं है, न 'विद्यार्थी' नामके मनुष्य-कोटिसे बाहरके किसी प्राणीकी। और 'क्या करते हो' पूछनेपर 'पढ़ता हूं' या 'पढ़ाता हूं' ऐसे जवाबकी जरूरत नहीं है। 'खेती करता हूं' अथवा 'बुनता हूं' ऐसा शुद्ध पेशेवर कहिये या व्यावहारिक कहिए, पर जीवनके भीतरसे उत्तर आना चाहिए। इसके लिए उदाहरण विद्यार्थी राम-लक्ष्मण और गुरु विश्वामित्रका लेना चाहिए। विश्वामित्र यज्ञ करते थे। उसकी रक्षाके लिए उन्होंने दशरथसे लड़कोंकी याचना की। उसी कामके लिए दशरथने लड़कोंको भेजा। लड़कोंमें भी यह जिम्मेदारीकी भावना थी कि हम यज्ञ-रक्षणके 'काम'के लिए जाते हैं। उसमें उन्हें अपूर्व शिक्षा मिली। पर यह बताना हो कि राम-लक्ष्मणने क्या किया तो कहना होगा कि 'यज्ञ-रक्षा की'। 'शिक्षण प्राप्त किया' नहीं कहा जायगा। पर शिक्षण उन्हें मिला, जो मिलना ही था।

शिक्षण कर्त्तव्य कर्मका आनुषंगिक फल है। जो कोई कर्त्तव्य कर उसे जाने-अनजाने वह मिलता ही है। लड़कोंको भी वह उसी तरह मिलना चाहिए। औरोंको वह ठोकरें खा-खाकर मिलता है। छोटे लड़कोंमें आज उतनी शक्ति नहीं आई है, इसलिए उनके आसपास ऐसा वातावरण बनाना

चाहिए कि वे बहुत ठोकर न खाने पायें और धीरे-धीरे वे स्वावलंबी बनें, ऐसी अपेक्षा और योजना होनी चाहिए। शिक्षण फल है। और 'मा फलेषु कदाचन' यह मर्यादा फलके लिए भी लागू है—खास शिक्षणके लिए कोई कर्म करना यह भी सकाम हुआ—और उसमें भी 'इदमद्य मया लब्धम्'—आज मैंने यह पाया, 'इदं प्राप्स्ये'—कल वह पाऊंगा, इत्यादि वासनाएं आती ही हैं। इसलिए इस 'शिक्षण-मोह'से छूटना चाहिए। इस मोहसे जो छूटा उसे सर्वोत्तम शिक्षण मिला समझना चाहिए। मां बीमार है, उसकी सेवा करनेमें मुझे खूब शिक्षण मिलेगा। पर इस शिक्षणके लोभसे मुझे माताकी सेवा नहीं करनी है। वह तो मेरा पवित्र कर्त्तव्य है, इस भावनासे मुझे माताकी सेवा करनी चाहिए। अथवा माता बीमार है और उसकी सेवा करनेसे मेरी दूसरी चीज—जिसे मैं 'शिक्षण' समझता हूं वह—जाती है तो इस शिक्षणके नष्ट होनेके डरसे मुझे माताकी सेवा नहीं टालनी चाहिए।

प्राथमिक महत्त्वके जीवनोपयोगी परिश्रमको शिक्षणमें स्थान मिलना चाहिए। कुछ शिक्षणशास्त्रियोंका इसपर यह कहना है कि ये परिश्रम शिक्षणकी दृष्टिसे ही दाखिल किये जायं, पेट भरनेकी दृष्टिसे नहीं। आज 'पेट भरने' का जो विकृत अर्थ प्रचलित है उससे घबराकर यह कहा जाता है और उस हदतक वह ठीक है। पर मनुष्यको 'पेट' देनेमें ईश्वरका हेतु है। ईमानदारीसे 'पेट भरना' अगर मनुष्य साध ले तो समाजके बहुतेरे दुःख और पातक नष्ट हो ही जायं। इसीसे मनुने 'योऽर्थशुचिः स हि शुचिः'—जो आर्थिक दृष्टिसे पवित्र है वही पवित्र है, यह यथार्थ उद्गार प्रकट किये हैं। 'सर्वेषामविरोधेन' कैसे जियें, इस शिक्षणमें सारा शिक्षण समा जाता है। अविरोधवृत्तिसे शरीर-यात्रा करना मनुष्यका प्रथम कर्त्तव्य है। यह कर्त्तव्य करनेसे ही उसकी आध्यात्मिक उन्नति होगी। इसीसे शरीर-यात्राके लिए उपयोगी परिश्रम करनेको ही शास्त्रकारोंने 'यज्ञ' नाम दिया है। 'उदर-भरण नोहे, जाणिजे यज्ञकर्म'—यह उदर-भरण नहीं है, इसे यज्ञकर्म जान। वामन पंडितका यह वचन प्रसिद्ध है। अतः मैं शरीर-यात्रा के लिए परिश्रम करता हूं, यह भावना उचित है। शरीर-यात्रासे मतलब अपने साढ़े तीन हाथके शरीरकी यात्रा न समझकर समाज-

शरीरकी यात्रा, यह उदार अर्थ मनमें बैठाना चाहिए। मेरी शरीर-यात्रा मानी समाजकी सेवा और इसीलिए ईश्वरकी पूजा, इतना समीकरण दृढ़ होना चाहिए। और इस ईश्वर-सेवामें देह खपाना मेरा कर्त्तव्य है और वह मुझे करना चाहिए, यह भावना हरेकमें होनी चाहिए। इसलिए वह छोटे बच्चोंमें भी होनी चाहिए। इसके लिए उनकी शक्तिभर उन्हें जीवनमें भाग लेनेका मौका देना चाहिए और जीवनको मुख्य केंद्र बनाकर उसके आसपास आवश्यकतानुसार सारे शिक्षणकी रचना करनी चाहिए।

इससे जीवनके दो खंड न होंगे। जीवनकी जिम्मेवारी अचानक आ पड़ने से उत्पन्न होनेवाली अड़चन पैदा न होगी। अनजाने शिक्षा मिलती रहेगी, पर 'शिक्षणका मोह' नहीं चिपकेगा और निष्काम कर्मकी ओर प्रवृत्ति होगी।

: ३ :

कौटुंबिक पाठशाला

विचारोंका प्रत्यक्ष जीवनसे नाता टूट जानेसे विचार निर्जीव हो जाते हैं और जीवन विचार-शून्य बन जाता है। मनुष्य घरमें जीता है और मदरसेमें विचार सीखता है, इसलिए जीवन और विचारका मेल नहीं बैठता। उपाय इसका यह है कि एक ओरसे घरमें मदरसेका प्रवश होना चाहिए और दूसरी ओरसे मदरसेमें घर घुसना चाहिए। समाज-शास्त्रको चाहिए कि शालीन कुटुंब निर्माण करे और शिक्षण-शास्त्रको चाहिए कि कौटुंबिक पाठशाला स्थापित करे।

छात्रालय अथवा शिक्षकोंके घरको शिक्षाकी बुनियाद मानकर उसपर शिक्षणकी इमारत रचनेवाली शाला ही कौटुंबिक शाला है। ऐसे कौटुंबिक शालाके जीवनक्रमके संबंधमें—पाठचक्रमको अलग रखकर—कुछ सूचनाएं इस लेखमें करनी हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) ईश्वर-निष्ठा संसारमें सार वस्तु है। इसलिए नित्यके कार्यक्रम-

में दोनों वेला सामुदायिक उपासना या प्रार्थना होनी चाहिए। प्रार्थनाका स्वरूप संत-वचनोंकी सहायतासे ईश्वर-स्मरण होना चाहिए। उपासनामें एक भाग नित्यके किसी निश्चित पाठको देना चाहिए। 'सर्वेषामविरोधेन' यह नीति हो। एक प्रार्थना रातको सोनेके पहले होनी चाहिए और दूसरी सुबह सोकर उठनेपर।

(२) आहार-शुद्धिका चित्त-शुद्धिसे निकट संबंध है, इसलिए आहार सात्त्विक रखना चाहिए। गरम मसाला, मिर्च, तले हुए पदार्थ, चीनी और दूसरे निषिद्ध पदार्थोंका त्याग करना चाहिए। दूध और दूधसे बने पदार्थोंका मर्यादित उपयोग करना चाहिए।

(३) ब्राह्मणसे या दूसरे किसी रसोइयेसे रसोई नहीं बनवानी चाहिए। रसोईकी शिक्षा शिक्षाका एक अंग है। सार्वजनिक काम करनेवालेके लिए रसोईका ज्ञान जरूरी है। सिपाही, प्रवासी, ब्रह्मचारी, सबको वह आनी चाहिए। स्वावलंबनका वह एक अंग है।

(४) कौटुंबिक पाठशालाको अपने पाखानेका काम भी अपने हाथमें लेना चाहिए। अस्पृश्यता-निवारणका अर्थ किसीसे छूतछात न मानना ही नहीं, किसी भी समाजोपयोगी कामसे नफरत न करना भी है। पाखाना साफ करना अंत्यजका काम है, यह भावना चली जानी चाहिए। इसके अलावा स्वच्छताकी सच्ची तालीम भी इसमें है। इसमें सार्वजनिक स्वच्छता रखनेके ढंगका अभ्यास है।

(५) अस्पृश्योंसहित सबको मदरसेमें स्थान मिलना चाहिए, यह तो है ही, पर 'कौटुंबिक' पाठशालामें पंक्ति-भेद रखना भी संभव नहीं। आहार-शुद्धिका नियम रहना काफी है।

(६) स्नानादि प्रातःकर्म सबेरे ही कर डालनेका नियम होना चाहिए। स्वास्थ्य-भेदसे अपवाद रखा जा सकता है। स्नान ठंडे पानीसे करना चाहिए।

(७) प्रातःकर्मोंकी तरह सोनेके पहलेके 'सायंकर्म' भी जरूर होने चाहिए। सोनेके पहले देह-शुद्धि आवश्यक है। इस सायंकर्मका गाढ़ निद्रा और ब्रह्मचर्यसे संबंध है। खुली हवामें अलग-अलग सोनेका नियम होना चाहिए।

(८) किताबी शिक्षाके बजाय उद्योगपर ज्यादा जोर देना चाहिए। कम-से-कम तीन घंटे तो उद्योगमें देने ही चाहिए। इसके बिना अध्ययन तेजस्वी नहीं होनेका। 'कर्मातिशेषेण' अर्थात् काम करके बचे हुए समयमें वेदाध्ययन करना श्रुतिका विधान है।

(९) शरीरको तीन घंटे उद्योगमें लगाने और गृहकृत्य और स्वकृत्य स्वतः करनेका नियम रखनेके बाद दोनों समय व्यायाम करनेकी जरूरत नहीं है। फिर भी एक बेला अपनी-अपनी जरूरतके मुताबिक खुली हवामें खेलना, घूमना या कोई विशेष व्यायाम करना उचित है।

(१०) कातनेको राष्ट्रीय धर्मकी प्रार्थनाकी भांति नित्यकर्ममें गिनना चाहिए। उसके लिए उद्योगके समयके अलावा कम-से-कम आधा घंटा अलग देना चाहिए। इस आधे घंटेमें तकलीका उपयोग करनेसे भी काम चल जायगा। कातनेका नित्यकर्म यात्रामें या कहीं भी छोड़े बिना जारी रखना हो तो तकली ही उपयुक्त साधन है। इसलिए तकलीपर कातना तो आना ही चाहिए।

(११) कपड़ेमें खादी ही बरतनी चाहिए। दूसरी चीजें भी, जहांतक संभव हो, स्वदेशी ही लेनी चाहिए।

(१२) सेवाके सिवा दूसरे किसी भी कामके लिए रातको जागना नहीं चाहिए। बीमार आदमीकी सेवा इसमें अपवाद है। पर मौजके लिए या ज्ञान-प्राप्तिके लिए भी रातका जागरण निषिद्ध है। नींदके लिए आठ पहर रखने चाहिए।

(१३) रातमें भोजन नहीं रखना चाहिए। आरोग्य, व्यवस्था और अहिंसा तीनों दृष्टियोंसे इस नियमकी आवश्यकता है।

(१४) प्रचलित विषयोंमें संपूर्ण जागृति रखकर वातावरणको निर्मल रखना चाहिए।

प्रत्यक्ष अनुभवके आधारपर कौटुंबिक शालाके जीवनक्रमके संबंधमें ये चौदह सूचनाएं की गई हैं। इनमें किताबी शिक्षा और औद्योगिक शिक्षाके पाठ्यक्रमके बारेमें ब्यौरा नहीं दिया गया है। राष्ट्रीय शिक्षाके विषयमें जिन्हें 'रस' है वे इन सूचनाओंपर विचार करें।

: ४ :

राष्ट्रीय शिक्षकोंका दायित्व

एक देशसेवाभिलाषीसे किसीने पूछा—"कहिए, अपनी समझमें आप क्या काम अच्छा कर सकते हैं ?"

उसने उत्तर दिया, "मेरा खयाल है, मैं केवल शिक्षणका काम कर सकता हूं और उसीका शौक है।"

"यह तो ठीक है। अक्सर आदमीको जो आता है, मजबूरन उसका उसे शौक होता ही है। पर यह कहिए कि आप दूसरा कोई काम कर सकेंगे या नहीं ?"

"जी नहीं। दूसरा कोई काम नहीं करना आयेगा। सिर्फ सिखा सकूंगा और विश्वास है कि यह काम तो अच्छा कर सकूंगा।"

"हां-हां, अच्छा सिखानेमें क्या शक है; पर अच्छा क्या सिखा सकते हैं ? कातना, धुनना, बुनना अच्छा सिखा सकेंगे ?"

"नहीं, वह नहीं सिखा सकता।"

"तब, सिलाई ? रंगाई ? बढ़ईगिरी ?"

"न, यह सबकुछ नहीं।"

"रसोई बनाना, पीसना वगैरा घरेलू काम सिखा सकेंगे ?"

"नहीं, कामके नामसे तो मैंने कुछ किया ही नहीं, मैं केवल शिक्षणका..."

"भाई, जो पूछा जाता है उसीमें 'नहीं, 'नहीं' कहते हो और कहे जाते हो 'केवल' शिक्षणका काम कर सकता हूं। इसके मानी क्या हैं ? बागबानी सिखा सकिएगा ?"

देशसेवाभिलाषीने जरा चिढ़कर कहा, "यह क्या पूछ रहे हैं ? मैंने शुरूमें ही तो कह दिया, मुझे दूसरा कोई काम करना नहीं आता। मैं साहित्य पढ़ा सकता हूं।"

प्रश्नकर्ताने जरा मजाकसे कहा, "ठीक कहा। अबकी आपकी बात कुछ तो समझमें आई ! आप 'रामचरितमानस' जैसी पुस्तक लिखना सिखा सकते हैं ?"

अब तो देशसेवाभिलाषी महाशयका पारा गरम हो उठा और मुंहसे कुछ ऊटपटांग निकलनेको ही था कि प्रश्नकर्ता बीचमें ही बोल उठा––"शांति, क्षमा, तितिक्षा रखना सिखा सकेंगे ?"

अब तो हद होगई । आगमें जैसे मिट्टीका तेल डाल दिया हो । यह संवाद खूब जोरसे भभकता, लेकिन प्रश्नकर्त्ताने तुरंत उसे पानी डालकर बुझा दिया––"मैं आपकी बात समझा । आप लिखना-पढ़न आदि सिखा सकेंगे और इसका भी जीवनमें थोड़ा-सा उपयोग है, बिल्कुल न हो, ऐसा नहीं है । खैर, आप बुनाई सीखनेको तैयार हैं ?"

"अब कोई नई चीज सीखनेका हौसला नहीं है और तिसपर बुनाईका काम तो मुझे आनेका ही नहीं, क्योंकि आजतक हाथको ऐसी कोई आदत ही नहीं ।"

"माना, इस कारण सीखनेमें कुछ ज्यादा वक्त लगेगा, लेकिन इसमें न आनेकी क्या बात है ?"

"मैं तो समझता हूं, नहीं ही आयेगा । पर मान लीजिए, बड़ी मेहनतसे आया भी तो मुझे इसमें बड़ा झंझट मालूम होता है । इसलिए मुझसे यह नहीं होगा, यही समझिए ।"

"ठीक, जैसे लिखना सिखानेको तैयार हैं वैसे खुद लिखनेका काम कर सकते हैं ?"

"हां, जरूर कर सकता हूं । लेकिन सिर्फ बैठे-बैठे लिखते रहनेका काम भी है झंझटी, फिर भी उसके करनेमें कोई आपत्ति नहीं है ।"

यह बातचीत यहीं समाप्त होगई । नतीजा इसका क्या हुआ, यह जाननेकी हमें जरूरत नहीं ।

शिक्षकोंकी मनोवृत्ति समझनेके लिए यह बातचीत काफी है । शिक्षण यानी––

किसी तरहकी भी जीवनोपयोगी क्रियाशीलतासे शून्य;

कोई नई कामकी चीज सीखनेमें स्वभावतः असमर्थ हो गया है;

क्रियाशीलतासे सदाके लिए उकताया हुआ;

'सिर्फ शिक्षण' का घमंड रखनेवाला पुस्तकोंमें गड़ा हुआ, आलसी जीव;

'सिर्फ शिक्षण' का मतलब है जीवनमें तोड़कर बिलगाया हुआ मुर्दा; शिक्षण और शिक्षकके मानी 'मृत-जीवी' मनुष्य।

'मृत-जीवी' को ही कोई-कोई बुद्धि-जीवी कहते हैं। पर यह है वाणीका व्यभिचार। बुद्धि-जीवी कौन है? कोई गौतम बुद्ध, कोई सुकरात, शंकराचार्य अथवा ज्ञानेश्वर बुद्ध-जीवनकी ज्योति जगाकर दिखाते हैं। 'गीता' में बुद्धि-ग्राह्य जीवनका अर्थ अतींद्रिय जीवन बतलाया है। जो इंद्रियोंका गुलाम है, जो देहासक्तिका मारा हुआ है, वह बुद्धि-जीवी नहीं है। बुद्धिका पति आत्मा है। उसे छोड़कर जो बुद्धि देहके द्वारकी दासी हो गई वह बुद्धि व्यभिचारिणी बुद्धि है। ऐसी व्यभिचारिणी बुद्धिका जीवन ही मरण है। और उसे जीनेवाला मृत-जीवी। सिर्फ शिक्षणपर जीनेवाले जीव विशेष अर्थमें मृतजीवी हैं। सिर्फ शिक्षणपर जीनेवालोंको मनुने 'मृतकाध्यापक' उर्फ 'वेतन-भोगी शिक्षक' नाम देकर श्राद्धके काममें इनका निषेध किया है। ठीक ही है। श्राद्धमें तो मृत पूर्वजोंकी स्मृतिको जिंदा करना रहता है और जिन्होंने प्रत्यक्ष जीवनको मृत कर दिखाया है, उनका इस काममें क्या उपयोग?

शिक्षकोंको पहले आचार्य कहा जाता था। आचार्य अर्थात् आचारवान्। स्वयं आदर्श जीवनका आचरण करते हुए राष्ट्रसे उसका आचरण करा लेनेवाला आचार्य है। ऐसे आचार्योंके पुरुषार्थसे ही राष्ट्रका निर्माण हुआ है। आज हिंदुस्तानकी नई तह बैठानी है। राष्ट्र-निर्माणका काम आज हमारे सामने है। आचारवान् शिक्षकोंके बिना वह संभव नहीं है।

तभी तो राष्ट्रीय शिक्षणका प्रश्न सबसे महत्त्वपूर्ण है। उसकी व्याख्या और व्याप्ति हमें अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। राष्ट्रका सुशिक्षित वर्ग निरग्नि और निष्क्रिय होता जा रहा है। इसका उपाय राष्ट्रीय शिक्षणकी आग सुलगाना ही है।

पर वह अग्नि होनी चाहिए। अग्निकी दो शक्तियां मानी गई हैं। एक 'स्वाहा' और दूसरी 'स्वधा'। ये दोनों शक्तियां जहां हैं, वहां अग्नि है। 'स्वाहा' के मानी हैं आत्माहुति देनेकी, आत्मत्यागकी शक्ति, और 'स्वधा'-के मानी हैं आत्म-धारणकी शक्ति। ये दोनों शक्तियां राष्ट्र-शिक्षणमें जाग्रत

होनी चाहिए। इन शक्तियोंके होनेपर ही वह राष्ट्रीय शिक्षण कहलायेगा। बाकी सब मृत––निर्जीव––है, कोरा शिक्षण।

ऊपर-ऊपरसे दिखाई देता है कि अबतक हमारे राष्ट्रीय शिक्षकोंने बड़ा आत्मत्याग किया है, पर वह उतना सही नहीं है। फुटकर स्वार्थ-त्याग अथवा गर्भित त्यागके मानी आत्मत्याग नहीं है। उसकी कसौटी भी है। जहां आत्मत्यागकी शक्ति होगी, वहां आत्मधारणकी शक्ति भी होती है। न हुई तो त्याग कोई काहेका करेगा? जो आत्मा अपनेको खड़ा ही नहीं रख सकता वह कूदेगा कैसे? मतलब, आत्मत्यागकी शक्तिमें आत्मधारण पहलेसे शामिल ही है। यह आत्मधारणकी शक्ति 'स्वधा' राष्ट्रीय शिक्षकोंने अभीतक सिद्ध नहीं की है। इसलिए आत्मत्याग करनेका जो आभास हुआ, वह आभास मात्र ही है।

पहले स्वधा होगी, उसके बाद स्वाहा। राष्ट्रीय शिक्षणको अर्थात् राष्ट्रीय शिक्षकोंको अब स्वधा-संपादनकी तैयारी करनी चाहिए।

शिक्षकोंको 'केवल शिक्षण' की भ्रामक कल्पना छोड़कर स्वतंत्र जीवन की जिम्मेदारी––जैसी किसानोंपर होती है वैसी––अपने ऊपर होनी चाहिए और विद्यार्थियोंको भी उसीमें दायित्वपूर्ण भाग देकर उनके चारों ओर शिक्षणकी रचना करनी चाहिए, अथवा अपने-आप होने देनी चाहिए। 'गुरोः कर्मातिशेषेण' इस वाक्यका अर्थ 'गुरुके काम पूरे करके वेदाभ्यास करना' यही ठीक है, नहीं तो गुरुकी व्यक्तिगत सेवा––इतना ही अगर 'गुरोः कर्म' का अर्थ लें तो गुरुकी सेवा आखिर कितनी होगी? और उसके लिए कितने लड़कोंको कितना काम करनेको रहेगा। इसलिए 'गुरोः कर्म' करनेके मानी हैं गुरुके जीवनमें जिम्मेदारीसे हिस्सा लेना। वैसा दायित्व-पूर्ण भाग लेकर उसमें जो शंका वगैरा पैदा हों उन्हें गुरुसे पूछे और गुरुको भी चाहिए कि अपने जीवनकी जिम्मेदारी निबाहते हुए और उसीका एक अंग समझकर उसका यथाशक्ति उत्तर देता जाय। यह शिक्षणका स्वरूप है। इसीमें थोड़ा स्वतंत्र समय प्रार्थना-स्वरूप वेदाभ्यासके लिए रखना चाहिए। प्रत्येक कर्म ईश्वरकी उपासनाका ही हो, पर वैसा करके भी सुबह-शाम थोड़ा समय उपासनाके लिए देना पड़ता है। यही न्याय वेदाभ्यास अथवा शिक्षणपर लागू करना चाहिए। मतलब, जीवनकी

जिम्मेदारीके काम ही दिनके मुख्य भागमें करने चाहिए और उन सभीको शिक्षणका ही काम समझना चाहिए। साथ ही, रोज एक-दो घंटे (Period) 'शिक्षणके निमित्त' भी देना चाहिए।

राष्ट्रीय जीवन कैसा होना चाहिए, इसका आदर्श अपने जीवनमें उतारना राष्ट्रीय शिक्षकका कर्त्तव्य है। यह कर्त्तव्य करते रहनेसे उसके जीवनमें अपने-आप उसके आस-पास शिक्षाकी किरणें फैलेंगी और उन किरणोंके प्रकाशसे आस-पासके वातावरणका काम अपने-आप हो जायगा। इस प्रकारका शिक्षक स्वत:सिद्ध शिक्षण-केंद्र है और उसके समीप रहना ही शिक्षा पाना है।

मनुष्यको पवित्र जीवन बितानेकी फिक्र करनी चाहिए। शिक्षणकी खबरदारी रखनेके लिए वह जीवन ही समर्थ है। उसके लिए 'केवल शिक्षण' की हवस रखनेकी जरूरत नहीं।

: ५ :

तेजस्वी विद्या

जब मैं अपनेको विद्यार्थियोंमें पाता हूं तो मुझे बहुत खुशी होती है। इसका कारण यह है कि आपकी और मेरी जाति एक है। आप विद्यार्थी हैं, और मैं भी विद्यार्थी हूं। हर रोज कुछ-न-कुछ नया ज्ञान हासिल कर ही लेता हूं।

यूनिवर्सिटीमें रहकर आप लोग कुछ ज्ञान कमाते हैं और समझते हैं कि यह ज्ञान आपको अपने भावी जीवनमें लाभ पहुंचायेगा। वास्तवमें जहां यूनिवर्सिटीका ज्ञान खतम होता है वहां विद्याका आरंभ होता है यूनिवर्सिटीका अध्ययन पूरा करनेका अर्थ इतना ही है कि अब आप अपने प्रयत्नसे विद्या प्राप्त कर सकते हैं। आप निजाधार बनें, निराधार न रहें।

आप बाल्यावस्थामें हैं। बाल-पदवी आपको प्राप्त है। बाल तो वह होता है जो बलवान् है, जो मानता है कि यह सारी दुनिया मेरे हाथमें

मिट्टी-जैसी है, उसकी जो भी चीज मैं बनाना चाहूंगा बना लूंगा। सारांश यह कि आपको अपनी बुद्धि स्वतंत्र रखनी चाहिए।

विद्यार्थियोंके बारेमें मेरी यह शिकायत है कि उन्हें स्वतंत्रतापूर्वक किसी बातपर सोचने ही नहीं दिया जाता। आजतक हर हुकूमत (स्टेट) की यह कोशिश रही है कि बने-बनाए विचार विद्यार्थियोंके दिमागमें ठूंस दिये जायं, फिर चाहे वह स्टेट सोशलिस्ट (समाजवादी) हो, कम्यूनिस्ट (साम्यवादी) हो, कम्यूनलिस्ट (सांप्रदायिकतावादी) हो या और भी कोई इष्ट या अनिष्ट हो। लेकिन यह तरीका गलत है। एक जमाना था जब हमारे गुरु विद्यार्थियोंको पूरा विचार-स्वातंत्र्य देते थे। वे अपने शिष्योंसे कहते कि हमारे दोषोंका नहीं, अच्छी बातोंका ही अनुकरण करो। गुरुको तो अपने उस शिष्यपर अभिमान होना चाहिए, जो सोच-समझकर विचारपूर्वक गुरुकी बातको माननेसे इंकार कर देता है। आजकल तो जो उठता है, अपनी ही बात मनवाना चाहता है। विद्यार्थियोंके लिए यह एक बहुत बड़ा खतरा है। मानो ये लोग विद्यार्थियोंका यंत्रीकरण ही करना चाहते हैं। आपको ऐसे किसी यंत्रका पुर्जा नहीं बनना चाहिए। आपको संत बनना है, पंथ नहीं बनना है। संत वह है जो सत्यका उपासक होता है और पंथ वह है जो किसी बने-बनाये पंथपर जड़वत् चलता है। आप लोग अलग-अलग यूनियनें बनाते हैं। इन यूनियनोंमें रहनेके लिए एक खास विचार-प्रणालीका अनुसरण जरूरी होता है? मैं आपसे पूछता हूं, शेरोंका कभी कोई यूनियन बनता है क्या? यूनियन तो भेड़ोंका बनता है। मेरा मतलब यह नहीं है कि दूसरोंके साथ आपको सहकार ही नहीं करना है, अच्छी बातोंमें सहकार जरूर करना है। लेकिन विचारोंको स्वतंत्र रखना है और सत्य-दर्शनके लिए उसमें आवश्यक परिवर्तन करनेको सदा तैयार रहना है। इसे ही सत्यनिष्ठ कहते हैं और बलवान बननेका यही रास्ता है।

बलवान बननेके लिए एक और जरूरी बात है संयम। मैं इंद्र हूं। ये इंद्रियां मेरी शक्तियां हैं। उनपर मेरा काबू होना चाहिए। विद्यार्थी-अवस्थामें आपको संयमकी महान् विद्या सीख लेनी है। जब आप

संयमकी शक्तिका संग्रह कर लेंगे तो एकाग्रता भी, जो जीवनकी एक महान् शक्ति है, पा लेंगे।

आप आंख और पांवका भेद समझें। आंख सारी दुनियाके निरीक्षणके लिए खुली होनी चाहिए। उसको स्वैर-संचारकी पूरी आजादी होनी चाहिए। लेकिन पांव तो नियत मार्गपर चलने चाहिए। तभी प्रवास होगा। बारिशका सारा पानी अलग-अलग दिशाओंमें जहां-तहां बह जाय तो नदी नहीं बनेगी। नदी बननेके लिए नियत दिशा चाहिए। संयम-की शक्ति इस दृष्टांतसे समझ लीजिएगा।

एक बार मुझे विद्यार्थियोंके 'तरुण उत्साही मंडल' में जाना पड़ा। मैंने कहा कि उत्साही मंडल तो वृद्धोंके होने चाहिए। जिस राष्ट्रको अपने विद्यार्थियोंको उत्साहित करनेकी जरूरत पड़ती है, वह राष्ट्र तो खत्म ही हुआ समझिए। तरुणोंको धृतिकी आवश्यकता है। उसीसे उत्साह टिकता और कारगर होता है। जैसे गीतामें कहा है कि धृति और उत्साह मिलकर कर्मयोग बनता है। आपको कर्मयोगी बनना है।

एक सवाल हर वक्त पूछा जाता है कि विद्यार्थियोंको राजनीतिमें भाग लेना चाहिए या नहीं। विद्यार्थियोंको आत्मनीतिमें प्रवीण बनना है। हर बातमें उनको जागरूक रहकर अपनी नीति निश्चित करनी है। राज-नीतिमें विद्यार्थी साक्षी और अध्यक्ष बनकर रहें। हम अध्यक्ष उसे कहते हैं जिसकी आंख सारी दुनिया पर रहती है। विद्यार्थी-दशामें आप जीवन-से संबंधित सारे प्रश्नोंपर अध्यक्षकी भूमिकासे निरीक्षण-परीक्षण करते रहें और अपने निर्णय बनाते रहें। समय आनेपर उनपर अमल करें।

कर्मयोगी बननेके लिए विद्यार्थियोंको कुछ-न-कुछ निर्माण-कार्य करते रहना चाहिए। निर्माणके बिना निःसंशय ज्ञान भी नहीं होता। प्रयोगसे प्राप्त ज्ञान ही निःसंशय ज्ञान होता है। मैं विद्यार्थियोंसे पूछता हूं, "आप लोग रोटी बनाना जानते हैं ?" वे कहते हैं, "नहीं, हम तो सिर्फ खाना जानते हैं। रोटी पकाना तो लड़कियोंका काम है।" रोटी पकाना अगर लड़कियोंका काम है तो रोटी खाना भी लड़कियोंका ही काम रहने दीजिए। अपने लिए 'ज्ञानामृतं भोजनं' रख लीजिए। जिन लोगोंने लड़कियों और लड़कोंके

कार्योंको इस तरह विभाजित किया, उन्होंने दोनोंको गुलाम बनानेका तरीका ढूंढ़ निकाला है और ज्ञानको पुरुषार्थ-हीन बनाया है।

श्रीकृष्ण बचपनमें हाथोंसे काम करता था, मेहनत-मजदूरी करता था। इसीलिए गीतामें इतनी स्वतंत्र प्रतिभाका दर्शन हमें होता है। हमें ढेर-की-ढेर विद्या हासिल नहीं करनी है। तेजस्वी विद्या हासिल करनी है। जिस विद्यामें कर्त्तृत्व-शक्ति नहीं, स्वतंत्र रूपसे सोचनेकी बुद्धि नहीं, खतरा उठानेकी वृत्ति नहीं, वह विद्या निस्तेज है। मैं चाहता हूं कि आप सब तेजस्वी विद्या प्राप्त करनेकी वृत्ति रखें।

१९४८

: ६ :

नई शिक्षा-प्रणालीका आधार

'ब्रेड लेबर' के मानी हैं 'रोटीके लिए मजदूरी'। यह शब्द आपमेंसे कई लोगोंने नया ही सुना होगा। लेकिन यह नया नहीं है। टॉल्स्टॉयने इस शब्दका उपयोग किया है। उन्होंने भी यह शब्द बांदरेसा नामक एक लेखकके निबंधोंसे लिया और अपनी उत्तम लेखन-शैली द्वारा उसको दुनियाके सामने रख दिया। इस विषयपर विचार ही नहीं, बल्कि वैसा ही आचार करनेकी कोशिश भी मैं बीस सालसे करता आ रहा हूं, क्योंकि जीवनमें और साथ-साथ शिक्षणमें भी शरीर-श्रमको मैं प्रथम स्थान देता हूं।

हम जानते हैं कि हिंदुस्तानकी आबादी पैंतीस करोड़ है और चीनकी चालीस-पैंतालीस करोड़। ये दोनों राष्ट्र प्राचीन हैं। इन दोनोंको मिला दिया जाय तो कुल आबादी अस्सी करोड़ तक हो जाती है। इतनी जनसंख्या दुनियाका सबसे बड़ा और महत्वका हिस्सा हो जाता है। और यह भी हम जानते हैं कि यही दोनों देश आज दुनियामें सबसे ज्यादा दुखी, पीड़ित और दीन हैं। इसका कारण यह है कि इन दोनों मुल्कोंने वृत्तिका जो आदर्श अपने सामने रखा था उसका पूरा अनुसरण उन्होंने नहीं किया और बाहरके

राष्ट्रोंने उस वृत्तिको कभी स्वीकार ही नहीं किया । मेरे कहनेका मतलब यह है कि हिंदुस्तानमें शरीर-श्रमको जीवनमें प्रथम स्थान दिया गया था और उसके साथ यह भी निश्चय किया गया था कि वह परिश्रम चाहे जिस प्रकारका हो, कातनेका हो, बढ़ईका हो, रसोई बनानेका हो, सबका मूल्य एक ही है । भगवद्‌गीता में यह बात साफ शब्दोंमें लिखी है । ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो, किसीको चाहे जितना छोटा या बड़ा काम मिला हो, अगर उसने उस कामको अच्छी तरह किया है तो उस व्यक्तिको संपूर्ण मोक्ष मिल जाता है । अब उससे अधिक कुछ कहना बाकी नहीं रह जाता । मतलब यह है कि हरेक उपयुक्त परिश्रमका नैतिक, सामाजिक और आर्थिक मूल्य एक ही है । इस प्राचीन धर्मका आचरण तो हमने किया नहीं, पर एक बड़ा भारी शूद्रवर्ग निर्माण कर दिया । शूद्रवर्ग यानी मजदूरी करने-वाला वर्ग । यहां जितना बड़ा शूद्रवर्ग है उतना बड़ा शायद ही किसी दूसरी जगह हो । हमने उससे अधिक-से-अधिक मजदूरी करवाई और उसको कम-से-कम खानेको दिया । उसका सामाजिक दर्जा ही न समझा । उसे कुछ भी शिक्षा नहीं दी । इतना ही नहीं उसे अछूत भी बना दिया । नतीजा यह हुआ कि कारीगरवर्गमें ज्ञानका पूरा अभाव हो गया । वह पशुके समान केवल मजदूरी ही करता रहा ।

प्राचीन कालमें हमारे यहां कला कम नहीं थी । लेकिन पूर्वजोंसे मिलनेवाली कला एक बात है और उसमें दिन-प्रतिदिन प्रगति करना दूसरी बात । आज भी काफी प्राचीन कारीगरी मौजूद है । उसको देखकर हमें आश्चर्य होता है । अपनी प्राचीन कलाको देखकर हमें आश्चर्य होता है, यही सबसे बड़ा आश्चर्य है ! आश्चर्य करनेका प्रसंग हमारे सामने क्यों आना चाहिए ? उन्हीं पूर्वजोंकी तो हम संतान हैं न ? तब तो उनसे बढ़कर हमारी कला होनी चाहिए । लेकिन आज आश्चर्य करनेके सिवा हमारे हाथमें और कुछ नहीं रहा । यह कैसे हुआ ? कारीगरोंमें ज्ञानका अभाव और हममें परिश्रम-प्रतिष्ठाका अभाव ही इसका कारण है ।

प्राचीन कालमें ब्राह्मण और शूद्रकी समान प्रतिष्ठा थी । जो ब्राह्मण था वह विचार-प्रवर्तक, तत्वज्ञानी और तपश्चर्या करनेवाला था । जो किसान था वह ईमानदारीसे अपनी मजदूरी करता था । प्रातःकाल उठकर

भगवान्का स्मरण करके सूर्यनारायणके उदयके साथ खेतमें काम करने लग जाता था और सायंकाल सूर्य भगवान् जब अपनी किरणोंको समेट लेते तब उनको नमस्कार करके घर वापस आता था। ब्राह्मणमें और इस किसानमें कुछ भी सामाजिक, आर्थिक या नैतिक भेद नहीं माना जाता था।

हम जानते हैं कि पुराने ब्राह्मण 'उदर-पात्र' होते थे, यानी उतना ही संचय करते थे जितना कि पेटमें समाता था। यहांतक उनका अपरिग्रही आचरण था। आजकी भाषामें कहना हो तो ज्यादा-से-ज्यादा काम देते थे और बदले में कम-से-कम वेतन लेते थे। यह बात प्राचीन इतिहाससे हम जान सकते हैं। लेकिन बादमें ऊंच-नीचका भेद पैदा हो गया। कम-से-कम मजदूरी करनेवाला ऊंची श्रेणीका और हर तरहकी मजदूरी करनेवाला नीची श्रेणीका माना गया। उसकी योग्यता कम, उसे खानेके लिए कम और उसकी प्रगति, ज्ञान प्राप्त करनेकी व्यवस्था भी कम।

प्राचीनकालमें न्यायशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, वेदांतशास्त्र इत्यादि शास्त्रोंके अध्ययनका जिक्र हम सुनते हैं। गणितशास्त्र, वैद्यकशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र इत्यादि शास्त्रोंकी पाठशालाओंका जिक्र भी आता है। लेकिन उद्योगशालाका उल्लेख कहीं नहीं आया है। इसका कारण यह है कि हम वर्णाश्रमधर्म माननेवाले थे, इसलिए हरेक जातिका धंधा उस जातिके लोगोंके घर-घरमें चलता था और इस तरह हरेक घर उद्योगशाला था। कुम्हार हो या बढ़ई, उसके घर में बच्चोंको बचपन हीसे उस धंधेकी शिक्षा अपने पितासे मिल जाती थी। उसके लिए अलग प्रबंध करनेकी आवश्यकता न थी। लेकिन आगे क्या हुआ कि एक ओर हमने यह मान लिया कि पिताका ही धंधा पुत्रको करना चाहिए, और दूसरी ओर बाहरसे आया हुआ माल सस्ता मिलने लगा, इसलिए उसीको खरीदने लगे। मुझे कभी-कभी सनातनी भाइयोंसे बातचीत करनेका मौका मिल जाता है। मैं उनसे कहता हूं कि वर्णाश्रम-धर्म लुप्त हो रहा है, इसका अगर आपको दुःख है तो कम-से-कम स्वदेशी धर्मका तो पालन कीजिए। बुनकरसे तो मैं कहूंगा कि अपने बापका धंधा करना तुम्हारा धर्म है, लेकिन उसका बनाया हुआ कपड़ा मैं नहीं लूंगा तो वर्णाश्रम धर्म कैसे जिंदा रह सकता है? हमारी इस वृत्तिसे उद्योग गया और उद्योग के साथ उद्योगशाला भी गई। इसका

कारण यह है कि हमने शरीर-श्रमको नीच मान लिया। जो आदमी कम-से-कम परिश्रम करता है वही आज सबसे अधिक बुद्धिमान और नीतिमान् माना जाता है।

किसीने कहा, "अब विनोबाजी किसान-जैसे दीखते हैं", तो दूसरेने कहा, "लेकिन जबतक उनकी धोती सफेद है तबतक वह पूरे किसान नहीं हैं।" इस कथनमें एक दंश था। खेती और स्वच्छ धोतीकी अदावत है, इस धारणामें दंश है। जो अपनेको ऊपरकी श्रेणीवाले समझते हैं उनको यह अभिमान होता है कि हम बड़े साफ रहते हैं, हमारे कपड़े बिल्कुल सफेद बगलेके पर-जैसे होते हैं। लेकिन उनका यह सफाईका अभिमान मिथ्या और कृत्रिम है। उनके शरीरकी डाक्टरी जांच—मैं मानसिक जांचकी तो बात ही छोड़ देता हूं—की जाय और हमारे परिश्रम करनेवाले मजदूरोंके शरीरकी भी जांच की जाय और दोनों परीक्षाओंकी रिपोर्ट डाक्टर पेश करके कह दे कि कौन ज्यादा साफ है। हम लोटा मलते हैं तो बाहरसे। उसमें अपना मुंह देख लीजिए। लेकिन अंदरसे हमें मलनेकी जरूरत ही नहीं जान पड़ती। हमारे लिए अंदरकी मरम्मत ही नहीं होती। हमारी स्वच्छता केवल बाहरी और दिखावटी होती है। हमें शंका होती है कि खेतीकी मिट्टीमें काम करनेवाला किसान कैसे साफ रह सकता है। लेकिन मिट्टी में या खेतमें काम करनेवाले किसानके कपड़ेपर मिट्टीका रंग लगता है, वह मैल नहीं है। सफेद कमीजके बदले किसीने लाल कमीज पहन लिया तो उसे रंगीन कपड़ा समझते हैं। वैसे ही मिट्टीका भी एक प्रकारका रंग होता है। रंग और मैलेमें काफी फर्क है। मैलमें जंतु होते हैं, पसीना होता है, उसकी बदबू आती है। मृत्तिका तो 'पुण्यगंध' होती है। गीतामें लिखा है, "पुण्योगंधःपृथिव्यांच"। मिट्टीका शरीर है, मिट्टीमें ही मिलनेवाला है, उसी मिट्टीका रंग किसानके कपड़ेपर है। तब वह मैला कैसे हो।

अपनी उच्चारण-पद्धतिपर भी हमें ऐसा ही मिथ्या अभिमान है। देहाती लोग जो उच्चारण करते हैं उसे हम अशुद्ध कहते हैं। लेकिन पाणिनि तो कहते हैं कि साधारण जनता जो बोली बोलती है वही व्याकरण है। तुलसीदासजीने रामायण ग्राम लोगोंके लिए लिखी। वह जानते थे कि देहाती

लोग 'ष', 'श' और 'स'के उच्चारणमें फर्क नहीं करते। आम लोगोंकी जबानमें लिखनेके लिए उन्होंने रामायणमें सब जगह 'स' ही लिखा। वह नम्र हो गये। उनको तो आम लोगोंको रामायण सिखानी थी, तो फिर उच्चारण भी उन्हींका होना चाहिए।

हममेंसे कोई गीतापाठ, भजन और जप करता है या कोई उपनिषद् कंठ कर लेता है तो वह बड़ा भारी महात्मा बन जाता है। जप, संध्या, पूजा-पाठ ही धर्म माना जाता है। लेकिन दया, सत्य, परिश्रममें हमारी श्रद्धा नहीं होती। जो धर्म बेकार, निकम्मा, अनुत्पादक हो उसीको हम सच्चा धर्म मानते हैं। जिससे पैदावार होती है, वह भला धर्म कैसे हो सकता है? भक्ति और उत्पत्तिका भी कहीं मेल हो सकता है? लेकिन वेद भगवान्में हम पढ़ते हैं--"विश्वकी उत्पत्ति करनेवालोंको कुछ कृति अर्पण करो। उसने विश्वकी सृष्टिका रास्ता दिया, उसका अनुसरण करो।" लेकिन हमारी साधुकी कल्पना इससे उल्टी है। एक ब्राह्मण खेतमें खोदनेका काम कर रहा है या हल चला रहा है, ऐसी तस्वीर अगर किसीने खींच दी तो वह तस्वीर खींचनेवाला पागल समझा जायगा। "क्या ब्राह्मण भी मजदूरके-जैसा काम कर सकता है?" यह सवाल हमारे यहां उठ सकता है। "क्या तत्त्वज्ञानी खा भी सकता है?" यह सवाल नहीं उठता। वह मजेमें खा सकता है। ब्राह्मणको खिलाना ही तो हम अपना धर्म समझते हैं, उसीको पुण्य मानते हैं।

हिंदुस्तानकी संस्कृति इस हदतक गिर गई, इसी कारणसे बाहरके लोगोंने इन ऊपरी लोगोंको हटाकर हिंदुस्तानको जीत लिया। बाहरके लोगोंने आक्रमण क्यों किया? परिश्रमसे छुटकारा पानेके लिए। इसीलिए उन्होंने बड़े-बड़े यंत्रोंकी खोज की। शरीर-श्रम कम-से-कम करके बचे हुए समयमें मौज और आनंद करनेकी उनकी दृष्टि है। इसका नतीजा आज यह हुआ है कि हरेक राष्ट्र अब यंत्रोंका उपयोग करने लग गया है। पहली मशीन जिसने निकाली उसकी हुकूमत तभी चली जबतक दूसरोंके पास मशीन नहीं थी। मशीनसे संपत्ति और सुख तभी तक मिला जबतक दूसरोंने मशीनका उपयोग नहीं किया था। हरेकके पास मशीन आ जानेपर स्पर्धा शुरू हो गई।

आज यूरोप एक बड़ा 'चिड़ियाखाना' ही बन गया है। जानवरोंकी तरह हरेक अपने अलग-अलग पिंजड़ेमें पड़ा है और पड़ा-पड़ा सोच रहा है कि एक-दूसरेको कैसे खा जाऊं, क्योंकि वह अपने हाथोंसे कोई काम करना नहीं चाहता। हमारे सुधारक लोग कहते हैं—"हाथोंसे काम करना बड़ा भारी कष्ट है, उससे किसी-न-किसी तरकीबसे छूट सके तो बड़ा अच्छा हो। अगर दो घंटे काम करके पेट भर सकें तो तीन घंटे क्यों करें? अगर आठ घंटे काम करेंगे तो कब साहित्य पढ़ेंगे और कब संगीत होगा? कलाके लिए वक्त ही नहीं बचता।"

भर्तृहरिने लिखा है—"साहित्यसंगीत कलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः"—जो साहित्य-संगीत-कलासे विहीन है वह बिना पुच्छविषाण (पूंछ और सींग) का पशु है। मैं कहता हूं—ठीक है, साहित्य-संगीत-कला-विहीन अगर पुच्छविषाणहीन पशु है, तो साहित्य-संगीत-कलावाला पुच्छविषाणवाला पशु है।" भर्तृहरिके लिखनेका मतलब क्या था यह तो मैं नहीं जानता, लेकिन उसपरसे मुझे यह अर्थ सूझ गया। दूसरे एक पंडितने लिखा है—"काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्"—बुद्धिमान् लोगोंका समय काव्य-शास्त्र विनोदमें कटता है। मानो उनका समय कटता ही नहीं, मानो वह उन्हें खानेके लिए उनके दरवाजेपर खड़ा है। काल तो जाने ही वाला है। उसके जानेकी चिंता क्यों करते हो? वह सार्थक कैसे होगा, यह देखो। शरीर-श्रमको दुःख क्यों मान लिया है, यही मेरी समझमें नहीं आता। आनंद और सुखका जो साधन है उसीको कष्ट माना जाता है।

एक अमेरिकन श्रीमान्से किसीने पूछा, "दुनियामें सबसे अधिक धनवान् कौन है?" उसने जवाब दिया—"जिसकी पाचनेंद्रिय अच्छी है, वह।" उसका कहना ठीक है। संपत्ति खूब पड़ी है। लेकिन दूध भी हजम करनेकी ताकत जिसमें नहीं है उसको उस संपत्तिसे क्या लाभ? और पाचनेंद्रिय कैसे मजबूत होती है? काव्यशास्त्रसे तो "कालो गच्छति।" उससे पाचनेंद्रिय थोड़े ही मजबूत होनेवाली है। पाचनेंद्रिय तो व्यायामसे, परिश्रमसे मजबूत होती है। लेकिन आजकल व्यायाम भी पंद्रह मिनिटका निकला है। मैंने एक किताब देखी—"फिफ्टीन मिनिट्स एक्सरसाइज।"

ऐसे व्यायामसे दीर्घायुषी बनेंगे या अल्पायुषी, इसकी चिंता ही नहीं होती। सैंडो भी जल्दी ही मर गया। इन लोगोंने व्यायामका शास्त्र भी हिंसक बना रखा है। तीन मिनिटमें एकदम व्यायाम हो जाना चाहिए। जल्दी-से जल्दी उससे निपटकर काव्यशास्त्रमें कैसे लग जायं, यही फिक्र है। थोड़े ही समयमें एकदम व्यायाम करनेकी जो पद्धति है उससे स्नायु बनते हैं, नसें नहीं बनती। और अमरबेल जिस प्रकार पेड़को खा जाती है, वैसे ही स्नायु आरोग्यको खा जाते हैं। नसें आरोग्यको बढ़ाती हैं। धीरे-धीरे और सतत जो व्यायाम मिलता है उससे नसें बनतीं हैं और पाचनेंद्रिय मजबूत होती है। चौबीस घंटे हम लगातार हवा लेते हैं; लेकिन अगर हम यह सोचने लगें कि दिनभर हवा लेनेकी यह तकलीफ क्यों उठायें, दो घंटेमें ही दिनभरकी पूरी हवा मिल जाय तो अच्छा हो, तो यही कहना पड़ेगा कि हमारी संस्कृति आखिरी दर्जेतक पहुंच गई है। हमारा दिमाग इसी तरहसे चलता है। पढ़ते-पढ़ते आंख बिगड़ जाती है तो हम ऐनक लगा लेते हैं लेकिन आंखें न बिगड़ें, इसका कोई तरीका नहीं निकालते।

हमारा स्वास्थ्य बिगड़ गया है, भेदभाव बढ़ गया है और हमपर बाहरके लोगोंका आक्रमण हुआ है—इस सबका कारण यही है कि हमने परिश्रम छोड़ दिया है।

यह तो हुआ जीवनकी दृष्टिसे। अब शिक्षणकी दृष्टिसे परिश्रमका विचार करना है।

हमने शिक्षणकी जो नई प्रणाली बनाई है, उसका आधार उद्योग है, क्योंकि हम जानते हैं कि शरीरके साथ मनका निकट संबंध है। आज-कल मनोविज्ञानका अध्ययन करनेवाले हमें बहुत दिखाई देते हैं। पर बेचारोंको खुद अपना काम-क्रोध जीतनेका तरीका मालूम नहीं होता। मनके बारेमें इधर-उधरकी किताबें पढ़-पढ़कर दो-चार बातें कर सकते हैं। चौदह सालके बाद मनुष्यके मनमें एकाएक परिवर्तन होता है। इसलिए सोलह सालतक लड़कोंकी पढ़ाई होनी चाहिए, यह सिद्धांत एक मानसशास्त्रीने मुझे सुनाया। सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने कहा, "क्या मनमें परिवर्तन होनेका भी कोई पर्व होता है? हम देखते हैं कि शरीर धीरे-धीरे बढ़ता है। किसी एक दिन एकदम दो फुट ऊंचा हो गया हो,

ऐसा नहीं होता । तो फिर मनमें ही एकदम परिवर्तन कैसे हो सकता है ?" बादमें मैंने उनको समझाया कि हड्डियां चौदह सालके बाद जरा तेजीसे बढ़ती हैं और मनका शरीरके साथ संबंध होनेसे दिमाग भी उसी हिसाबसे तेजीसे विकसित होता है । शरीर और मन दोनों एक ही प्रकृतिमें, एक ही कोटिमें आते हैं ।

कार्लाइल एक भारी तत्त्ववेत्ता और विचारक था । उसके ग्रंथ पढ़ते-पढ़ते कई जगह कुछ ऐसे विचार आ जाते थे जो मेरे विचारोंसे मेल नहीं खाते थे । शंकराचार्यका जैसा सीधा, सरल विचार-प्रवाह मालूम होता है वैसा उसके लेखोंमें नहीं दीखता । उसका चरित्र बादमें मुझे पढ़नेको मिला । उससे मुझे मालूम हुआ कि कर्लाइलको सिरके दर्दकी बीमारी थी, तब मुझे उसके लेखन-दोषका कारण मिल गया । मैंने सोचा कि जिस समय उसका सिर दर्द करता होगा उस समयका उसका लेखन कुछ टेढ़ा-मेढ़ा होता होगा । योगशास्त्रमें तो मनःशुद्धिके लिए प्रथम शरीर-शुद्धि बतलाई गई है । हमारे शिक्षण-शास्त्रका भी आधार वही है । शरीर-वृद्धिके साथ मनोवृद्धि होती है । लड़कोंकी मनोवृद्धि करनी है, उनको शिक्षा देनी है, तो शारीरिक श्रम कराके उनकी भूख जाग्रत करनी चाहिए ।

परिश्रमसे उनकी भूख बढ़ेगी । जिसको दिनभरमें तीन बार अच्छी भूख लगती है उसे अधिक धार्मिक समझना चाहिए । भूख लगना जिंदा मनुष्यका धर्म है । जिसे दिनभर में एक ही दफा भूख लगती है, संभवतः उसका जीवन अनीतिमय होगा । भूख तो भगवान्का संदेश है । भूख न होती तो दुनिया बिल्कुल अनीतिमान् और अधार्मिक बन जाती । फिर नैतिक प्रेरणा ही हमारे अंदर न होती । किसीको भी भूख-प्यास अगर न लगती तो हमें अतिथि-सत्कारका मौका कैसे मिलता ? सामने यह खंभा खड़ा है । इसका हम क्या सत्कार करेंगे ? इसको न भूख है, न प्यास । हमें भूख लगती है, इसलिए हमारे पास धर्म है ।

लड़कोंसे परिश्रम लेना है तो शिक्षकको भी उनके साथ परिश्रम करना चाहिए । क्लासमें झाड़ू लगाना होता है, लेकिन इसके लिए या तो नौकर रखे जाते हैं या लड़के झाड़ू लगाते हैं । शिक्षकको हम कभी झाड़ू लगाते नहीं देखते । विद्यार्थी क्लासमें पहले आ गए तो वे झाड़ू लगा लें, कभी

शिक्षक पहले आया तो वह लगा ले, ऐसा होना चाहिए। लेकिन झाड़ू लगानेके कामको हमने नीचा मान लिया है! फिर शिक्षक भला वह कैसे करें? हम लड़कोंको झाड़ू लगानेका भी काम देंगे तो शिक्षककी दृष्टिसे। जो परिश्रम लड़कोंसे कराना है, वह शिक्षकको पहले सीख लेना चाहिए और लड़कोंके साथ करना चाहिए। मैंने एक झाड़ू तैयार की है। एक रोज दो-तीन लड़कियां वहां आई थीं। तब उनको मैंने वह दिखाई और उसमें कितनी बातें भरी हैं यह समझाया। समझानेके बाद जितनी बातें मैंने कहीं वे सब एक-दो-तीन करके उनसे दोहरवा लीं। लेकिन यह मैं तभी कर सका जब झाड़ू लगानेका काम मैं खुद कर चुका था। इस तरह हरेक चीज शिक्षणकी दृष्टिसे लड़कोंको सिखानी चाहिए। एक आदमीने मुझसे कहा, "गांधीजीने पीसना, कातना, जूते बनाना वगैरा काम खुद करके परिश्रमकी प्रतिष्ठा बढ़ा दी।" मैंने कहा, "मैं ऐसा नहीं मानता। परिश्रमकी प्रतिष्ठा किसी महात्माने नहीं बढ़ाई। परिश्रमकी निजकी ही प्रतिष्ठा इतनी है कि उसने महात्माको प्रतिष्ठा दी।" आज हिंदुस्तानमें गोपाल-कृष्णकी जो इतनी प्रतिष्ठा है वह उनके गोपालनने उन्हें दी है। उद्योग हमारा गुरुदेव है।

दुनियाकी हरेक चीज हमको शिक्षा देती है। एक दिन मैं धूपमें घूम रहा था। चारों तरफ बड़े-बड़े हरे वृक्ष दिखाई देते थे। मैं सोचने लगा कि ऊपरसे इतनी कड़ी धूप पड़ रही है, फिर भी ये वृक्ष हरे कैसे हैं? वे वृक्ष मेरे गुरु बन गये। मेरी समझमें आ गया कि जो वृक्ष ऊपरसे इतने हरे-भरे दीखते हैं उनकी जड़ें जमीनमें गहरी पहुंची हैं और वहांसे उन्हें पानी मिल रहा है। इस तरह अंदरसे पानी और ऊपरसे धूप, दोनोंकी कृपासे यह सुंदर हरा रंग उन्हें मिला है। इसी तरह हमें अंदरसे भक्तिका पानी और बाहरसे तपश्चर्याकी धूप मिले तो हम भी पेड़ोंके-जैसे हरे-भरे हो जायं। हम ज्ञानकी दृष्टिसे परिश्रमको नहीं देखते, इसलिए उसमें तकलीफ मालूम होती है। ऐसे लोगोंके लिए भगवान्‌का यह शाप है कि उनको आरोग्य और ज्ञान कभी मिलने ही वाला नहीं।

किताबें पढ़नेसे ज्ञान मिलता है, यह खयाल गलत है। पढ़ते-पढ़ते बुद्धि ऐसी हो जाती है कि जिस समय जो पढ़ते हैं वही ठीक लगता है। एक भाई

मुझसे कहते थे, "मैंने समाजवादकी किताब पढ़ी तो वे विचार ठीक जान पड़े। बादमें गांधी-सिद्धांतकी पुस्तक पढ़ी तो वे भी ठीक लगे।" मैंने विनोदमें उनसे कहा, "पहली किताब दो बजे पढ़ी होगी और दूसरी चार बजे। दो बजेके लिए पहली ठीक थी और चार बजके लिए दूसरी।" मेरे कहनेका मतलब यह है कि बहुत पढ़नेसे हमारा दिमाग स्वतंत्र विचार ही नहीं कर सकता। खुद विचार करनेकी शक्ति लुप्त हो जाती है। मेरी कुछ ऐसी राय है कि जबसे किताबें निकलीं तबसे स्वतंत्र विचार-पद्धति नष्ट हो गई है। कुरान शरीफमें एक संवाद आया है कि मुहम्मद साहबसे कुछ विद्वान् लोगोंने पूछा, "तुम्हारे पहले जितने पैगंबर आये उन सबने चमत्कार करके दिखाये। तुम तो कोई चमत्कार ही नहीं दिखाते, तो फिर पैगबंर कैसे बन गए ?" उन्होंने जवाब दिया, "आप कौन-सा चमत्कार चाहते हैं ? एक बीज बोया जाता है, उसमें से बड़ा-सा वृक्ष पैदा होता है, उसमें फूल लगते हैं और उनमेंसे फल पैदा हो जाते हैं। यह क्या चमत्कार नहीं है ?" यह तो एक जवाब हो गया। दूसरा जवाब उन्होंने यह दिया, "मुझ-जैसा अनपढ़ आदमी भी आप लोगोंको ज्ञान दे सकता है, यह क्या कम चमत्कार है ? आप और कौन-सा चमत्कार चाहते हैं ?" हमारे सामनेकी सृष्टि ज्ञानसे भरी है। हम उसकी तहतक नहीं पहुंचते, इसलिए उसमें जो आनंद भरा है, वह हमें नहीं मिलता।

रोटी बनानेका काम माता करती है। माताका हम गौरव करते हैं। लेकिन माताका असली माता-पन उस रसोईमें ही है। अच्छी-से-अच्छी रसोई बनाना, बच्चोंको प्रेमसे खिलाना—इसमें कितना ज्ञान और प्रेम-भावना भरी है ? रसोईका काम यदि माताके हाथोंसे ले लिया जाय तो उसका प्रेम-साधन ही चला जायगा। प्रेम-भाव प्रकट करनेका यह मौका कोई माता छोड़नेके लिए तैयार न होगी। उसीके सहारे तो वह जिंदा रहती है। मेरे कहनेका मतलब कोई यह न समझे कि किसी-न-किसी बहाने मैं स्त्रियोंपर रोटी पकानेका बोझ लादना चाहता हूं। मैं तो उनका बोझ हलका करना चाहता हूं। इसीलिए हमने आश्रममें रसोईका काम मुख्यत: पुरुषोंसे ही कराया है। मेरा मतलब इतना ही था कि जैसे रसोई-का काम माता छोड़ देगी तो उसका ज्ञान-साधन और प्रेम-साधन चला

जायगा, वैसे ही यदि हम परिश्रमसे घृणा करेंगे तो ज्ञान-साधन ही खो बैठेंगे ।

लोग मुझसे कहते हैं, "तुम लड़कोंसे मजदूरी कराना चाहते हो । उनके दिन तो गुलाबके फूल-जैसे खिलने और खेलने-कूदनेके हैं ।" मैं कहता हूं बिल्कुल ठीक । लकिन वह गुलाबका फूल किस तरह खिलता है, यह भी तो जरा देखो । वह पूर्ण रूपसे स्वावलंबी है । जमीनसे सब तत्त्व चूस लेता है । खुली हवामें अकेला खड़ा होकर धूप, बारिश, बादल सब सहन करता है । बच्चोंको भी वैसा ही रखो । मैं यह पसंद करता हूं । उनसे पूछकर ही देखो कि फूलको पानी देनेमे, चंद्रकलाको घटती-बढ़ती देखनेमें आनंद आता है, या किताबोंमें और व्याकरणके नियम घोटते रहनेमें ? सुरगांव (वर्धा) का एक उदाहरण मुझे मालूम है । वहां एक प्राथमिक पाठशाला है । करीब ७ से ११ सालके लड़के उसमें पढ़ते हैं । गांववालोंकी राय है कि वहांका शिक्षक अच्छा पढ़ाता है । परीक्षाके एक या दो महीने बाकी थे, तब उसने सुबह ७ से १०।। तक और दोपहरमें २ से ५।। तक,और रातको फिर ७ से ६ बजे तक——यानी कुल नौ घंटे पढ़ाना शुरू किया । न मालूम इतने घंटे वह क्या पढ़ाता होगा और विद्यार्थी भी क्या पढ़ते होंगे ! अगर लड़के पास हो गये तो हम समझते हैं कि शिक्षकने ठीक पढ़ाया है । इस तरह ६-६ घंटे पढ़ाई करानेवाला शिक्षक लोक-प्रिय हो सकता है । लेकिन मैं तीन घंटे कातनेकी बात कहूं तो कहते हैं, "यह लड़कोंको हैरान करना चाहता है ।" ठीक ही है । जहां बड़े कामसे बचनेकी फिक्रमें हों वहां लड़कोंको काम देनेकी बात भला कौन सोचे ?

फिर लोग यह पूछते हैं कि, "उद्योग इष्ट है, यह तो मान लिया । लेकिन उससे इतना उत्पादन होना ही चाहिए, यह आग्रह क्यों ?" मेरा जवाब यह है, "लड़कोंको तो जब कोई चीज बनती है तभी आनंद आता है । बेचारे मेहनत भी करें और उससे कुछ पैदा न हो, तो क्या इसमें उन्हें आनंद आ सकता है ? किसीसे अगर कहा जाय कि 'चक्की तो पीसो, लंकिन उसमें गेहूं न डालो और आटा भी तैयार न होने दो', तो वह पूछेगा कि फिर यह नाहक चक्की घुमानेका मतलब ? तो क्या हम यह कहेंगे कि भुजाएं और छाती मजबूत बनानेके लिए ? ऐसे उद्योगमें क्या कुछ आनंद आ

सकता है। वह तो बेकारकी मेहनत हो जायगी। अतः उत्पादनमें ही आनंद है।

इसलिए मुख्य दृष्टि यह है कि शरीर-श्रमकी महिमाको हम समझें। प्राइमरी स्कूलोंमें हम उद्योगके आधारपर शिक्षण न देंगे तो शिक्षाको अनिवार्य न कर सकेंगे।

आज गांववाले कहते हैं कि "लड़का स्कूलमें पढ़ने जाता है तो उसमें कामके प्रति घृणा पैदा हो जाती है और हमारे लिए वह निकम्मा हो जाता है। फिर उसे स्कूल क्यों भेजें ?" लेकिन हमारी पाठशालाओंमें अगर उद्योग शुरू हो गया तो मां-बाप खुशीसे अपने लड़केको स्कूल भेजेंगे। लड़का क्या पढ़ता है, यह भी देखने आयंगे। आज तो लड़केकी क्या पढ़ाई हो रही है, यह देखनेके लिए भी मां-बाप नहीं आते। उनको उसमें रस नहीं मिलता। उद्योगके पढ़ाईमें दाखिल हो जानेके बाद इसमें फर्क पड़ेगा। गांववालोंके पास काफी ज्ञान है। हमारा शिक्षक सर्वज्ञ तो नहीं हो सकता। वह गांववालोंके पास जायगा और अपनी कठिनाइयां उनको बतायेगा। स्कूलके बगीचेमें अच्छे पपीते नहीं लगते तो वह उसका कारण गांववालोंसे पूछेगा। फिर वे बतायंगे कि इस-इस किस्मकी खाद डालो, खाद खराब होनेसे पपीतेमें कीड़े लग जाते हैं। हम समझते हैं कि कृषि-कालेजमें पढ़े हुए हैं, इसलिए हमारे ही पास ज्ञान है। लेकिन हमारा ज्ञान किताबी होता है। हम उसे व्यवहारमें नहीं लाते। जबतक हम प्रत्यक्ष उद्योग नहीं करते तबतक उसमें प्रगति और वृद्धि नहीं होती। अगर हम गांववालोंका सहयोग चाहते हैं, उनके ज्ञानसे अगर हमें लाभ उठाना है, तो स्कूलमें उद्योग शुरू करना चाहिए। हमारे और उनके सहयोगसे उस ज्ञानमें सुधार भी होगा।

यह सब तब होगा जब हमारे शिक्षकोंमें प्रेम, आनंद और श्रमके प्रति आदर उत्पन्न होगा। हमारी नई शिक्षा-प्रणाली इसी आधारपर बनाई गई है।

: ७ :

ब्रह्मचर्यका अर्थ

यों तो हर धर्ममें मनुष्य-समाजके लिए कल्याणकारी बातें पाई जाती हैं। इस्लाम धर्ममें ईश्वर-भजन है। 'इस्लाम' शब्दका अर्थ ही 'भगवान्‌का भजन' है। अहिंसा भी ईसाई धर्ममें पाई जाती है। हिंदू ऋषि-मुनियोंने परीक्षा करके जो तत्त्व निकाले हैं वे दूसरे धर्मों में पाये जाते हैं। लेकिन हिंदूधर्मने विशिष्ट आचारके लिए एक ऐसा शब्द बनाया है जो दूसरे धर्मोंमें नहीं देख पड़ता। वह है 'ब्रह्मचर्य'। ब्रह्मचर्याश्रमकी व्यवस्था हिंदू-धर्मकी विशेषता है। अंग्रेजीमें ब्रह्मचर्यके लिए शब्द ही नहीं है। लेकिन उस भाषामें शब्द नहीं है इसका मतलब यह नहीं कि उन लोगोंमें कोई संयमी हुआ ही नहीं। ईसामसीह खुद ब्रह्मचारी थे। वैसे अच्छे-अच्छे लोग संयमी जीवन बिताते हैं। लेकिन ब्रह्मचर्याश्रमकी वह कल्पना उन धर्मोंमें नहीं है जो हिंदू-धर्ममें पाई जाती है। ब्रह्मचर्याश्रमका हेतु यह है कि मनुष्य के जीवनको आरंभमें अच्छी खाद मिले। जैसे वृक्षको, जब वह छोटा होता है तब खादकी अधिक आवश्यकता रहती है। बड़ा हो जानेके बाद खाद देनेसे जितना लाभ है, उससे अधिक लाभ जब वह छोटा रहता है तब देनेसे होता है। यही मनुष्य-जीवनका हाल है। यह खाद अगर अंततक मिलती रहे तो अच्छा ही है, लेकिन कम-से-कम जीवनके आरंभ-कालमें तो वह बहुत आवश्यक है। हम बच्चोंको दूध देते हैं। उसे वह अंत तक मिलता रहे तो अच्छा ही है; लेकिन अगर नहीं मिलता तो कम-से-कम बचपनमें तो मिलना ही चाहिए। शरीरकी तरह आत्मा और बुद्धिको भी जीवनके आरंभ-कालमें अच्छी खुराक मिलनी चाहिए। इसीलिए ब्रह्मचर्याश्रमकी कल्पना है। ऋषि लोग जिस चीजका स्वाद जीवनभर लेते थे उसका थोड़ा-सा अनुभव अपने बच्चोंको भी मिले, इस दयादृष्टिसे उन्होंने ब्रह्मचर्याश्रमकी स्थापना की।

अनुभवसे मैं इस निर्णयपर आया हूं कि आजीवन पवित्र जीवन बितानेकी दृष्टिसे कोई ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहे तो ब्रह्मचर्यकी अभावात्मक विधि उसके लिए उपयोगी नहीं होती। 'दाउ शैल्ट नॉट स्टील' आज मेरे

काम नहीं आयेगा । 'सत्यं वद' इस तरहकी 'पॉजिटिव' यानी भावात्मक आज्ञा ब्रह्मचर्यके काममें आती है । विषय-वासना मत रखो, यह ब्रह्मचर्यका 'निगेटिव' याने अभावात्मक रूप हुआ । सब इंद्रियोंकी शक्ति आत्माकी सेवामें खर्च करो, यह उसका भावात्मक रूप है । 'ब्रह्म' यानी कोई बृहत् कल्पना । अगर मैं चाहता हूं कि इस छोटी-सी देहके सहारे दुनियाकी सेवा करूं, उसके ही काममें अपनी सब शक्ति खर्च करूं, तो यह एक विशाल कल्पना हुई । विशाल कल्पना रखते हुए ब्रह्मचर्यका पालन आसान हो जाता है । 'ब्रह्म' शब्दसे डरिये नहीं । मान लीजिए, एक आदमी अपने बच्चेकी सेवा करता है और मानता है कि यह बच्चा परमात्मा-स्वरूप है, इसकी सेवामें सबकुछ अर्पण कर दूंगा, और तुलसीदासजी जैसे रघुनाथजीको 'जागिये रघुनाथ कुंवर' कहकर जगाते थे वैसे ही वह उस लड़केको जगाता है, तो उस लड़केकी भक्तिसे भी वह आदमी ब्रह्मचर्य पालन कर सकता है । मेरे एक मित्र थे । उन्हें बीड़ी पीनेकी आदत थी । सौभाग्यसे उनके एक लड़का हुआ । तब उनके मनमें विचार आया कि मुझे बीड़ीका व्यसन लगा है, इससे मेरा जो बिगड़ा सो बिगड़ा, लेकिन अब मेरा लड़का तो उससे बच जाय । मेरा उदाहरण लड़केके लिए ठीक न होगा । उदाहरण उपस्थित करनेके लिए तो मुझे बीड़ी छोड़ ही देनी चाहिए । और तबसे उनकी बीड़ी छूट गई । यही कल्पना थोड़ी-सी आगे बढ़कर देशसेवाकी कल्पना उनके मनमें आती तो वे संपूर्ण ब्रह्मचर्यका असानीसे पालन कर सकते । देशकी सेवा कोई ब्रह्मभावसे करता है तो वह ब्रह्मचारी है । उसमें उसे कष्ट जरूर उठाने पड़ेंगे, लेकिन वे सब कष्ट उसे बहुत कम मालूम होंगे । माता अपने बच्चेकी सेवा रात-दिन करती है । जब उसके पास कोई सेवाकी रिपोर्ट मांगने जायगा तो वह क्या रिपोर्ट देगी ? माता इतनी सेवा करती है कि उसकी वह रिपोर्ट ही नहीं दे सकती । वह अपनी रिपोर्ट इस वाक्यमें दे देगी—"मैंने तो लड़केकी कुछ भी सेवा नहीं की ।" भला माताकी रिपोर्ट इतनी छोटी क्यों ? इसका कारण है । माताके हृदयमें बच्चे के प्रति जो प्रेम है उसके मुकाबले उसकी कुछ भी सेवा नहीं हुई है, ऐसा उसे लगता है । सेवा करनेमें उसे कष्ट कुछ कम नहीं सहने पड़े हैं; लेकिन वे कष्ट उसे कष्ट मालूम नहीं हुए । इसलिए हम अपने सामने कोई बृहत्

कल्पना रखेंगे तो मालूम होगा कि अभीतक तो हमने कुछ भी नहीं किया । इंद्रियोंका निग्रह करना, यही एक वाक्य हमारे सामने हो तो हम गिनती करने लग जायंगे कि इतने दिन हुए और अभी तक कुछ फल नहीं दिखाई देता । लेकिन किसी बृहत् कल्पनाके लिए हम इंद्रिय-निग्रह करते हैं तो 'यह हम करते हैं', ऐसा 'कर्तरि प्रयोग' नहीं रहता । 'निग्रह किया जाता है' ऐसा 'कर्मणि प्रयोग' हो जाता है, या यों कहिए कि निग्रह ही हमें करना है । भीष्म पितामहके सामने एक कल्पना आ गई कि पिताके संतोषके लिए मुझे संयम करना है । बस, पिता का संतोष ही उनका ब्रह्म हो गया और उससे वह आदर्श ब्रह्मचारी बन गये । ऐसे ब्रह्मचारी पाश्चात्योंमें भी हुए हैं । एक वैज्ञानिककी बात कहते हैं कि वह रात-दिन प्रयोगमें मग्न रहता था । उसकी एक बहन थी । भाई प्रयोगमें लगा रहता है और उसकी सेवा करनेके लिए कोई नहीं है, यह देखकर वह ब्रह्मचारिणी रहकर भाईके ही पास रही और उसकी सेवा करती रही । उस बहनके लिए 'बंधु-सेवा' ब्रह्मकी सेवा हो गई । देहके बाहर जाकर कोई भी कल्पना ढूंढ़िए । अगर किसीने हिंदुस्तानके गरीब लोगोंको भोजन देनेकी कल्पना अपने सामने रखी तो इसके लिए वह अपनी देह समर्पण कर देगा । वह मान लेगा कि मेरा कुछ भी नहीं है, जो कुछ है वह गरीब जनताका है । 'जनताकी सेवा' उसका ब्रह्म हो गई । उसके लिए जो आचार वह करेगा वही ब्रह्मचर्य है । हरेक काममें उसे गरीबोंका ही ध्यान रहेगा । वह दूध पीता होगा तो उसे पीते वक्त उसके मनमें विचार आ जायगा कि मैं तो निर्बल हूं, इसलिए मुझे दूध पीना पड़ता है, पर गरीबोंको दूध कहां मिलता है ? लेकिन मुझे उनकी सेवा करनी है, यह सोचकर वह दूध पियेगा । मगर इसके बाद फौरन ही वह गरीबोंकी सेवा करनेके लिए दौड़ जायगा । बस, यही ब्रह्मचर्य है । अध्ययन करनेमें अगर हम मग्न हो जायं तो उस दशा में विषय-वासना कहांसे रहेगी ? मेरी माता काम करते-करते भजन गाया करती थी । रसोईमें कभी-कभी नमक भूलसे दुबारा पड़ जाता था । लेकिन चित्तमें मैं इतना मग्न रहता था कि मुझे उसका पता ही न चलता था । वेदाध्ययन करते समय मैंने अनुभव किया कि देह मानो है ही नहीं, कोई लाश पड़ी है, ऐसी भावना उस समय हो जाती थी । इसीलिए ऋषियोंने कहा है कि 'बचपनसे वेदाध्ययन करो ।'

मैंने अध्ययनके लिए ब्रह्मचर्य रखा । उसके बाद देशकी सेवा करता रहा । वहां भी इंद्रिय-निग्रहकी आवश्यकता थी । लेकिन बचपनमें इंद्रिय-निग्रहका अभ्यास हो गया था, इसलिए बादमें मुझे वह कठिन नहीं मालूम हुआ । मैं यह नहीं कहता कि ब्रह्मचर्य आसान चीज है । हां, विशाल कल्पना मनमें रखेंगे तो आसान है । ऊंचा आदर्श सामने रखना और उसके लिए संयमी जीवनका आचरण, इसको मैं ब्रह्मचर्य कहता हूं ।

यह हुई एक बात । अब एक दूसरी बात और है । किसी एक विषयका संयम और बाकीके विषयोंका भोग, यह ब्रह्मचर्य नहीं है । कल मैंने देवशर्मा-जीकी 'तरंगित हृदय' नाम की पुस्तक देखी । उसमें 'जरा-सा' के विषयपर कुछ लिखा था । पुस्तक मुझे अच्छी लगी । 'इतना थोड़ा-सा करनेसे क्या होता है', ऐसा मत सोचो । बोलनेमें, रहन-सहनमें हरेक बातमें संयमकी आवश्यकता है । मिट्टीके बर्तनमें थोड़ा-सा छिद्र हो तो क्या हम उसमें पानी भरेंगे ? एक भी छिद्र घड़ेमें है तो वह पानी भरनेके लिए बेकार ही है । ठीक उसी तरह जीवनका हाल है । जीवनमें एक भी छिद्र नहीं रखना चाहिए । चाहे जैसा जीवन बिताते हुए ब्रह्मचर्यका पालन करेंगे, यह मिथ्या आकांक्षा है । बातचीत, भोजन, स्वाध्याय वगैरा सभी बातोंमें संयम रखना चाहिए ।

: ८ :

साक्षर या सार्थक ?

किसी आदमीके घरमें यदि बहुत-सी शीशियां भरी रखी हों तो बहुत करके वह मनुष्य रोगी होगा, ऐसा हम अनुमान करते हैं । पर किसीके घरमें बहुत-सी पोथियां पड़ी देखें तो हम उसे सयाना समझेंगे । यह अन्याय नहीं है क्या ? आरोग्यका पहला नियम है कि अनिवार्य हुए बिना शीशीका व्यव-हार न करो । वैसे ही जहांतक संभव हो, पोथीमें आंख न गड़ाना या कहिये आंखोंमें पोथी न गड़ाना, यह सयानेपनकी पहली धारा है । शीशीको हम

रोगी शरीरका चिह्न मानते हैं। पोथी को भी—फिर वह सांसारिक पोथी हो चाहे पारमार्थिक पोथी हो—रोगी मनका चिह्न मानना चाहिए।

सदियां बीत गई, जिनके सयानेपनकी सुगंध आज भी दुनियामें फैली हुई है, उन लोगोंका ध्यान जीवनको साक्षर करनेके बजाय सार्थक करनेकी ओर ही था। साक्षर जीवन निरर्थक हो सकता है, इसके उदाहरण वर्तमान सुशिक्षित समाजमें बिना ढूंढ़े मिल जायंगे। इसके विपरीत निरक्षर जीवन भी सार्थक हो सकता है, इसके अनेक उदाहरण इतिहासने देखे हैं। बहुत बार 'सु'-शिक्षित और 'अ'-शिक्षितके जीवनकी तुलना करनेसे 'अक्षराणा-मकारोऽस्मि' गीताके इस वचनमें कहे अनुसार 'सु'के बजाय 'अ' ही पसंद करने लायक जान पड़ता है।

पुस्तकमें अक्षर होते हैं। इसलिए पुस्तककी संगतिसे जीवनको निरर्थक करनेकी आशा रखना व्यर्थ है। "बातोंकी कढ़ी और बातोंका ही भात खाकर पेट भरा है किसीका ?" यह सवाल मार्मिक है। कविके कथानुसार पोथीका कुआं डुबाता भी नहीं और पोथीकी नैया तारती भी नहीं। 'अश्व' माने 'घोड़ा' यह कोशमें लिखा है। बच्चे सोचते हैं 'अश्व' शब्दका अर्थ कोशमें लिखा है, पर यह सही नहीं है। 'अश्व' शब्दका अर्थ कोशके बाहर तबेलेमें बंधा खड़ा है। उसका कोशमें समाना संभव नहीं। 'अश्व' माने 'घोड़ा' वह कोशका वाक्य इतना ही बतलाता है कि 'अश्व शब्दका वही अर्थ है जो घोड़ा शब्दका है।' वह है क्या सो तबेलेमें जाकर देखो। कोशमें सिर्फ पर्याय शब्द दिया रहता है। पुस्तकमें अर्थ नहीं रहता। अर्थ सृष्टिमें रहता है। जब यह बात अक्लमें आयेगी तभी सच्चे ज्ञानकी चाट लगेगी।

जिसने जपकी कल्पना ढूंढ़ निकाली उसका एक उद्देश्य था—साक्षरत्व-को संक्षिप्त रूप देना। 'साक्षरत्व बिल्कुल भूंकने ही लगा है, यह देखकर 'उसके मुंहपर जपका टुकड़ा फेंक दिया जाय' तो बेचारेका भूंकना बंद हो जायगा और जीवन सार्थक करनेके प्रयत्नको अवकाश मिल जायगा, यह उसका भीतरी भाव है। वाल्मीकिने शतकोटि रामायण लिखी; उसे लूटने-के लिए देव, दानव और मानवके बीच झगड़ा शुरू हुआ। झगड़ा मिटता न

देखकर शंकरजी पंच चुने गये। उन्होंने तीनोंको तैंतीस-तैंतीस करोड़ श्लोक बांट दिये। एक करोड़ बचे। यों उत्तरोत्तर बांटते-बांटते अंतमें एक श्लोक बच रहा। रामायणके श्लोक अनुष्टुप् छंदके हैं। अनुष्टुप छंदके अक्षर होते हैं बत्तीस। शंकरजीने उनमेंसे दस-दस अक्षर तीनोंको बांट दिये। बाकी रहे दो अक्षर। वे कौन-से थे? 'रा-म'। शंकरजीने वे दोनों अक्षर बंटवारेकी मजदूरीके नामपर खुद ले लिये। शंकरजीने अपना साक्षरत्व दो अक्षरोंमें खत्म कर दिया, तभी तो देव, दानव और मानव कोई भी उनके ज्ञानकी बराबरी न कर सका। संतोंने भी साहित्यका सारा सार राम-नाममें ला रखा है। पर 'अभाग्या नरा पामरा हे कलेना'—'इस अभागे पामर नरको यह नहीं सूझता!'

संतोंने रामायणको दो अक्षरों में समाप्त किया। ऋषियोंने वेदोंको एक ही अक्षर में समेट रखा है। साक्षर होने की हवस नहीं छूटती तो 'ॐ' कारका जप करो, बस। इतनेसे काम न चले तो नन्हा-सा मांडूक्य उपनिषद् पढ़ो। फिर भी वासना रह जाय तो दशोपनिषद् देखो। इस मतलबका एक वाक्य मुक्तिकोपनिषद्में आया है। उससे ऋषिका इरादा साफ जाहिर होता है। पर ऋषिका यह कहना नहीं है कि एक अक्षरका भी जप करना ही चाहिए। एक या अनेक अक्षर रटनेमें जीवनकी सार्थकता नहीं है। वेदोंके अक्षर पोथीमें मिलते हैं, अर्थ जीवन में खोजना है। तुकारामका कहना है कि उन्हें संस्कृत सीखे बिना ही वेदोंका अर्थ आ गया था। इस कथनको आजतक किसीने अस्वीकार नहीं किया। शंकराचार्यने आठवें वर्षमें वेदाभ्यास पूरा कर लिया, इससे किसी शिष्यने आश्चर्यचकित होकर किसी गुरुसे पूछा, "महाराज, आठ वर्षकी उम्र में आचार्यने वेदाभ्यास कैसे पूरा कर लिया?" गुरुने गंभीरतासे उत्तर दिया, "आचार्यकी बुद्धि बचपनमें उतनी तीव्र नहीं रही होगी, इसीसे उन्हें आठ वर्ष लगे।"

एक आदमी दवा खाते-खाते ऊब गया, क्योंकि 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की।' अंतमें किसीकी सलाहसे उसने खेतमें काम करना शुरू किया। उससे नीरोग होकर थोड़े ही दिनोंमें हृष्ट-पुष्ट हो गया। अनुभवसे सिद्ध हुई यह आरोग्य-साधना वह लोगोंको बतलाने लगा।

किसीके हाथमें शीशी देखी कि बड़े मनोभावसे सीख देता, "शीशीसे कुछ होने जानेका नहीं, हाथमें कुदाल लो तो चंगे हो जाओगे।" लोग कहते हैं, "तुम तो शीशियां पी-पीकर तृप्त हुए बैठे हो और हमें मना करते हो।" दुनियाका ऐसा ही हाल है। दूसरेके अनुभवसे सयानापन सीखनेकी मनुष्यकी इच्छा नहीं होती। उसे स्वतंत्र अनुभव चाहिए, स्वतंत्र ठोकर चाहिए। मैं हितकी बात कहता हूं कि "पोथियोंसे कुछ फायदा नहीं है। फिजूल पोथियों-में न उलझो" तो वह कहता है, "हां, तुम तो पोथियां पढ़ चुके हो और मुझे ऐसा उपदेश देते हो!" "हां, मैं पोथियां पढ़ चुका, पर तुम न चूको इसलिए कहता हूं।" वह कहता है, "मुझे अनुभव चाहिए"—"ठीक है। लो अनुभव। ठोकर खानेका स्वातंत्र्य तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है।" इतिहासके अनुभवसे हम सबक नहीं लेते। इसीसे इतिहासकी पुनरावृत्ति होती है। हम इतिहासकी कद्र करें तो इतिहाससे आगे बढ़ जायं। इतिहास-की कीमत न लगानेसे उसकी कीमत नाहक बढ़ गई है; पर जब इस ओर ध्यान जाय तब न!

: ९ :

निवृत्त-शिक्षण

फ्रांसकी राज्यक्रांतिके इतिहासमें रूसो और वाल्टेयर नामक ग्रंथकारों के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। इन ग्रंथकारोंकी भाषा, विचारशैली तथा लेखन-पद्धति तेजस्वी, जीवंत और क्रांतिकारक है। लोगोंमें जितनी धाक इनकी लेखनी की थी, उतनी बड़े-बड़े बलवान राजाओंके शस्त्रबलकी भी नहीं थी। फ्रांसकी राज्यक्रांति इनके लेखकोंका मूर्ध, परिणाम थी। इन दोनों लेखकोंमें-से रूसो विशेष भावना प्रधान था। लेख लिखनेके लिए उसने कभी भाषा-शास्त्रका अध्ययन नहीं किया था। उसके विचार उसके हृदयमें समाते नहीं थे, बाहर निकलनेके लिए छटपटाते और धक्के देते थे। ज्वालामुखी पर्वतके जलते हुए रसकी भांति, बल्कि उससे भी बढ़कर, दाहक होते थे

और उसकी इच्छाके विरुद्ध—'अनिच्छन्नपि'—बाहर निकलते थे। उसके लेखों द्वारा उसका हृदय बोलता था। और इसीलिए उसके लेख चाहे बौद्धिक या तार्किक कसौटीपर भले ही खरे न उतरें, तो भी परिणामतः वे धधकती आगके समान होते थे, यह इतिहासको भी मानना पड़ा है। 'मृतजीवनकी अपेक्षा जीवित मृत्यु श्रेयस्कर है'—उसके लेखोंका यही एक सूत्र था। ऐसे प्रभावशाली, प्रतिभावान लेखकके शिक्षण-विषयक मतोंका मननपूर्वक विचार करना हमारा कर्तव्य है।

रूसोके मतानुसार शिक्षणके तीन विभाग करने चाहिए—(१) निसर्ग-शिक्षण, (२) व्यक्ति-शिक्षण और (३) व्यवहार-शिक्षण।

शरीरके प्रत्येक अवयवका संपूर्ण और व्यवस्थित विकास होना, इंद्रियोंका चपल, फुर्तीली, कार्यपटु बनना, विभिन्न मनोवृत्तियोंका सर्वांगीण विकास होना; स्मृति, प्रज्ञा, मेधा, धृति, तर्क इत्यादि बौद्धिक शक्तियोंका प्रगल्भ और प्रखर बनना—इन सबका समावेश उसके मतसे निसर्ग-शिक्षणमें होता है। दूसरे शब्दोंमें, मनुष्यकी भीतरी शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक वृद्धि आत्मविकास—निसर्ग-शिक्षण है। मनुष्यको बाह्य परिस्थितिमेंसे जो ज्ञान प्राप्त होता है, व्यवहारमें जो अनुभव होता है, उस सब पदार्थ-विज्ञानको या भौतिक जानकारीको उसने व्यवहार-शिक्षण नाम दिया है। और निसर्ग-शिक्षणसे होनेवाले आत्मविकासका ज्ञानकी दृष्टि से बाह्य जगत्में कैसे उपयोग किया जाय, इस संबंधमें दूसरे मनुष्योंके प्रयत्नसे जो वाचिक, सांप्रदायिक अथवा शालीन (पाठशालामें मिलनेवाला) शिक्षण मिलता है, उसे उसने व्यक्ति-शिक्षण संज्ञा दी है। अर्थात् व्यक्ति-शिक्षण उसकी दृष्टिसे व्यवहार-शिक्षण और निसर्ग-शिक्षणको जोड़नेवाली संधि है। वस्तुतः यह बात कोई विशेष महत्व नहीं रखती कि रूसोने शिक्षणके कितने विभाग किये हैं। अमुक विषयके अमुक विभाग करने चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है। यह सब सुविधाका सवाल है। इसलिए दृष्टि-भेदके कारण वर्गीकरणमें अंतर होना स्वाभाविक है। रूसोके किये हुए तीन विभाग तो आवश्यक ही हैं, ऐसी कोई बात नहीं है; क्योंकि ऐसा कहा जा सकता है कि मनुष्यको क्या व्यक्ति-शिक्षण और क्या व्यवहार-शिक्षण बाहरसे मिलता है। केवल निसर्ग-शिक्षण ही भीतरसे मिलता है। इस

दृष्टिसे, अगर हम अंत:शिक्षण और बाह्य शिक्षण, ये दो ही विभाग करें तो क्या हर्ज है ?

परंतु इससे भी आगे बढ़कर यह भी कहा जा सकता है कि बाह्यशिक्षण केवल अभावात्मक क्रिया है और अंत:शिक्षण ही भावरूप है। इसलिए शिक्षणका वही एकमात्र यथार्थ अथवा वास्तविक विभाग है। हमने जिसे 'बाह्य-शिक्षण' कहा है, वह केवल मनुष्योंसे अथवा पाठशालामें ही नहीं मिलता। वह शिक्षण इस अनंत विश्वके प्रत्येक पदार्थसे निरंतर मिलता ही रहता है। उसमें कभी विराम नहीं होता। जैसाकि शेक्सपीयरने कहा है, "बहते हुए झरनोंमें प्रासादिक ग्रंथ संचित हैं, पत्थरोंमें दर्शन छिपे हुए हैं और यच्चयावत् पदार्थोंमें शिक्षाके सारे तत्त्व सन्निहित हैं।" वृक्ष, वनस्पति, फूल, नदियां, पर्वत, आकाश, तारे—सभी मनुष्यको अपने-अपने ढंगसे शिक्षा देते हैं। नैयायिकोंके अणुसे लेकर सांख्योंके महत्त्वतक, भूमिति (रेखागणित) के बिंदुसे लेकर भूगोलक सिंधुतक, या छुटपनकी भाषामें कहें, तो 'रामजी चोटीसे लेकर तुलसीके मूल'तक सारे छोटे-बड़े पदार्थ मनुष्यके गुरु हैं। विचक्षण विज्ञान-वेत्ताओंके दूर-चक्षु (दूरबीन) से, व्यवहार-विशारदोंके चर्मचक्षुसे, कल्पनाकुशल कवियोंके दिव्य-चक्षुसे या तार्किक तत्त्व-वेत्ताओंके ज्ञान-चक्षुसे, जो-जो पदार्थ दृष्टिगोचर होते होंगे—अथवा न भी होते होंगे—उनसब पदार्थोंसे हमें नित्यपाठ मिल रहे हैं। सृष्टि-परमेश्वर द्वारा हमारे अध्ययनके लिए हमारे सामने खोलकर रखा हुआ एक शाश्वत, दिव्य, आश्चर्यमय, परम पवित्र ग्रंथ है। उसके सामने वेद व्यर्थ है, कुरान बेकार है, बाइबिल निर्बल है। लेकिन यह ग्रंथ-गंगा चा कितनी ही गंभीर क्यों न हो, मनुष्य तो अपने लोटेसे ही उसका पानी लेगा। इसलिए इस विश्वमेंसे 'बाह्यत:' हमें वही और उतना ही शिक्षण मिलेगा, जिसके या जितनेके बीज हमारे 'अंदर' होंगे। इसका अनुभव हरेकको है। हम इतने विषय सीखते हैं, इतने ग्रंथ पढ़ते हैं, इतने विचार सुनते हैं, इतनी चीजें देखते हैं, उनमेंसे कितनी हमें याद रहती हैं ? सारांश बाह्य जगत् से हम जो कुछ सीखते हैं, वह सब भुला देते हैं। उसकी जगह केवल संस्कार बाकी रह जाते हैं। बल्कि शिक्षणका अर्थ जानकारी नष्ट होनेपर बचे हुए संस्कार ही हैं। इसका कारण ऊपर दर्शाया गया है। जो हमारे

'अंदर' नहीं है, वह बाहरसे आना असंभव है। बाह्य शिक्षण कोई स्वतंत्र या तात्त्विक पदार्थ नहीं है। वह केवल एक अभावात्मक क्रिया है।

अब ऐसे प्रसंगमें हमेशा एक दुहेरी समस्या पेश होती है। यदि बाह्य शिक्षणको मिथ्या मानें, तो संस्कार बननेके लिए किसी-न-किसी बाह्य-निमित्त या आलंबन अथवा आधारकी आवश्यकता होती ही है। इसके विपरीत अगर बाह्य शिक्षणको सत्य या भाव-रूपमें मानें, तो ऊपर कहे अनुसार उसका अंतर-विकासके अनुकूल अंश ही, और वह भी संस्कार-रूपमें, शेष रहता है। अर्थात् उभय पक्षमें विप्रतिपत्ति (डाईलेमा) उपस्थित होती है। ऐसी अवस्थामें इन दोनों शिक्षणोंका परस्पर संबंध क्या माना जाय? परंतु यह विवाद नया नहीं है। इसलिए उसका निर्णय भी नया नहीं है। सभी शास्त्रोंमें इस प्रकारके विवाद उपस्थित होते हैं और सर्वत्र उनका एक ही निर्णय होता है। उदाहरणके लिए, यह वेदांती विवाद कि 'सुखका बाह्य पदार्थोंसे क्या संबंध है', लीजिए। वहां भी वही गुत्थी है। अगर आप कहें कि बाह्य पदार्थोंसे सुख है, तो उनसे सर्वदा सुख ही मिलना चाहिए; लेकिन ऐसा होता नहीं है। यदि मनःस्थिति बिगड़ी हुई हो, तो दूसरे अवसरों पर सुखकारक प्रतीत होनेवाले पदार्थ भी सुख नहीं दे सकते। इसके विपरीत यदि कहें कि बाह्य पदार्थोंमें सुख नहीं है, सुख एक मानसिक भावना है, तो ऐसा भी अनुभव सदा नहीं होता। जैसाकि शेक्सपीयरने कहा है, 'इच्छा ही घोड़ा बन सकती, तो प्रत्येक मनुष्य घुड़सवार हो जाता।' लेकिन ऐसा हो नहीं सकता, यह निष्ठुर सत्य है। तब इन समस्याका समाधान कैसे हो?

इसी तरहका दूसरा दृष्टांत न्याय-शास्त्रसे लीजिए। प्रश्न यह है कि 'मिट्टीका मटकेसे क्या संबंध है'? अगर आप कहें कि मिट्टी ही मटका है, तो मिट्टीसे पानी भरकर दिखाइए। मिट्टी अलग और मटका अलग कहें तो हमारी मिट्टी हमें दे दीजिए, अपना घड़ा लेते जाइए। ऐसी हालतमें इन दोनोंका क्या संबंध माना जाय? यदि हम शुद्ध हिंदी में कहें कि हम बतला नहीं सकते कि इस संबंधका क्या स्वरूप है, तो हमारा अज्ञान दीखता है। इसलिए इस संबंधको 'अनिर्वचनीय संबंध' यह भव्य और प्रशस्त संस्कृत नाम दिया गया है।

परंतु इस संबंधके अनिर्वचनीय होते हुए भी एक पक्ष में जिस प्रकार 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' 'मिट्टी तात्त्विक और मटका मिथ्या'—ऐसा तारतम्यसे निश्चय किया जा सकता है, उसी प्रकार दूसरे पक्षमें अंत:-शिक्षण भावरूप और बाह्य शिक्षण अभावरूप कार्य है, ऐसा कहा जा सकता है।

किंतु ऐसा कहते ही एक दूसरा ही मूलोत्पाटी प्रश्न उपस्थित होता है। हमने शिक्षाके दो विभाग किये हैं। उनमेंसे अंत:-शिक्षण अथवा आत्म-विकास भावरूप होते हुए भी वह हरेक व्यक्तिके अंदर-ही-अंदर होता रहता है। उसके लिए हम कुछ भी कर नहीं सकते। उसका कोई पाठयक्रम नहीं बनाया जा सकता। और यदि बनाया भी जाय, तो उसपर अमल नहीं किया जा सकता। बाह्यशिक्षण सामान्यत: और व्यक्ति-शिक्षण विशेषत: अभावरूप करार दिया गया है। "ऐसी अवस्थामें 'न हि शशक-विषाणां कोऽपि कस्मै ददाति' इस न्यायके अनुसार शिक्षण-विषयक आंदोलन हमारी मूर्खताके प्रदर्शन ही हैं क्या ?" यह कह देना आवश्यक है कि यह आक्षेप आपातत: जैसे लाजवाब या मुंहतोड़ मालूम होता है, वस्तुत: वैसा नहीं है। कारण, जब हम यह कहते हैं कि बाह्य-शिक्षण अभावात्मक कार्य (निगेटिव फंक्शन) है, तब हम यह तो नहीं कहते कि वह 'कार्य' ही नहीं है। वह कार्य है, वह उपयोगी कार्य है, परंतु वह अभावात्मक कार्य है, इतना ही हमें कहना होता है। निवेदन इतना ही है कि शिक्षणका कार्य कोई स्वतंत्र तत्त्व उत्पन्न करना नहीं है। सुप्त तत्त्वको जाग्रत करना है। इसलिए शिक्षणका उपयोग लोग जिस अर्थमें समझते हैं, उस अर्थमें नहीं है। लेकिन इतनेसे शिक्षण निरुपयोगी नहीं हो जाता। शिक्षण उत्तेजक दवा नहीं है, वह प्रतिबंध-निवारक उपाय है। रस्किनने शिल्पकलाकी भी ऐसी ही व्याख्या की है। शिल्पज्ञ पत्थर या मिट्टीमेंसे मूर्त्ति उत्पन्न नहीं करता। वह तो उसमें है ही। सिर्फ छिपी हुई है। उसे प्रकट करना शिल्पीका काम है। इसपरसे स्पष्ट है कि शिक्षण अभावात्मक होते हुए भी उपयोगी है। और चाहे प्रति-बंध-निवारणके अर्थमें ही क्यों न हो, उसमें थोड़ी-सी भावात्मकता है ही। इसी अर्थको ध्यानमें रखकर ऊपर, तारतम्यसे (अपेक्षाकृत) अभावात्मक ऐसी सावधानीकी भाषाका प्रयोग किया है। शिक्षण

आत्मविकासकी तुलनामें अभावात्मक है। अर्थात् उसका 'भाव' बहुत थोड़ा है।

लेकिन हमने शिक्षाका भाव बेहद बढ़ा दिया है। इसलिए हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली अत्यंत अस्वाभाविक, विपरीत और दुराग्रही हो गई है। जहां किसी लड़केकी स्मरण-शक्ति जरा तीव्र दिखाई दी कि उसे और ज्यादा कंठ करनेको उत्साहित किया जाता है। लड़केका पिता अधीर हो उठता है। लड़केके दिमागमें कितना ठूंसूं और कितना नहीं, इसका उसे कोई विवेक नहीं रहता। पाठशालाकी शिक्षण-पद्धतिमें भी यही नीति निर्धारित की जाती है। इसके विपरीत यदि विद्यार्थी मंद हो, तो उसकी अवश्य उपेक्षा की जायगी। होशियार माने जानेवाले लड़के जैसे-तैसे कालेजतक पहुंचते हैं और फिर पिछड़ जाते हैं। और यदि कालेज में न पिछड़े, तो आगे चलकर व्यवहारमें निकम्मे साबित होते हैं। इसका कारण यह है कि उनकी कोमल बुद्धिपर बेहिसाब बोझ लादा जाता है। यदि घोड़ा तेज है और व्यवस्थितरूपसे चलता है, तो उसे छेड़ना नहीं चाहिए। लेकिन इसके बदले 'घोड़ा तेज है न? लगाओ चाबुक', ऐसी नीतिसे क्या होगा? घोड़ा भड़क जायगा। खुद तो गड्ढेमें गिरेगा ही, अपने मालिकको भी गिरायेगा। यह बेवकूफीकी और जंगली नीति कम-से-कम राष्ट्रीय शालाओंमें तो हरगिज नहीं बरतनी चाहिए।

सच बात तो यह है कि जहां विद्यार्थीको यह भान हुआ कि वह शिक्षण ले रहा है, वहां शिक्षणका सारा आनंद ही लुप्त हो जाता है। छोटे लड़कोंसे जो कहा जाता है कि खेल ही उत्तम व्यायाम है, उसका भी रहस्य यही है। खेलमें व्यायाम होता है, लेकिन 'मैं व्यायाम करता हूं', यह बोध नहीं होता। खेलते समय आसपासका जगत नष्ट हो जाता है। लड़के तद्रूप होकर अद्वैतका अनुभव करते हैं। देह-भान लुप्त हो जाता है। प्यास-भूख, थकान, चोट, किसी वेदनाकी भी प्रतीति नहीं होती। सारांश, खेल आनंद होता है। वह नियम-रूप कर्त्तव्य नहीं होता। यही व्यायाम-शिक्षणपर भी लागू करना चाहिए। 'शिक्षण एक कर्तव्य है, इस कृत्रिम भावनाके बदले शिक्षण आनंद है', यह नैसर्गिक और तेजस्वी भावना उत्पन्न होनी चाहिए। लेकिन क्या हमारे लड़कोंमें ऐसी भावना पाई जाती है? 'शिक्षण आनंद है' इस भावनाकी

बात तो छोड़ दीजिए; 'किंतु शिक्षण कर्तव्य है', यह भावना भी बहुत कम पाई जाती है । 'शिक्षण दंड है', यह गुलामीकी भावना ही आज विद्यार्थियोंमें प्रचलित है । बालकने जरा सजीवताकी चमक या स्वतंत्र-वृत्तिके लक्षण दिखाये नहीं कि तुरंत घरवाले कहने लगे कि अब इसे स्कूलमें बेड़ना चाहिए । तो पाठशालाका अर्थ क्या हुआ ?––बेड़नेकी जगह ! इसलिए इस पवित्र कार्यमें हाथ बंटानेवाले शिक्षक इस जेलखानेके छोटे-बड़े कर्मचारी हैं !

लेकिन इसमें दोष किसका है ? शिक्षाके विषयमें हमारे जो विचार हैं और उनके अनुसार हमने जिस पद्धतिका––अथवा पद्धतिके अभावका––अवलंबन लिया है, उसका यह दोष है । विद्यार्थियोंका शिक्षण इस प्रकार होना चाहिए कि उन्हें उसका बोध न हो, यानी स्वाभाविकरूपसे होना चाहिए । बाल्यावस्थामें बालक जिस सहजभावसे मातृभाषा सीखता है, उसी सहजभावसे उसका अगला शिक्षण भी होना चाहिए । लड़का, व्याकरण क्या चीज है, यह भले ही न जानता हो; लेकिन वह 'मां आया' नहीं कहता । कारण, वह व्याकरण समझता है । वह व्याकरण' शब्द भले ही न जानता हो या उसे व्याकरणकी परिभाषा भले ही न मालूम हो; परंतु व्याकरणका मुख्य कार्य तो हो चुका है । साध्य और साधनको उलट-पुलट नहीं करना चाहिए । साध्यके लिए साधन होते हैं, साधनके लिए साध्य नहीं । यही बात तर्कशास्त्रपर भी लागू होती है । गौतमके न्यायसूत्र अथवा अरस्तूका तर्कशास्त्र पढ़नेका क्या अभिप्राय है ? यही कि हम व्यवस्थित विचार कर सकें, अचूक अनुमान कर सकें । दीया जब मंद होने लगता है, तब छोटा लड़का भी अंदाज करता है कि शायद उसमें तेल नहीं है । उसके दिमागमें सारा तर्क होता है । हां, इतना अवश्य है कि वह 'पंचावयवी वाक्य' या 'सिलाजिज्म' नहीं बना सकता । विद्यार्थीके भीतर तर्क-शक्ति स्वभावतः होती है । शिक्षणका कार्य केवल ऐसे अवसर उपस्थित करना है, जिससे उस तर्क-शक्तिको समय-समय पर खाद्य मिलता रहे । सारे शास्त्र, सब कलाएं, तमाम सद्गुण, मनुष्यमें बीजतः स्वयंभू हैं । हम उस बीजको देख नहीं सकते । लेकिन वह दिखाई नहीं देता, इसलिए उसका अभाव तो नहीं है ।

परंतु कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि रूसोको यह मत पसंद नहीं है। "मनुष्य स्वाभावत: दुर्बल है, अनीतिमान है; शिक्षणसे उसे बलवान या नीतिमान बनाना है। स्वभावसे वह पशु है; उसे मनुष्य बनाना है। 'पापोहं पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भव:' यह उसका पूर्व-रूप है। उसका उत्तर-रूप शिक्षणसे संपन्न होनेवाला है—इस आशयकी भाषाका प्रयोग वह कभी-कभी करता है। इसके विरुद्ध आशयके वाक्य भी उसके ग्रंथोंमें पाये जाते हैं। इसलिए उसका अमुक ही मत है, यह कहना कठिन है, तथापि उसका ऊपर लिखे अनुसार मत हो, तो भी उसमें उसका विशेष दोष नहीं है; बल्कि उसके जमानेकी परिस्थितिका दोष है, ऐसा कहा जा सकता है। स्वतंत्र बुद्धिके लोग भी एक हदतक, यदि परिस्थितिके गुलाम नहीं होते, तो कम-से-कम परिस्थिति द्वारा गढ़े जाते हैं और फिर रूसोके जमानेके फ्रांसकी स्थिति कैसी भीषण थी! भारतमें आज किस प्रकार इकतीस करोड़ जंतुओंका भयानक दृश्य नजर आता रहा है, उसी तरहकी हालत उस वक्तके फ्रांसकी थी। इसलिए यदि रूसो-जैसे ज्वालामुखी, ज्वलंत और अतिशय उत्कट मनुष्यका भावनामय एवं विकारी हृदय मनुष्य-जातिके प्रति घृणासे परिपूर्ण हो गया हो, तो वह क्षम्य है। गुलामी देखते ही वह खीझ जाता था। उसका खून खौलने लगता था। वह आपेसे बाहर हो जाता था। ऐसी स्थितिमें मनुष्य-जातिके प्रति घृणाके कारण यदि उसका यह मत हो गया हो कि मनुष्य एक जानवर है और उसमें शिक्षणसे थोड़ी-बहुत इन्सानियत आती है, तो हम उसका तात्पर्य समझ सकते हैं। लेकिन रूसोके साथ हमें कितनी ही सहानुभूति क्यों न हो, तो भी इस प्रकारका—चाहे किसीने किसी भी परिस्थितिमें प्रतिपादन किया हो—अनुचित है, इसमें संदेह नहीं। मनुष्य स्वभावत: दुष्ट है, ऐसा माननेमें निखिल मनुष्य-जातिका अपमान है और निराशावादी परमावधि है। अगर मनुष्य स्वभावसे ही दुष्ट हो, तो शिक्षणकी कोई आशा नहीं हो सकती। वस्तुसे उसका स्वभाव सदाके लिए पृथक करना तर्क-दृष्टसे असंभव है। इसलिए यदि मनुष्य-स्वभाव अपने असली रूपमें दुष्ट ही हो, तो उसे सुधारनेके सारे प्रयत्न अकारथ जायंगे और निराशावादका तथा उसके साथ-साथ पशु-वृत्तिका साम्राज्य शुरू हो जायगा, क्योंकि आशा नष्ट होते ही दंडका राज्य स्थापित हो जाता

है । कुछ लोग जोशमें आकर कहा करते हैं कि ब्रिटिश सरकारपरसे हमारा विश्वास सदाके लिए उठ गया । सुदैवसे यह सिर्फ जोशकी भाषा होती है । परंतु, यदि यह सच होता, तो किसी भी शांतिमय आंदोलनका अर्थ निराशाका कर्म-योग ही होता । स्वावलंबनकी दृष्टिसे यह कहना ठीक है कि हमें सरकारके भरोसे नहीं रहना चाहिए । लेकिन यदि इसका अर्थ यह हो कि हमें यह निश्चय हो गया हो कि अंग्रेजोंके हृदय नहीं हैं, उनकी कभी उन्नति ही नहीं हो सकती, तब तो निःशस्त्र आंदोलन केवल एक लाचारीका चारा हो जाता है । क्या सत्याग्रहका और क्या शिक्षणका मुख्य आधार ही यह मूलभूत कल्पना है कि प्रत्येक मनुष्यके आत्मा है । जिस प्रकार शत्रुके आत्मा नहीं है, यह सिद्ध होते ही सत्याग्रह बेकार हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य स्वभावतः दुष्ट है, यह साबित होते ही शिक्षणकी प्रायः सारी आशा नष्ट हो जाती है । फिर तो 'छड़ी पड़े छम-छम, विद्या आवे झम-झम' शिक्षाका एकमात्र सूत्र होगा । इसलिए विद्वान् तत्त्वज्ञों और शिक्षण-वेत्ताओं-ने भी यह शास्त्रीय सिद्धांत मान लिया है कि मनुष्यके मनमें पूर्णताके सारे तत्त्व बीज-रूपमें स्वतः-सिद्ध हैं ।

यह शास्त्रीय सिद्धांत स्वीकार करनेपर जिस प्रकार आजकी जिद्दी शिक्षा-पद्धति गलत साबित होती है, उसी प्रकार शिक्षाका कार्य नागरिक बनाना है, इस चालके आत्म-संभावित तत्त्व भी निराधार सिद्ध होते हैं । हम कुछ-न-कुछ शिक्षण देते हैं, लड़कोंके दिलोंपर किसी-न-किसी बातका असर होता है और उस परिणामका तथा हमारे शिक्षणका समीकरण करके 'अस्माकमेवायं विजयः, अस्माकमेवायं महिमा' ऐसा कहकर हम नाचने लगते हैं । यह मानवीय मूर्खताकी महिमा है । ऊपर कहा जा चुका है कि शिक्षणकी रचना ऐसी होनी चाहिए, जिससे की विद्यार्थीको यह मालूम भी न पड़े कि वह शिक्षण ले रहा है । लेकिन इसके लिए साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि शिक्षकके दिलमें ऐसी धुंधली और मंद भावना भी न हो कि वह विद्यार्थियोंको शिक्षण दे रहा है । जबतक गुरू अनन्य और सहज-शिक्षक नहीं होगा, तबतक विद्यार्थियोंको सहज-शिक्षण मिलना असंभव है । जब कहा जाता है कि 'हम तो फ्रोबेल, पैस्टलाजी या मौंटेसरीकी पद्धतिसे शिक्षण देते हैं', तब साफ समझ लेना चाहिए कि यह केवल वाचिक श्रम है, यह शब्द-

शिक्षण है, यह किसी पद्धतिकी अर्थ-शून्य नकल है, यह शव है, इसमें जान नहीं है। शिक्षण कोई बीजगणितका सूत्र (फार्म्यूला) थोड़े ही है कि सूत्र लगाते ही फौरन उत्तर आ जाय। जो दिया जाता है, वह शिक्षण ही नहीं है और न शिक्षण देनेकी पद्धति, पद्धति है। जो अंदर है वह सहज भावसे प्रकट होता है—इस तरहसे जो प्रकट होता है, वही शिक्षण है। यही सहज-शिक्षण —'सदोषमपि'—सदोष भले ही हो, तो भी, अच्छा है। परंतु किसी विशिष्ट पद्धतिके गुलामोंके द्वारा प्राप्त होनेवाला व्यवस्थित अज्ञान हमें नहीं चाहिए।

आखिर शास्त्र क्या चीज है? 'शास्त्र' बराबर है 'व्यवस्थित अज्ञानके'। इसके सिवा इन शास्त्रोंका कोई अर्थ भी है। शिक्षण-शास्त्रवेत्ता स्पेंसर शिक्षण-शास्त्रपर लिखते हुए कहता है कि शिक्षणसे अलौकिक व्यक्ति बनते नहीं हैं। ऐसे शास्त्रोंकी शास्त्र-दृष्टिसे क्या कीमत हो सकती है! 'एतत् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत' जैसी शास्त्रकी प्रतिज्ञा होनी चाहिए। जो शास्त्र ऐसी प्रतिज्ञा नहीं कर सकता, वह शास्त्र लोगोंकी आंखोंमें धूल झोंकनेका व्यवस्थित प्रयास मात्र है। शेक्सपीयरने कौन-से नाट्य-शास्त्रका अध्ययन किया था? अलंकार-शास्त्रके नियम रटकर क्या कभी कोई प्रतिभावान कवि—या काव्य-रसिक भी—बना है? शास्त्र-पद्धति, इन शब्दोंका शब्द-सृष्टिसे बाहर कुछ अर्थ ही नहीं होता। यह महज भ्रम है। 'यास्तेषां स्वैर कथास्ता एव भवंति शास्त्राणि'—'महापुरुषोंकी स्वैर-कथाएं ही शास्त्र है'—भर्तृहरिका यह एक मार्मिक वचन है। यहांपर भी वही लागू होता है। 'जो किसी भी पद्धतिके बिना सुव्यवस्थित होता है, जिसे कोई भी गुरु दे नहीं सकता, परंतु जो दिया जाता—ऐसा है शिक्षणका अनिर्वचनीय स्वरूप। इसलिए दिव्यदृष्टिवाले महात्माओंने कहा कि शिक्षण कैसे दिया जाता है, हम नहीं जानते। 'न विजानीमः' (केनोपनिषत्) शिक्षण-पद्धति पाठ्यक्रम, समय-पत्रक, ये सब अर्थशून्य हैं। इनमें सिवा आत्म-वंचनाके और कुछ नहीं धरा है। जीनेकी क्रियामेंसे ही शिक्षण मिलना चाहिए। शिक्षण जब जीनेकी क्रियासे भिन्न एक स्वतंत्र क्रिया बनती है, उस वक्त शरीरमें विजातीय द्रव्य घुसनेसे जैसा परिणाम होता है, वैसा जहरीला और रोगोत्पादक परिणाम हमारे मनपर होता है। कर्मकी कसरतके

बिना ज्ञानकी भूख नहीं लगती। और वैसी हालतमें जो ज्ञान विजातीय द्रव्यके रूपमें अंदर घुसता है, उसे हजम करनेकी ताकत पचनेंद्रियोंमें नहीं होती। सिर्फ भेजेमें किताबें ठूंस देनेसे अगर मनुष्य ज्ञानी बन जाता, तो पुस्तकालयकी आलमारियां ज्ञानी मानी जातीं। लालचसे खाये हुए ज्ञानका अपचन होता है और बौद्धिक पेचिश हो जाती है। और अंतमें मनुष्यकी नैतिक मृत्यु होती है।

जो नियम विद्यार्थियोंके शिक्षणपर लागू है, वही लोक-शिक्षण या लोक-संग्रहपर भी घटित होता है। महापुरुषोंकी दृष्टिसे सारा समाज एक बहुत बड़ा शिशु है। "भीष्माचार्य आमरण ब्रह्मचारी रहे। किंतु बिना पुत्रके तो सद्गति नहीं होती, ऐसा सुनते हैं। तब भीष्माचार्यको सद्गति कैसे मिली होगी ?" ऐसी बेहुदी शंका पेश होनेपर उसका समाधान इस प्रकार किया गया कि भीष्माचार्य सारे समाजके लिए पिताके समान होनेके कारण हम सब उनके पुत्र ही हैं। इसलिए लोक-संग्रहका प्रश्न महापुरुषोंकी दृष्टिसे बालकोंके शिक्षणका ही प्रश्न है। परंतु शिक्षणके प्रश्नकी तरह लोक-संग्रहका भी नाहक हौवा बनाकर ज्ञानी पुरुषकी यह एक भारी जिम्मेदारी है, ऐसा कहनेका रिवाज चल पड़ा है। लोक-संग्रह किसी व्यक्तिके लिए रुका नहीं है। लोक-संग्रह मुझपर निर्भर है, ऐसा मानना गोया टिटहरीका यह मानकर कि मेरे आधारपर आकाश स्थित है, खुदको उलटा टांग लेनेके बराबर है। 'कर्त्ताहम', मैं कर्त्ता हूं', यह अज्ञानका लक्षण है, ज्ञानका नहीं। यहांतक कि जहां 'कर्त्ताहम' यह भावना जाग्रत है, वहां यथार्थ कर्तृत्व ही नहीं रह सकेगा। शिक्षण जिस प्रकार अभावात्मक या प्रतिबंध—निवारणात्मक कार्य है, उसी प्रकार लोक-संग्रह भी है। इसीलिए श्रीमच्छंकराचार्यने 'लोकस्य उन्मार्ग-प्रवृत्ति-निवारणं लोक-संग्रह', ऐसा लोक-संग्रहका निवर्त्तक स्वरूप दिखलाया है।

जिस प्रकार सच्चा शिक्षक शिक्षा नहीं देता, उससे शिक्षण मिलता है, इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी लोक-संग्रह करेगा नहीं, उसके द्वारा लोक-संग्रह होगा। सूर्य प्रकाश देता नहीं है, उससे स्वाभाविक रूपसे प्रकाश मिलता है। इसी अभावात्मक कर्मयोगको गीताने सहज कर्म कहा है और मनुने इसी सहजकर्मको 'निवृत्तकर्म' यह सुंदर संज्ञा दी है। 'निवृत्त-शिक्षण' यह संज्ञा

भी उसी ढंगपर गढ़ी गई है । जो ऐसा निवृत्त शिक्षण देते हैं, वे आचार्य ही समाज के गुरु हैं । वे ही समाजके पिता हैं । दूसरे 'भाड़ेके गुरु' गुरु नहीं और 'जन्म-हेतु-पिता' पिता नहीं हैं । ऐसे गुरुओंके चरणोंके निकट बैठकर जिन्होंने शिक्षा पाई है, वे ही मातृमान, पितृमान, आचार्य-मान कहलाने के गौरवके पात्र हैं । अन्य सब अनाथ बालक हैं । सब अशिक्षित हैं । ऐसा उदार शिक्षण कितनोंके भाग्यमें लिखा होता है ?

'महाराष्ट्र धर्म', १९२३

: १० :

आत्माकी भाषा

हम जानते हैं कि दुनियाका पहला ग्रंथ ऋग्वेद है । इसके पहलेका कोई लिखित ग्रंथ हमको अबतक नहीं मिला । इसलिए ऋग्वेद ही हमारे लिए एक बहुत प्राचीन प्रामाणिक वस्तुके रूपमें है । मैं देख रहा हूं कि हिंदुस्तानकी एकताका खयाल ऋग्वेदमें भी मौजूद है । ऋग्वेदका एक मंत्र कहता है कि इस देशमें दो तरफसे––दो बाजुओंसे––दो हवाएँ बह रही हैं । एक समुद्रकी तरफसे आती है, दूसरी पर्वतकी तरफसे । जिस समुद्रकी तरफसे हवा आती है, उसको हम हिंद महासागर कहते हैं । मैं देख रहा हूं कि हिमालयकी गहन गुफाओंसे एक हवा आती है और दूसरी सिंधुसे बहती है । इस खयालसे हिंदुस्तान समुद्रसे लेकर हिमालयतक एक है । इसका आध्यात्मिक अर्थ भी है । हम जो श्वासोच्छ्वास लेते हैं उसकी उपमा वे ऋषि दे रहे हैं । वे कहते हैं कि प्रणायाम करनेवाले योगी अंदर एक हवा लेते हैं और बाहर दूसरी हवा छोड़ते हैं । जैसे पोंगोके अंदरकी गुफा और बाहरका अंतरिक्ष दो भाग हैं वैसे ही भारतका हिमालय और समुद्र है । भारत भूमि भी इसी तरह प्राणायाम कर रही है । हिमालयसे वायु छोड़ती है और समुद्रसे लेती है । अब जो अर्थ निकला उससे यह साफ है कि हिंदुस्तानकी एकता अभीकी नहीं है, बल्कि हजारों वर्ष पहलेकी है । रामायणमें एक स्थान

पर वाल्मीकिने श्री रामचंद्रजीको समुद्रके समान गंभीर और पर्वतके समान स्थिर कहा है। उन्होंने रामचंद्रजीको एक राष्ट्र पुरुषके रूप में चित्रित किया है। हजारों बरस पहले ही जब पारस्परिक संबंध के कुछ साधन नहीं थे तभी हमारे पूर्वजोंने इस भूमिको एक विशाल राष्ट्र मान लिया था। इतने विशाल देशको एक राष्ट्र मानना इस जमानेके लिए कोई नई बात नहीं है।

हमारी पुरानी एकताका साधन क्या था ? हमारी संस्कृत भाषा। उस समय हमारी भाषा संस्कृत थी। अब संस्कृतके अनेक अंग बन गए और अलग-अलग भाषाएं बन गई। अलग-अलग सूबोंमें अलग-अलग भाषाका प्रयोग होने लगा। इतना होते हुए भी जो लोग राष्ट्रीयता का खयाल करते थे वे संस्कृतमें बोलते और लिखते थे। आप देखेंगे कि केरलमें पैदा हुए शंकराचार्यजीने दक्षिणसे हिमालयतक अपने अद्वैतका प्रचार संस्कृत द्वारा किया, जबकि मलाबारकी भाषा दूसरी थी। कारण, वह उस वक्त भी राष्ट्रीयताका खयाल रखते थे। सवाल उठता है कि अपने अद्वैतका प्रचार करनेके लिए उन्हें हिंदुस्तानभरमें घूमनेकी क्या जरूरत थी ? अद्वैतकी दृष्टिसे ही देखा जाय तो उनका अद्वैत जहां उनका जन्म हुआ था वहींपर पूर्णतया प्रकट हो सकता था। उनको घूमनेकी क्या जरूरत पड़ी ? एक और बात यह है कि वह हिंदुस्तानके बाहर नहीं गये। इस तरह आप समझेंगे कि उन्होंने एक राष्ट्रीयता का खयाल करके अपने अद्वैतका प्रचार सिंधुसे लेकर परावर्ततक किया। लेकिन उनमें भी एक मर्यादा थी। उन्होंने आम लोगोंकी भाषा छोड़कर सिर्फ संस्कृतमें ग्रंथ लिखे। उनके बादके संतोंको लाचार होकर आम लोगोंकी भाषामें लिखना पड़ा, और संस्कृतको छोड़ना पड़ा। अलग-अलग भाषामें अलग-अलग ग्रंथ लिखे जाने लगे। अलग-अलग भाषा हो जाने के कारण प्रांतीयताका भाव पैदा होने लगा। इसका नतीजा यह हुआ कि अंग्रेजोंने लश्करके दो विभाग किये——दक्षिणी हिस्सा और उत्तरी हिस्सा। उन्होंने देखा कि उत्तरवाले दक्षिणी भाषा नहीं समझते और दक्षिणवाले उत्तरकी भाषा नहीं समझते। अगर दक्षिण में बलवा हुआ तो उत्तरी सेना यहांपर काम देगी। यह आपको कोई काल्पनिक बात नहीं बता रहा हूं। १८५७ के बलवे को मैं भारतीय स्वातंत्र्यका

संग्राम मानता हूं। उसको दबानेके लिए मद्रासस सेना भेजी गई थी। यद्यपि भारत हजारों सालसे एकत्र रहा, फिर भी बादको भाषाका संबंध टूट गया और अंग्रेजोंने इसका फायदा उठाया। गांधीजीने देखा कि अगर हम एकराष्ट्र बनाना चाहते हैं और अपने प्राचीनतम राष्ट्रोंको (जो हिमालय से सिंधुतक फैला है) ताकतवर बनाना चाहते हैं तो एक राष्ट्रभाषाकी सख्त जरूरत है। अब संस्कृत राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। इसलिए अभी हिंदुस्तानमें जो प्रचलित भाषा है उसका अभ्यास सबको करना होगा। इसलिए गांधीजीने हिंदी भाषाको सबके सामने रखा कि सब उसका अभ्यास करें। अब वस्तु-स्थिति यह है कि जब हिंदुस्तानमें कांग्रेसका जन्म हुआ तब शुरू-शुरूमें आपके व्यवहारके लिए अंग्रेजी काममें लाई गई। इस तरह हमारे पढ़े-लिखे आदमी अंग्रेजी भाषाका उपकार मानते थे और शुरू-शुरूमें अंग्रेजीसे काम चलाते थे। लेकिन किसीको यह न सूझा कि सबके लिए अंग्रेजी सीखना मुश्किल है। वह हिंदुस्तानकी राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। यह बात सिर्फ गांधीजीको सूझी।

जैसे हिंदीमें तुलसी-रामायण लिखी गई है, वैसे ही तामिल में या बंगलामें क्या सौ बरसके अंदर ऐसा कोई उत्तम ग्रंथ लिखा गया है, जो गांव-गांवमें फैला हो? प्राचीन जमानेमें ऐसा कोई साधन नहीं था जैसा हमारे यहां अब है। जैसे प्रिंटिंग प्रेस। प्रिंटिंग प्रेस जैसे महान् प्रचारकके होते हुए भी ऐसा क्यों नहीं हुआ? मैं तामिल नहीं जानता। लेकिन मेरे भाइयोंने बताया है कि ऐसा कोई ग्रंथ नहीं जिसका प्रचार देहाततक हुआ हो। बहुत-से प्रकाशक मुझसे मिल चुके हैं। और मैं उनसे पूछ आया हूं कि आप प्रकाशक हैं या अप्रकाशक? पुराने जमानेमें जब कोई पुस्तक लिखता था तो उसको लेकर घूम-घूमकर उसका प्रचार भी करता था। मगर आज हम मान बैठे हैं कि प्रिंटिंग प्रेससे हमारा काम बन गया। तुलसी-रामायणने जनताकी सच्ची सेवा की है। नागपुरमें मुझे जब तुलसी-रामायण कहनेका मौका मिला तो एक बातपर मेरा ध्यान गया। आजकल छोटे बच्चोंको (जो प्रारंभिक शिक्षा पाते हैं) अक्षर सिखानेके लिए ऐसा पाठ लिखा जाता है जिसमें संयुक्ताक्षर नहीं होते। नागरी और बंगलामें संयुक्ताक्षरका प्रचार है। इसलिए वहां जो बिना संयुक्ताक्षरके लिखा जाता है, वह कुछ

कृत्रिम-सा बन जाता है। लेकिन तुलसी-रामायणमें पचास सैकड़े शब्द ऐसे मिलेंगे जिनमें एक भी संयुक्ताक्षर नहीं है। यही तुलसीदासकी विशेषता है।

हम लोग गुलाम बन गये और गुलामीको प्यार भी करने लगे। अब अभिमान भी करते हैं। आप देखेंगे कि हमारी भाषा और देहाती भाषामें अंतर पड़ रहा है। हमारे ग्रंथ आम जनता तक नहीं पहुंच सकते। संतोंने देखा कि हमको देहाती भाषामें बोलना और लिखना चाहिए। गांधीजीने देखा कि जबतक अंग्रेजी भाषामें सोचते रहेंगे, तबतक हम गुलाम ही रहेंगे। मैं मानता हूं कि अंग्रेजीसे हमारा कुछ फायदा हो सकता है। लेकिन अंग्रेजी भाषा और हमारी भाषामें बड़ा फर्क है। हम लोग कहते हैं 'आत्म-रक्षा'। आत्माके मानी शरीर नहीं है। पर अंग्रेजीमें आत्मरक्षा है 'सेल्फ़-डिफ़ेंस'। हरेक भाषामें उसका अपना-अपना स्वतंत्र भाव रहता है। जबतक हम अंग्रेजी द्वारा ही सोचते रहेंगे, तबतक हममें स्वतंत्र भाव पैदा नहीं होगा, यह गांधीजीने देखा। लोग समझते हैं कि अंग्रेजीसे ही हमें ज्ञान मिलता है। अगर किसी देशके बारे में जानकारी प्राप्त करनी हो तो अंग्रेजी पुस्तक पढ़ना पर्याप्त समझते हैं। अंग्रेजी नेत्र द्वारा ही सभी बातोंको देखते हैं और खद अंधे बनते हैं। अबतक हमने प्रत्यक्ष परिचय नहीं पाया है। अंग्रेजी किताबों द्वारा ही ज्ञान-संपादन करते आये हैं। अंग्रेजी भाषाके कारण हम पुरुषार्थ-हीन हो गये हैं। यहां ऐसा मैंने सुना कि दो श्रेणी पढ़नेके बाद बच्चोंको अंग्रेजी पढ़ाई जाती है। वर्धाकी शिक्षा-योजनाके अनुसार हमने सात बरसकी पढ़ाईमें अंग्रेजीको बिल्कुल स्थान नहीं दिया है; क्योंकि हम मातृभाषाको पहले स्थान देना चाहते हैं और उसी माध्यम द्वारा सभी विषय पढ़ाना चाहते हैं। अंग्रेजी भाषा द्वारा जब हम कोई बात समझते हैं तो वह अस्पष्ट होती है। मैंने देखा कि एक अनपढ़ किसानका दिमाग साफ रहता है, पर एक एम० ए० का दिमाग साफ नहीं होता। इसका कारण यह है कि एम० ए० जितना विषय सीखता है सब-का-सब पराई भाषाके द्वारा सीखता है। बच्चा पहले मातृभाषामें सीखता है। यह सब गांधीजीने देखा और यह सोचकर कि राष्ट्रभाषा बननेसे कम-से-कम दस करोड़ लोग तो अपनी भाषाको अच्छी तरह सीख पायंगे, हिंदीको राष्ट्रभाषाका रूप दिया।

२३ सालोंमें, मैंने सुना है कि, दक्षिणमें करीब १२ लाख लोग हिंदी सीख चुके हैं।

आजकल हिंदी, हिंदुस्तानी और उर्दूका झगड़ा है। मुझसे जब कोई पूछता है कि आप हिंदीको चाहते हैं, हिंदुस्तानीको या उर्दूको? तो मैं उनसे पूछता हूं कि आप "माता' को चाहते हैं या 'मां' को? मुझे हिंदुस्तानी और उर्दूमें फर्क नहीं मालूम होता। दाढ़ी बनानेमें और उसकी हजामत करनेमें जितना फर्क है उतना ही हिंदी और उर्दूमें है—बढ़ी दाढ़ी उर्दू है, सफाचट हिंदी, क्योंकि हम देखते हैं कि दाढ़ी १५ मिनटमें बढ़ती है। अंग्रेजीमें मिल्टन और वर्ड्सवर्थकी भाषामें जितना फर्क है उतना ही फर्क हिंदी और उर्दूमें है। दो-चार उर्दू शब्दों या संस्कृत शब्दोंमें भाषा कभी नहीं बदलती। मैं मद्रासमें अब जो भाषा बोल रहा हूं उसमें संस्कृत शब्दोंका प्रयोग कर रहा हूं। अगर मैं पंजाब गया तो उर्दू शब्दोंका, जो मैं जानता हूं, इस्तेमाल करूंगा। आप हिंदी, हिंदुस्तानी और उर्दूमें कुछ भी फर्क न करें। उनमें फर्क नहीं है। हिंदी और उर्दूमें जो संतुलन (बैलेंस) लाया गया है वह है हिंदुस्तानी।

हिंदुस्तानमें अनेक भाषाओंको और अनेक धर्मोंको रहना है। इसलिए अगर यहां ऐसे छोटे-मोटे झगड़े हुए तो हिंदुस्तान जैसा कोई बदनसीब देश नहीं होगा। हम सब एक हैं, यह भाव पैदा करनेके लिए हमारे पास कोई साधन होना चाहिए। वह साधन है राष्ट्रभाषा।

राष्ट्रभाषा प्रांतीय भाषाकी जगह नहीं लेती। मातृभाषाके लिए भी प्रेमकी जरूरत है। पाश्चात्य लोगोंसे हमने 'अभिमान' शब्द सीखा है। पर इसमें देशप्रेम नहीं है। पेट्रियाटिज्म क्या चीज है? वह देश-प्रेमका अपभ्रंश है। राष्ट्रभाषा का अपभ्रंश है पेट्रियाटिज्म। इसलिए आप लोगोंको मातृभाषाका अभिमान नहीं, प्रेम रखना चाहिए। राष्ट्रका अभिमान नहीं, राष्ट्र-प्रेम रखना चाहिए। हम राष्ट्रभाषाका प्रेम चाहते हैं। राष्ट्रभाषाका प्रचार युद्ध-विरोधी संदेशका प्रचार है। अगर हम मानव-समाजमें प्रेम बढ़ाना चाहते हैं और मानव-समाजको प्रेमकी नींवपर स्थापित करना चाहते हैं तो एक-दूसरेका संबंध कायम रखनेके लिए रेलवे काम नहीं देगी, रेडियो काम नहीं देगा, आपके अंतरात्माका प्रेम काम देगा।

सर्वत्र आत्मा एक है। आत्माकी भाषा सर्वत्र समान होती है। जैसे दुनिया भरका कौवा एक ही भाषा बोलता है वैसे ही दुनियामें मानव-भाषा एक है। यह हृदयके अंतरतमकी भाषा है। मानव-मात्रकी एक भाषा है। जो आत्मभाव उपनिषद्में है वह ईसप्स फ़ेबल्समें है। लड़कोंको ईसप्स फ़ेबल्स पढ़नेमें बड़ा आनंद आता है, क्योंकि वे आत्माको पहचानते हैं। आत्माकी भाषाके प्रचारमें राष्ट्रभाषाका प्रचार पहला कदम है। आत्माकी भाषा जब समझ लेंगे तब सबकी आत्माको समझेंगे। स्त्री-पुरुषकी आत्मा एक है, हिंदू-मुसलमानकी आत्मा एक है, उत्तर और दक्षिणकी आत्मा एक है, इसको पहचाननेके लिए ही यह राष्ट्रभाषाका प्रचार है।

जनवरी, १९४२

: ११ :

साहित्य उल्टी दिशा

पिछले दिनों एक बार हमने इस बातकी खोजकी थी कि देहातके साधारण पढ़े-लिखे लोगोंके घरमें कौन-सा मुद्रितवाङ्मय पाया जाता है। खोजके फलस्वरूप देखा गया कि कुल मिलाकर पांच प्रकारका वाङ्मय पढ़ा जाता है :

(१) समाचारपत्र, (२) स्कूली किताबें, (३) उपन्यास नाटक, गल्प, कहानियां आदि (४) भाषामें लिखे हुए पौराणिक और धार्मिक ग्रंथ, (५) वैद्यक-संबंधी पुस्तकें।

उससे यह अर्थ निकलता है कि हम यदि लोगोंके हृदय उन्नत करना चाहते हैं तो उक्त पांच प्रकार के वाङ्मयकी उन्नति करनी चाहिए।

पारसालका जिक्र है। एक मित्रने मुझसे कहा, "मराठी भाषा कितनी ऊंची उठ सकती है, यह ज्ञानदेवने दिखाया, और वह कितनी नीचे गिर सकती है, यह हमारे आजके समाचारपत्र बता रहे हैं!" (साहित्य सम्मेलन-के) अध्यक्षकी आलोचना और हमारे मित्रके उद्गारका अर्थ "प्रधान्येन

व्यपदेश:" सूत्रके अनुसार निकालना चाहिए । अर्थात् उनके कथनका यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि सभी समाचारपत्र अक्षरश: प्रशांत महासागरकी तहतक जा पहुंचे हैं । मोटे हिसाबसे परिस्थिति क्या है, इतना ही बोध उनके कथनोंसे लेना चाहिए । इस दृष्टिसे दु:खपूर्वक स्वीकार करना पड़ता है कि यह आलोचना यथार्थ है ।

लेकिन इसमें दोष किसका है ? कोई कहता है कि संपादकोंका, कोई कहता है पाठकोंका, कोई कहता है पूंजीपतियोंका । गुनाहमें तीनों ही शरीक हैं, और "कमाईका हिस्सा" तीनोंको बराबर-बराबर मिलनेवाला है, इसमें किसीको कोई शक नहीं । परंतु मेरे मतसे, अपराधी ये तीनों भले ही हों,—अपराध करनेवाला दूसरा ही है, और वही इस पापका वास्तविक 'धनी' है । वह कौन है ?—साहित्यकी व्याख्या करनेवाला चटोर अथवा रुचिभ्रष्ट साहित्यकार ।

"विरोधी विवादका बल, दूसरोंका जी जलाना, जली-कटी या तीखी बातें कहना, मखौल (उपहास), (व्यंग्य), मर्मभेद (मर्मस्पर्श) आड़ी-टेढ़ी सुनाना (वक्रोक्ति), कठोरता, पेचीदगी, संदिग्धता, प्रतारणा (कपट)" —ज्ञानदेवने ये वाणीके दोष बताये हैं, परंतु हमारे साहित्यकार तो ठीक उन्हीं अवगुणोंको 'वाग्भूषा' या साहित्यकी सजावट मानते हैं । पिछले दिनों एक बार रामदासकी 'ओछी तबीयतवालोंको विनोद भाता है', इस उक्तिपर कई साहित्यिक बड़े गरम हो गये थे । रामदासके आशयपर ध्यान देकर, उससे उचित उपदेश लेनेके बदले इन लोगोंने यह आविष्कार किया कि विनोदका जीवन और साहित्यमें जो स्थान है, रामदास वही नहीं समझ पाये थे । उपहास, छल, मर्मस्पर्श आदि ज्ञानदेवने अस्वीकार किये, इसे भी हमारे साहित्यकार—अपनी साहित्यकी परिभाषाके अनुसार—ज्ञानदेवके अज्ञानका ही फल समझेंगे ।

ज्ञानदेव या रामदासको राष्ट्र-कल्याणकी लगन थी और हमारे विद्वानोंको चटपटी भाषाकी चिंता रहती है, चाहे उससे राष्ट्रघात ही क्यों न होता हो—यह इन दोनोंमें मुख्य भेद है । हमारी साहित्य-निष्ठा ऐसी है कि चाहे सत्य भले ही मर जाय, साहित्य जीता रहे ।

"हे प्रभो, अभीतक मुझे पूर्ण अनुभव नहीं होता है । तो क्या, मेरे देव !

मैं केवल कवि ही बनकर रहूं।"——इन शब्दोंमें तुकाराम ईश्वरसे अपना दुखड़ा रोते हैं और ये (साहित्यकार) खोज रहे हैं कि तुकारामके इस वचनमें काव्य कहांतक सधा है ! हमारी पाठशालाओंकी शिक्षाका सारा तरीका ही ऐसा है। मैंने एक निबंध पढ़ा था। उसमें लेखकने तुलसीदासकी शेक्स-पीयरसे तुलना की थी और किसका स्वभाव-चित्रण किस दर्जेका है, इसकी-चर्चा की थी। मतलब यह कि तुलसीदासकी रामायण हिंदुस्तानके करोड़ों लोगोंके लिए——देहातियोंके लिए भी——जीवनकी मार्ग-प्रदर्शक पुस्तक है। उसका अध्ययन भी वह भला आदमी स्वभाव-चित्रणकी शैलीकी दृष्टिसे करेगा। शायद कुछ लोगोंको मेरे कथनमें कुछ अतिशयता प्रतीत हो, लेकिन मुझे तो कई बार ऐसा ही जान पड़ता है कि इन शैली-भक्तोंने राष्ट्रके शीलकी हत्याका उद्योग शुरू किया है।

शुकदेवका एक श्लोक है, जिसका भावार्थ यह है कि "जिससे जनताका चित्त शुद्ध होता है, वही उत्तम साहित्य है।" जो साहित्य-शास्त्रकार कहलाते हैं, और जिनसे आज हम प्रभावित हैं, वे यह व्याख्या स्वीकार नहीं करते। उन्होंने तो शृंगारसे लेकर बीभत्सतक विभिन्न रस माने हैं और यह निश्चित किया है कि साहित्य वही है जिसमें ये रस हों। साहित्यकी यह समूची व्याख्या स्वीकार कर लीजिए, उसमें कर्त्तव्य-शून्यता मिला दीजिए, फिर कोई भी बतला दे कि आजके मराठी समाचारपत्रोंमें जो पाया जाता है, उसके सिवा और किस साहित्यका निर्माण हो सकता है ?

: १२ :

तुलसीकृत रामायण

तुलसीदासजीकी रामायणका सारे हिंदुस्तानके साहित्यिक इतिहासमें एक विशेष स्थान है। हिंदी राष्ट्रभाषा है और यह उसका सर्वोत्तम ग्रंथ है। अतः राष्ट्रीय दृष्टिसे भी उसका स्थान अद्वितीय है ही। साथ-साथ वह हिंदुस्तानके सात-आठ करोड़ लोगोंके लिए वेद-तुल्य प्रमाण मान्य है,

नित्य परिचित और धर्म-जागृतिका एकमात्र आधार है। इस प्रकार धार्मिक दृष्टिसे भी वह बेजोड़ कही जा सकती है। और रामभक्तिका प्रचार करनेमें 'शिष्यात् इच्छेत पराजयम्' इस न्यायसे वह अपने गुरु-वाल्मीकि-रामायणको भी पराजयका आनंद दनेवाली है। इसलिए भक्तिमार्गीय दृष्टिसे भी यह ग्रंथ अपनी सानी नहीं रखता। तीनों दृष्टियां एकत्र करके विचार करने पर अन्वयालंकारका उदाहरण हो जाता है कि राम-रावण-युद्ध जिस तरह राम-रावणके युद्ध-जैसा था, उसी तरह तुलसीकृत रामायण तुलसीकृत रामायण-जैसी ही है।

एक तो रामायणका अर्थ ही है मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचंद्रका चरित्र, तिसपर तुलसीदासने उसे विशेष मर्यादासे लिखा है। इसीलिए यह ग्रंथ सुकुमार बालकोंके हाथमें देने लायक निर्दोष तथा पवित्र हुआ है। इसमें सब रसोंका वर्णन नैतिक मर्यादाका ध्यान रखकर किया गया है। स्वयं भक्ति पर भी नीतिकी मर्यादा लगा दी है। इसीलिए सूरदासकी जैसी उद्दाम भक्ति इसमें नहीं मिलेगी। तुलसीकी भक्ति संयमित है। इस संयमित भक्ति और उद्दाम भक्तिका अंतर मूल राम-भक्ति और कृष्ण-भक्तिका अंतर है। साथ ही, तुलसीदासजीका अपना भी कुछ है ही।

तुलसीकृत रामायणका वाल्मीकि-रामायणकी अपेक्षा अध्यात्म-रामायणसे अधिक संबंध है। अधिकांश वर्णनोंपर, खासकर भक्तिके उद्‌गारोंपर, भागवतकी छाप पड़ी हुई है, गीताकी छाप तो है ही। महाराष्ट्रके भागवत-धर्मीय संतोंके ग्रंथोंसे जिनका परिचय है उन्हें तुलसीकृत रामायण कोई नई चीज नहीं मालूम होगी। वही नीति, वही निर्मल भक्ति, वही संयम। कृष्ण-सखा सुदामाको जिस तरह अपने गांवमें वापस आनेपर मालूम हुआ कि कहीं मैं फिरसे द्वारकापुरीमें लौटकर तो नहीं आ गया, उसी तरह तुलसीदासजीकी रामायण पढ़ते समय महाराष्ट्रीय संत-समाजके वचनोंसे परिचित पाठकोंको 'हम कहीं अपनी पूर्व-परिचित संत-वाणी तो नहीं पढ़ रहे हैं', ऐसी शंका हो सकती है। उसमें भी एकनाथजी महाराजकी याद विशेष रूपसे आती है। एकनाथके भागवत और तुलसीदासजीकी रामायण इन दोनोंमें विशेष विचार-साम्य है। एकनाथने भी रामायण लिखी है, पर उनकी आत्मा भागवतमें उतरी है। एकनाथके भागवतने

ही रानाडेको पागल बना दिया। एकनाथ कृष्णभक्त थे तो तुलसीदास रामभक्त। एकनाथने कृष्णभक्तिकी मस्तीको पचा लिया, यह उनकी विशेषता है। ज्ञानदेव, नामदेव, तुकाराम, एकनाथ ये सभी कृष्णभक्त हैं और ऐसा होते हुए भी अत्यंत मर्यादाशील। इस कारण इस विषयमें उन्हें तुलसीदासजीसे दो नंबर अधिक दे देना अनुचित न होगा।

तुलसीदासजीकी मुख्य करामात तो उनके अयोध्याकांडमें है। उसी कांडमें उन्होंने अधिक परिश्रम भी किया है। अयोध्याकांडमें भरतकी भूमिका अद्भुत चित्रित हुई है। भरत तुलसीदासकी ध्यानमूर्त्ति थे। इस ध्यानमूर्त्तिको चुननेमें उनका औचित्य है। लक्ष्मण और भरत दोनों ही रामके अनन्य-भक्त थे, लेकिन एकको रामकी संगतिका लाभ हुआ और दूसरे को वियोगका। पर, वियोग ही भाग्यरूप हो उठा। इसलिए कि वियोगमें ही भरतने संगतिका अनुभव पाया। हमारे नसीबमें परमात्माके वियोगमें रहकर ही काम करना लिखा है। लक्ष्मणके-जैसा संगतिका भाग्य हमारा कहां! इसलिए वियोगको भाग्यरूपमें किस तरह बदल सकते हैं इसे समझनेमें भरतका ही आदर्श हमारे लिए उपयोगी है।

शारीरिक संगतिकी अपेक्षा मानसिक संगतिका महत्त्व अधिक है। शरीरसे समीप रहकर भी मनुष्य मनसे दूर रह सकता है। दिन-रात नदीका पानी ओढ़े सोया हुआ पत्थर गीलेपनसे बिल्कुल अलिप्त रह सकता है। उलटे शारीरिक वियोगमें ही मानसिक संयोग हो सकता है, उसमें संयमकी परीक्षा है। भक्तिकी तीव्रता वियोगसे बढ़ती ही है। आनंदकी दृष्टिसे देखें तो साक्षात् स्वराज्यकी अपेक्षा स्वराज्य-प्राप्तिके प्रयत्नका आनंद कुछ और ही है। सिर्फ अनुभव करनेकी रसिकता हममें होनी चाहिए। भक्तोंमें यह रसिकता होती है। इसीलिए भक्त मुक्ति नहीं मांगते, वे भक्तिमें ही खुश रहते हैं। भक्तिका अर्थ बाहरका वियोग स्वीकारकर अंदरसे एक हो जाना है। यह कोई ऐसा-वैसा भाग्य नहीं, परमभाग्य है—मुक्तिसे भी श्रेष्ठ भाग्य है। भरतका यह भाग्य था। लक्ष्मणका भाग्य भी बड़ा था।

पर एक तो हमारी किस्मतमें वह है नहीं और फिर कुछ भी कहिए, वह है भी कुछ घटिया ही। इसका कारण अंगूर खट्टे हैं, सिर्फ यही नहीं

है, किंतु उपवास मीठा है, यह भी है। भरतके भाग्यमें उपवासकी मिठास है।

लोकमान्य तिलकने 'गीतारहस्य'में संन्यासीको लक्ष्यकर यह कटाक्ष किया है कि 'संन्यासीको भी मोक्षका लोभ तो होता ही है।' पर इस तानेको व्यर्थ कर देनेकी युक्ति भी हमारे साधु-संतोंने ढूंढ़ निकाली है। उन्होंने लोभको ही संन्यास दे दिया। खुद तुलसीदासजी भक्तिकी नमक रोटीसे खुश हैं, मुक्तिकी ज्योनारके प्रति उन्होंने अरुचि दिखाई है। ज्ञानेश्वरने तो "भोग-मोक्ष निबलाण। पायातली" भोग और मोक्ष पैर तले पड़े हुए (उतारा जैसे) हैं, "मोक्षाची सोडीबांधी करी" (मोक्षकी पोटलीको बांधती छोड़ती है, अर्थात् मोक्ष जिसके हाथकी चीज है), "चहूं पुरुषार्था शिरीं। भक्ति जैसी" (चारों पुरुषार्थोंसे श्रेष्ठ भक्ति जैसी) आदि वचनोंमें भक्तिको भक्तिकी टहलुई बनाया है। और तुकारामसे तो "नको ब्रह्मज्ञान आत्म-स्थिति भाव" (मुझे न ब्रह्मज्ञान चाहिए और न आत्मसाक्षात्कार) कहकर मुक्तिसे इस्तीफा ही दे दिया है। "मुक्तीवर भक्ति" (मुक्तिसे भक्ति बढ़कर है) इस भावको एकनाथको अपनी रचनाओंमें दस-पांच बार प्रकट किया है। इधर गुजरातमें नरसिंह मेहताने भी "हरिना जन तो मुक्ति न मांगे" (हरिका जन मुक्ति नहीं मांगता) ही गाया है। इस प्रकार अंततः सभी भागवत-धर्मी वष्णवोंकी परंपरा मुक्तिके लोभसे सोलहों आने मुक्त है। इस परंपराका उद्‌गम भक्त-शिरोमणि प्रह्लादसे हुआ है। "नैतान् विहाय कृपणान् विमु-मुक्षुरेक:"—इन दीन जनोंको छोड़कर मुझे अकेले मुक्त होनेकी इच्छा नहीं है, यह खरा जवाब उन्होंने नृसिंह भगवान्‌को दिया। इस कलियुगमें श्रौतस्मार्त्त-संन्यास-मार्गकी स्थापना करनेवाले शंकराचार्यने भी "ब्रह्मण्या-धाय कर्माणि संगंत्यक्त्वा करोति य:" गीताके इस श्लोकका भाष्य करते हुए "संगंत्यक्त्वा" का अर्थ अपने पल्लेसे डालकर "मोक्षेऽपिफले संगंत्यक्त्वा" —"मोक्षकी भी आसक्तिका त्याग कर", ये शव्द किया है।

तुलसीदासजीके भरत इस भक्ति-भाग्यकी मूर्त्ति हैं। उनका मांगना तो देखिए—

धरम न अरथ न काम-रुचि
गति न चहउं निरबान।

जनम-जनम रति राम-पद
यह बरदान न आन ॥

यों तिलकजीके तानेको संतोंने एकदम निकम्मा कर दिया ।

भरतमें वियोग-शक्तिका उत्कर्ष दिखाई देता है । इसीसे तुलसीदास-जीके वह आदर्श हुए । भरतने सेवा-धर्मको खूब निबाहा । नैतिक मर्यादाका संपूर्ण पालन किया, भगवान्‌का कभी विस्मरण नहीं होने दिया । आज्ञा समझकर प्रजाका पालन किया । पर उनका श्रेय रामके चरणोंमें अर्पण-कर स्वयं निर्लिप्त रहे । नगरमें रहकर वनवासका अनुभव किया । वैराग्य-युक्त चित्तसे यमनियमादि विषम व्रतोंका पालनकर आत्माको देवसे दूर रखनेवाले देहके पर्देको झीना कर दिया । तुलसीदास कहते हैं कि ऐसे भरत न जन्मे होते तो मुझ-जैसे पतितको राम-सम्मुख कौन करता—

सिय-राम-प्रेमपियूष-पूरन होत जनम न भरत को ।
मुनि-मन-अगम-जम-नियम-सम-दम बिषय-ब्रत आचरत को !
दुख-दाह-दारिद-दम्भ-दूषन सुजस-मिस अपहरत को !
कलिकाल तुलसी-से सठहिं हठि राम-सनमुख करत को !!

रामायणमें रामसखा भरत, महाभारतमें शकुंतलाका पराक्रमी भरत और भागवतमें जीवन्मुक्त जड़ भरत, ये तीन भरत प्राचीन भारतमें विख्यात हैं । हिंदुस्तानको 'भारतवर्ष' संज्ञा शकुंतलाके वीर भरतसे मिली, ऐसा इतिहासज्ञोंका मत है; एकनाथने ज्ञानी जड़भरतसे यह मिली, ऐसा माना है । संभव है, तुलसीदासजीको लगता हो कि यह राम-भक्त भरतसे मिली है । पर चाहे जो हो, आजके वियोगी भारतके लिए भरतकी वियोग-भक्तिका आदर्श सब प्रकारसे अनुकरणीय है । तुलसीदासजीने वह आदर्श अपने पवित्र अनुभवसे उज्ज्वल बनाकर हमारे सामने रखा है । तदनुसार आचरण करना हमारा काम है ।

: १३ :

जीवनकी तीन प्रधान बातें

अपने जीवनमें तीन बातोंको प्रधान पद देता हूं। उनमें पहली है उद्योग। अपने देशमें आलस्यका भारी वातावरण है। यह आलस्य बेकारी-के कारण आया है। शिक्षितोंका तो उद्योगसे कोई ताल्लुक ही नहीं रहता, और जहां उद्योग नहीं वहां सुख कहां! मेरे मतसे जिस देशसे उद्योग गया उस देशको भारी घुन लगा समझना चाहिए। जो खाता है उसे उद्योग तो करना ही चाहिए, फिर वह उद्योग चाहे जिस तरहका हो, पर बिना उद्योगके बैठना कामकी बात नहीं। घरोंमें उद्योगका वातावरण होना चाहिए। जिस घरमें उद्योगकी तालीम नहीं है उस घरके लड़के जल्दी ही घरका नाश कर देंगे। संसार पहले ही दुःखमय है। जिसने संसारमें सुख माना है उसके समान भ्रममें पड़ा और कौन होगा? रामदासजीने कहा है—"मूर्खमांजी परम मूर्ख। जो संसारीं मानीं सुख।" अर्थात् वह मूर्खोंमें भारी मूर्ख है जो मानता है कि इस संसारमें सुख है। मुझे जो मिला, दुःखकी कहानी सुनाता ही मिला। मैंने तो कभीसे यह समझ लिया है और बहुत विचार और अनुभवके बाद मुझे इसका निश्चय हो गया है। पर ऐसे इस संसारको जरा-सा सुखमय बनाना हो तो उद्योगके सिवाय दूसरा इलाज नहीं है, और आज सबके करने लायक और उपयोगी उद्योग सूत-कताईका है। कपड़ा हरेकके लिए जरूरी है और प्रत्येक बालक, स्त्री, पुरुष सूत कातकर अपना कपड़ा तैयार कर सकता है। चर्खा हमारा मित्र बन जायगा, शांतिदाता हो जायगा—बशर्ते कि हम उसे संभालें। दुःख होने या मन उदास होनेपर चर्खेको हाथमें लेलें तो फौरन मनको आराम मिलता है। इसकी वजह यह है कि मन उद्योगमें लग जाता है और दुःख बिसर जाता है। गेटे नामक कविका एक काव्य है। उसमें उसने एक स्त्रीका चित्र खींचा है। वह स्त्री बहुत शोक-पीड़ित और दुःखित थी। अंतमें उसने तकली संभाली। कविने दिखाया है कि उसे उस तकलीसे सांत्वना मिली। मैं इसे मानता हूं। स्त्रियोंके लिए यह बहुत ही उपयोगी साधन है। उद्योगके

बिना मनुष्यको कभी खाली नहीं बैठना चाहिए। आलस्यके समान शत्रु नहीं है। किसीको नींद आती हो तो सो जाय, इसपर मैं कुछ नहीं कहूंगा, लेकिन जाग उठनेपर समय आलस्यमें नहीं बिताना चाहिए। इस आलस्यकी वजहसे ही हम दरिद्री हो गये हैं, परतंत्र हो गये हैं। इसीलिए हमें उद्योगकी ओर झुकना चाहिए।

दूसरी बात, जिसकी मुझे धुन है, वह भक्तिमार्ग है। बचपनसे ही मेरे मनपर यदि कोई संस्कार पड़ा है तो वह भक्तिमार्गका है। उस समय मुझे मातासे शिक्षा मिली। आगे चलकर आश्रममें दोनों वक्तकी प्रार्थना करनेकी आदत पड़ गई। इसलिए मेरे अंदर वह खूब होगई। पर भक्तिके माने ढोंग नहीं हैं। हमें उद्योग छोड़कर झूठी भक्ति नहीं करनी है। दिनभर उद्योग करके अंतमें शामको और सुबह भगवानका स्मरण करना चाहिए। दिनभर पाप करके, झूठ बोलकर, लबारी-लफ्फाजी करके प्रार्थना नहीं होती, वरन् सत्कर्म करके दिन सेवामें बिता करके वह सेवा शामको भगवानको अर्पण करनी चाहिए। हमारे हाथों अनजाने हुए पापोंको भगवान् क्षमा करता है। पाप बन आवे तो उसके लिए तीव्र पश्चात्ताप होना चाहिए। ऐसोंके पाप ही भगवान् माफ करता है। रोज १५ मिनट ही क्यों न हो, सबको—लड़कोंको, स्त्रियोंको—इकट्ठे होकर प्रार्थना करनी चाहिए। जिस दिन प्रार्थना न हो वह दिन व्यर्थ गया समझना चाहिए। मुझे तो ऐसा ही लगता है। सौभाग्यसे मुझे अपने आसपास भी ऐसी ही मंडली मिल गई है। इससे मैं अपनेको भाग्यवान मानता हूं। अभी मेरे भाईका पत्र आया है। बाबाजी उनके बारेमें लिख रहे हैं कि आजकल वह रायचंद भाईके ग्रंथ पढ़ रहे हैं। उन्हें उस साधुके सिवाय और कुछ नहीं सूझ रहा है। इधर उसे रोगने घेर रखा है, पर उसे उसकी परवा नहीं है। मुझे भाई भी ऐसा मिला है। ऐसे ही मित्र और गुरु मिले। मां भी ऐसी ही थी। ज्ञानदेवने लिखा है कि भगवान कहते हैं—मैं योगियोंके हृदयमें न मिलूं, सूर्यमें न मिलूं और कहीं न मिलूं, जो जहां कीर्तन-नामघोष चल रहा है वहां तो जरूर ही मिलूंगा। लेकिन यह कीर्तन कर्म करने, उद्योग करनेके बाद ही करनेकी चीज है, नहीं तो वह ढोंग हो जायगा। मुझे इस प्रकारके भक्तिमार्गकी धुन है।

तीसरी एक और बातकी मुझे धुन है, पर सबके काबूकी वह चीज नहीं हो सकती। वह चीज है खूब सीखना और खूब सिखाना। जिसे जो आता है वह उसे दूसरेको सिखाये और जो सीख सके उसे वह सीखे। कोई बुड्ढ़ा मिल जाय तो उसे सिखाये। भजन सिखाये, गीता-पाठ कराये, कुछ-न-कुछ जरूर सिखाये। पाठशालाकी तालीमपर मुझे विश्वास नहीं है। पांच-छः घंटे बच्चोंको बिठा रखनेसे उनकी तालीम कभी नहीं होती। अनेक प्रकारके उद्योग चलने चाहिए और उसमें एक-आध घंटा सिखाना काफी है। काममें-से ही गणित इत्यादि सिखाना चाहिए। क्लास इस तरहके होने चाहिए कि एक पैसा मजदूरी मिली तो उसे पहला दर्जा और उससे ज्यादा मिली तो दूसरा दर्जा। इसी प्रकारसे उन्हें उद्योग सिखाकर उसीमें शिक्षा देनी चाहिए। मेरी मां 'भक्ति-मार्ग-प्रदीप' पढ़ रही थी। उसे पढ़ना कम आता था, पर एक-एक अक्षर टो-टोकर पढ़ रही थी। एक दिन एक भजनके पढ़नेमें उसने १५ मिनट खर्च किये। मैं ऊपर बैठा था। नीचे आया और उसे वह भजन सिखा दिया। और पढ़ाकर देखा, पंद्रह-बीस मिनटमें ही वह भजन उसे ठीक आ गया। उसके बाद रोज मैं उसे कुछ देर तक बताता रहता था। उसकी वह पुस्तक पूरी करा दी। इस प्रकार जो-जो सिखाने लायक हो, वह सिखाते रहना चाहिए और सीखते भी रहना चाहिए। यह सबसे बन आनेकी बात नहीं है। पर उद्योग और भक्ति तो सबसे बन आ सकती है। उन्हें करना चाहिए, और इस उद्योगके सिवाय मुझे तो सुखका दूसरा उपाय नहीं दिखाई देता है।

: १४ :

गांधीजीकी सिखावन

अभी इस समय दिल्लीमें जमुना नदीके किनारेपर एक महान् पुरुष-की देह अग्निमें जल रही है। हम यहां जिस तरह अब प्रार्थना कर रहे हैं उसी तरह हिंदुस्तानभरमें प्रार्थना चल रही है। कलके ही दिन ! शामके

पांच बज गये थे । प्रार्थनाका समय हुआ और गांधीजी प्रार्थनाके लिए निकले । प्रार्थनाके लिए लोग जमा हुए थे । गांधीजी प्रार्थनाकी जगहपर पहुंचे ही थे कि किसी नौजवानने आगे झपटकर गांधीजीकी देहपर गोलियां चलाईं । गांधीजीकी देह गिर पड़ी । खूनकी धारा बहने लगी । बीस मिनटोंके बाद देहका जीवन समाप्त हुआ । सरदार वल्लभभाईने एक बात बड़े महत्त्वकी कही । वह यह कि गांधीजीके चेहरेपर दया-भाव तथा माफीका भाव, यानी अपराधीके प्रति क्षमावृत्ति, दिखाई देती थी । आगे चलकर वल्लभभाईने कहा कि इस समय कितना ही दुःख क्यों न हुआ हो, गुस्सा नहीं आने देना चाहिए और यदि आये भी तो उसे रोकना चाहिए । गांधीजीने जो चीज हमें सिखाई उसका अमल उनके जीते-जी हम नहीं कर पाये । लेकिन अब उनकी मृत्युके बाद तो करें ।

ऐसी ही घटना पांच हजार साल पहले हिंदुस्तानमें घटी थी । भगवान् श्रीकृष्णकी उमर ढल गई थी । जीवनभर उद्योग करके वे थक गये थे । गांधीजीकी तरह उन्होंने जनताकी निरंतर सेवा की थी । थके हुए एक बार जंगलमें वे किसी पेड़के सहारे आराम ले रहे थे । इतनेमें एक व्याध यानी शिकारी, उस जंगलमें पहुंचा । उसे लगा कि कोई हिरन पेड़के सहारे बैठा है । शिकारी जो ठहरा ! उसने लक्ष्य साधकर तीर छोड़ा । तीर भगवान-के पांवमें लगकर खूनकी धारा बहने लगी । शिकारी अपना शिकार पकड़ने-के इरादेसे नजदीक आया । लेकिन सामने प्रत्यक्ष भगवानको जख्मी पाया । उसे बड़ा दुःख हुआ । अपने हाथोंसे बड़ा पाप हुआ, ऐसा सोचकर वह दुःखी हुआ । भगवान् श्रीकृष्ण तो थोड़े ही समयमें चल बसे । लेकिन मरनेके पहले उन्होंने उस व्याधसे कहा, "हे व्याध ! डरना नहीं । मृत्युके लिए कुछ-न-कुछ निमित्त लगता ही है । तू निमित्त बन गया ।" ऐसा कहकर भगवान्ने उसे आशीर्वाद दिया ।

इसी तरहकी घटना पांच हजार वर्षोंके बाद फिरसे घटी है । यों देखनेमें तो ऐसा दिखाई देगा कि उस व्याधने अज्ञानवश तीर मारा था । यहां इस नौजवानने सोच-समझकर, गांधीजीको ठीक पहचानकर, पिस्तौल चलाई । इसी कामके लिए वह दिल्ली गया था । वह दिल्लीका रहनेवाला नहीं था । गांधीजीके प्रार्थनाके लिए जाते हुए वह उनके पास पहुंचा और

बिल्कुल नजदीक जाकर उसने गोलियां छोड़ीं। ऊपरसे यों दिखाई देगा कि गांधीजीको वह जानता था। लेकिन वास्तवमें ऐसा नहीं था। जैसा वह व्याध अज्ञानी, वैसा ही यह युवक भी अज्ञानी था। उसकी यह भावना थी कि गांधीजी हिंदूधर्मको हानि पहुंचा रहे हैं और इसलिए उसने उनपर गोलियां छोड़ीं। लेकिन दुनियामें आज हिंदूधर्मका नाम यदि किसीने उज्ज्वल रखा तो वह गांधीजीने ही रखा है। परसों उन्होंने खुद ही कहा था कि "हिंदूधर्मकी रक्षा करनेके लिए किसी मनुष्यको नियुक्त करनेकी जरूरत यदि भगवानको महसूस हुई तो इस कामके लिए वह मुझे ही नियुक्त करेगा।" इतना आत्मविश्वास उनमें था। उन्हें जो सत्य मालूम होता था, वह वे साफ-सीधे कह देते थे। बड़े लोग अपनी रक्षाके लिए 'बॉडी गार्ड' यानी देह-रक्षक रखते हैं। गांधीजीने ऐसे देह-रक्षक कभी नहीं रखे। देहको वे तुच्छ समझते थे। मृत्युके पहले ही वे मरकर रहे थे। निर्भयता उनका व्रत था। जहां किसी फौजको भी जानेकी हिम्मत न हो वहां अकेले जानेकी उनकी तैयारी थी।

जो सत्य है, लोगोंके हितका है, वही कहना चाहिए, भले ही किसीको अच्छा लगे, बुरा लगे, या उसका परिणाम कुछ भी निकले, ऐसी उनकी वृत्ति थी। वे कहते थे—"मृत्युसे डरनेका कोई कारण ही नहीं है; क्योंकि हम सब ईश्वरके ही हाथमें हैं। हमसे जबतक वह सेवा लेना चाहता है तबतक लेगा और जिस क्षण वह उठा लेना चाहेगा उस क्षण उठा लेगा। इसलिए जो सत्य लगता है, वही कहना हमारा धर्म है। ऐसे समय यदि मैं शायद अकेला भी पड़ जाऊं और सारी दुनिया मेरे खिलाफ हो जाय तो भी मुझे जो सत्य दिखाई देता है, वही मुझे कहना चाहिए।" उनकी इस तरहकी निर्भीकतापूर्ण वृत्ति रही। और उनकी मृत्यु भी किस अवस्थामें हुई! वे प्रार्थनाकी तैयारीमें थे। यानी उस समय उनके चित्तमें भगवानके सिवा दूसरा विचार नहीं था। उनका सारा जीवन ही आपने सेवामय तथा परोप-कारमय देखा है; परंतु फिर भी प्रार्थनाकी भावना और प्रार्थनाका समय विशेष पवित्र कहना चाहिए। राजनैतिक आदि अनेक महत्त्वके कामोंमें वे रहते थे, लेकिन उनकी प्रार्थनाका समय कभी नहीं टला। ऐसे प्रार्थनाके समय ही देहमेंसे मुक्त होनेके लिए मानो भगवानने आदमी भेजा। अपना

काम करते हुए मृत्यु हुई, इस विषयका उनके दिलका आनंद और निमित्त मात्र बने हुए गुनहगारके प्रति दयाभाव, इस तरहका दोहरा भाव उनके चेहरे पर मृत्युके समय था, ऐसा सरदारजीको दिखाई दिया ।

गांधीजीने उपवास छोड़ा उस समय देशमें शांति रखनेका जिन्होंने वचन दिया उनमें कांग्रेस, मुसलमान, सिख, हिंदूमहासभा, राष्ट्रीय स्वयं-सेवक-दल आदि सब थे । हम प्रेमके साथ रहेंगे, ऐसा उन्होंने वचन दिया और लोग उस तरह रहने भी लगे थे कि एक दिन प्रार्थना-सभामें गांधीजीको लक्ष्य करके किसीने बम फेंका । वह उन्हें लगा नहीं । उस दिन प्रार्थनामें गांधीजीने कहा, "मैं देशकी और धर्मकी सेवा भगवानकी प्रेरणासे करता हूं । जिस दिन मैं चला जाऊं, ऐसी उसकी मर्जी होगी उस दिन वह मुझे ले जायगा । इसलिए मृत्युके विषयमें मुझे कुछ भी विशेष नहीं मालूम होता है ।" दूसरा प्रयोग कल हुआ । भगवान्ने गांधीजीको मुक्त किया ।

हम सब देह छोड़कर जानेवाले हैं । इसलिए मृत्युके विषयमें तनिक भी दुःख माननेका कारण नहीं है । माताकी अपने दो-चार बच्चोंके विषय में जो वृत्ति रहती है वह दुनियाके सब लोगोंके विषयमें गांधीजीकी थी । हिंदू, हरिजन, मुसलमान, ईसाई और जिन राज्यकर्ताओंसे लड़े वे अंग्रेज, इन सबके प्रति उनके दिलमें प्रेम था । सज्जनोंपर जिस तरह प्रेम करते हैं वैसे दुर्जनोंपर भी करो, शत्रुको प्रेमसे जीतो, ऐसा मंत्र उन्होंने दिया । उन्होंने ही हमें सत्याग्रह सिखाया । खुद आपत्तियां झेलकर सामनेवालों-को जरा भी खतरा न पहुंचे, यह शिक्षा उन्होंने हमें दी । ऐसा पुरुष देह छोड़कर जाता है तब वह रोनेका प्रसंग नहीं होता । मां हमें छोड़कर जाती है उस समय जैसा लगता है वैसा गांधीजीके मरनेसे लगेगा जरूर; लेकिन उससे हममें उदासी नहीं आनी चाहिए ।

एकनाथ महाराजने भागवतमें कहा है, "मरनेवाले गुरूका और रोने-वाले चेलेका—दोनोंका बोध व्यर्थ गया ।" एक मृत्युसे डरनेवाला गुरू मृत्युके समय कहने लगा, "अरे, मैं मरता हूं ।" तब उसके शिष्य भी रोने लगे । इस तरह गुरू मरनेवाला और चेला रोनेवाला दोनोंने ही जो बोध (ज्ञान) प्राप्त किया था वह फिजूल गया, ऐसा एकनाथ महाराजने कहा है ।

गांधीजी मृत्युसे डरनेवाले गुरू नहीं थे । जिस सेवामें निष्काम भावनासे देह लगाई जाय वह सेवा ही भगवान्‌की सेवा है । वह करते हुए जिस दिन वह बुलायेगा उस दिन जानेके लिए तैयार रहें, ऐसी सिखावन उन्होंने हमें दी । तदनुसार ही उनकी मृत्यु हुई । इसलिए यह उत्तम अंत हुआ, ऐसा हम पहचान लें और काम करने लग जायं ।

कुछ दिन पहले ही आश्रमके कुछ भाई गांधीजीसे मिलने गये थे । उस समय उनका उपवास जारी था । उपवासमें वे जिंदा रहेंगे या मर जायंगे, इसका किसको पता था ? आश्रमके भाइयोंने उनसे पूछा—"आप यदि इस उपवासमें चल बसे तो हम कौनसा काम करें ?" गांधीजी ने जवाब दिया—"इस तरहका सवाल ही आपके सामने कैसे खड़ा हुआ ? मैंने तो आपके लिए काफी काम रखा है । हिंदुस्तानमें खादी करनी है । खादीका शास्त्र बनाना है । इतना बड़ा काम आपके लिए होते हुए भी 'क्या करें ?' ऐसी चिंता क्यों होती है ?"

इसलिए हमारे लिए उन्होंने जो काम रख छोड़ा, वह हमें पूरा करना चाहिए । असंख्य जातियां और जमातें मिलकर हम यहां एक साथ रहते हैं । चालीस करोड़का अपना देश है, यह हमारा बड़ा भाग्य है; लेकिन एक-दूसरेसे प्रेम करते हुए रहेंगे, तभी वह होगा । इतना बड़ा देश होनेका भाग्य शायद ही मिलता है । हमारे देशमें अनेक धर्म हैं, उनेक पंथ हैं । मैं तो, यह हमारा वैभव है, यह समझता हूं । लेकिन हम सब प्रेमके साथ रहेंगे तभी यह वैभव सिद्ध होगा । हम प्रेमसे रहें, यही गांधीजीने अपने अंतिम उपवाससे हमें सिखलाया है । बच्चे एक-दूसरेके साथ प्रेमसे रहें, इसलिए जिस तरह माता भोजन छोड़ देती है, वैसा ही उनका वह उपवास था । सारे मनुष्य एकसे हैं, यह उन्होंने हमें सिखाया । हरिजन-सेवा, खादी-सेवा, ग्राम-सेवा, भंगियोंकी सेवा आदि अनेक सेवा-कार्य हमारे लिए वे छोड़ गये हैं ।

अब इस समय मैं अधिक कहना नहीं चाहता हूं । सबके दिल एक विशेष भावनासे भरे हुए हैं । लेकिन मुझे कहना यह है कि केवल शोक करते न बैठें । हमारे सामने जो काम पड़ा है उसमें लग जायं । यह जो मैं आपको कह रहा हूं वैसा ही आप मुझे भी कहें । इस तरह एक-दूसरेको बोध

देते हुए हम सब गांधीजीके बताये काम करने लग जायं । गीतामें और कुरानमें कहा है कि भक्त और सज्जन एक-दूसरेको बोध देते हैं और एक-दूसरेपर प्रेम करते हैं । वैसा हम करें । आज तक बच्चोंकी तरह हम कभी-कभी झगड़ते भी थे । हमें वे सम्भाल लेते थे । वैसा सबको सम्भालने-वाला अब नहीं रहा है । इसलिए एक-दूसरेंको बोध देते हुए और एक दूसरेपर प्रेम करते हुए हम सब मिलकर गांधीजीकी सिखावन पर चलें ।
३१ जनवरी' ४८

: १५ :
सर्वोदय की विचार-सरणी

एक साल पहले इसी दिन और ठीक इसी समय वह घटना घटी कि जिसके कारण हम सबको हमेशाके लिए शर्मिंदा होना पड़ेगा । लेकिन वह घटना ऐसी भी है कि जिससे हमें चिरंतन प्रकाश मिल सकता है । उस घटनाने हमें देह और आत्माका पृथक्करण अच्छी तरह सिखा दिया है । मुझसे बहुत लोगोंने पूछा कि गांधीजी ईश्वरके निःसीम उपासक थे तो ईश्वरने उनकी रक्षा क्यों नहीं की ? ईश्वरने उनकी जो रक्षा की, उससे अधिक रक्षा और हो भी क्या सकती थी ? देहासक्तिके कारण हम उसे न पहचानें, यह दूसरी बात है । मुझे यहां कुरानका एक वचन याद आता है, जिसमें कहा गया है कि जो ईश्वरकी राहपर चलते हुए कतल किये जाते हैं, मत समझो कि वे मरे हैं । वे तो जिंदा हैं, यद्यपि तुम देखते नहीं ।

> **"ला तक़ूलु लि मंय् युक्तल**
> **फी सबीलिल्लाहि अम्वात्, बल् अहयाऊं**
> **वलाकिल् ला तश् उरून ।"**

ईश्वरकी राहपर चलते हुए मरना भी जिंदगी है और शैतानकी राह पर जिंदा रहना भी मौत है । गांधीजीने ईश्वरकी राहपर, सचाई और

लोगोंको देते रहे, उसीके लिए वह कतल किये गए । धन्य है उनका जीवन और धन्य है उनकी मृत्यु !

भलाईकी राहपर चलनेकी शिक्षा अनेक सत्पुरुषोंने दी है; लेकिन मानवको अभी पूरा यकीन नहीं हुआ है कि भलाईसे भला होता ही है । वह अभीतक प्रयोग कर रहा है । देखता है कि क्या बुराई बोनेसे भी भला नहीं उग सकता ? बबूल बोनेसे आम और आम बोनेसे बबूल उगेगा, ऐसी शंका तो उसके मन में नहीं आती है । शायद पहलेके जमानेमें यह शंका भी उसको रही होगी, लेकिन अब तो भौतिक सृष्टिमें 'यथा बीज तथा फल' वाला न्याय उसको जंच गया है, फिर भी नैतिक सृष्टिमें उस न्यायके विषयमें उसे शंका है । साधारण तौरपर भलाईसे भला होता है, यह उसने पाया है । लेकिन खालिस भलाई लाभदायी हो सकती है, ऐसा निर्णय अभी उसके पास नहीं है ।

दूसरे कुछ लोगोंको खालिस भलाई मंजूर है, लेकिन निजी जीवनमें । व्यक्तिगत जीवनमें शुद्ध नीति बरतनी चाहिए, उससे मोक्ष तक पा सकते हैं; लेकिन सामाजिक जीवनमें भलाईके साथ बुराईका कुछ मिश्रण किये बिना नहीं चलेगा, ऐसा उनका खयाल है । सत्य और असत्यके मिश्रणपर दुनिया टिकती है, ऐसा यह विचार है । गांधीजीने इसको कभी नहीं माना और सत्य, अहिंसा आदि मूलभूत सिद्धांतोंका अमल सामाजिक तौरपर हमसे करवाया, जिसके फलस्वरूप एक किस्मका स्वराज्य भी हमने पाया है । जिस योग्यताका हमारा अमल था उस योग्यताका हमारा यह स्वराज्य है । उसके लिए वे सिद्धांतत: जिम्मेदार नहीं हैं, हमारा अमल जिम्मेदार है । एक त्रिकोणमें जो सिद्धांत साबित होता है वह सब त्रिकोणोंको लागू होता है । व्यक्तिके लिए अगर शुद्धनीति कल्याणकारी है तो समाजके लिए भी वह वैसी ही कल्याणकारी होनी चाहिए ।

कुछ लोगोंका खयाल है कि सत्यकी कसौटीपर अपने उद्देश्योंको कस लें तो बस है । फिर साधन कैसे भी हों, चल जायंगे । लेकिन गांधीजीने इस विचारका हमेशा विरोध किया है । उन्होंने तो यहांतक कह दिया था कि मैं सत्यके लिए स्वराज्य भी छोड़नेको तैयार होऊंगा । मतलब उनका यह नहीं था कि वह स्वराज्य नहीं चाहते थे, या उसकी कीमत कम समझते थे ।

वह तो साधन-शुद्धिका महत्त्व बताना चाहते थे। स्वराज्यके लिए वह जिंदगी भर लड़े। लेकिन वह कहते थे कि स्वराज्य तो सत्यमय साधनोंसे ही मिल सकता है। शुद्ध साधनोंसे प्राप्त किया हुआ स्वराज्य ही सच्चा स्वराज्य होगा। साधकको साध्यकी अपेक्षा साधनके बारेमें ही अधिक सोचना चाहिए। साधनकी जहां पराकाष्ठा होती है, वहीं साध्यका दर्शन होता है। इसलिए साध्य और साधनका भेद भी काल्पनिक है। साधनोंसे साध्य हासिल होता है, इतना ही नहीं, बल्कि उसका रूप भी साधनों पर निर्भर रहता है। वैसे, हरेकको अपना उद्देश्य या मकसद अच्छा ही लगता है। इसलिए अच्छे मकसदका दावा कोई खास कीमत नहीं रखता। साध्य-साधनोंमें विसंगति नहीं होनी चाहिए, यह विचार वैसे नया नहीं है; लेकिन उसका प्रयोग जिस बड़े पैमानेपर गांधीजीने हिंदुस्तानमें किया, वह बेमिसाल है।

दूसरे कुछ लोग कहते हैं कि सचाई और भलाईका आग्रह तो अच्छा है, लेकिन हर हालतमें क्रियाशील रहनेका महत्त्व अधिक है। अगर भलाई रखनेके प्रयत्नमें क्रियाशीलतामें बाधा आती है तो भलाईका आग्रह कुछ ढीला करके, या उस आदर्शसे कुछ नीचे उतरकर, क्रियाशील रहना चाहिए, निष्क्रिय हरगिज नहीं बनाना चाहिए। मैं मानता हूं कि यह भी एक मोह है। जेलमें जब लोगोंको अधिक दिन तक रहना पड़ता था, तो उसको 'जेलमें सड़ना' नाम दिया जाता था। तब गांधीजी समझाते थे कि शुद्ध पुरुषकी निष्क्रियतामें भी महान् शक्ति होती है। गीताने अपनी अनुपम भाषामें इसीको अकर्ममें कर्म कहा है। क्रियाशीलता निःसंशय महान् है। लेकिन सचाई और भलाई उससे भी बढ़कर है। विशेष परिस्थितिमें निष्क्रिय भी रह सकते हैं; लेकिन सचाईको कभी छोड़ नहीं सकते।

कुछ लोग जो अपनेको व्यवहारवादी कहते हैं, सचाई पसंद करते हैं; लेकिन एकपक्षी सचाईमें खतरा देखते हैं। कहते हैं कि सामनेवाला अगर असत्यका उपयोग करता है, हिंसा करता है, तो हम ही सत्य और अहिंसा पर डटे रहेंगे तो हमारा नुकसान होगा। ये लोग वास्तवमें सचाई-का मूल्य ही नहीं जानते। अगर जानते होते तो ऐसी दलील नहीं करते। हमारे प्रतिपक्षी भूखे रहते हैं तो हम ही क्यों खायं, ऐसी दलील वे नहीं करते

हैं। जानते हैं कि जो खायगा, वह ताकत पायगा। इसका प्रतिपक्षीसे कोई संबंध नहीं है। एकपक्षी खाना तो मंजूर है; लेकिन एकपक्षी सचाई, प्रीति, मंजूर नहीं है। इसका क्या अर्थ है? सामनेवाला जैसा होगा वैसे हम बनेंगे, इसका मतलब यही हुआ कि वह जैसा हमें नचायेगा वैसे हम नाचेंगे। यह पुरुषार्थहीन विचार है और उससे एक दुष्टचक्र तैयार होता है। दुर्जनताका एक सिलसिला जारी है। उसको तोड़ना है तो हिम्मत करनी चाहिए और निष्ठापूर्वक, परिणामका हिसाब लगाये बगैर, प्रेम करना चाहिए, उदारता रखनी चाहिए। आखिर सत्य, प्रेम और सज्जनता ही भावरूप चीजें हैं। असत्यादि अभावरूप हैं। प्रकाश और अंधकारका यह झगड़ा है, उसमें प्रकाशको डर कैसा?

यह है सत्याग्रहकी विचार-सरणी, जैसा कि मैं समझता हूं। इसीमें सबका भला है, इसलिए इसको सर्वोदयकी विचार-सरणी भी कहते हैं। गांधीजीकी हत्या हमारे लिए एक चुनौती है। अगर सचाईमें हमारी परम-निष्ठा है, उसका अमल हमारे निजी और सामाजिक जीवनमें करनेकी वृत्ति हम रखते हैं, तभी इस चुनौतीको हम स्वीकार कर सकते हैं, नहीं तो हम उस चुनौतीको स्वीकार नहीं कर सकते। इतना ही नहीं, बल्कि इच्छा न रखते हुए हम उस हत्याकारीके पक्षमें ही दाखिल हो जाते हैं।

मैं आशा करता हूं कि गांधीजीकी देहमुक्ति हममें शक्ति-संचार करेगी और हम सत्यनिष्ठ जीवन जीकर सर्वोदयकी तैयारीके अधिकारी बनेंगे।

३० जनवरी' १९४९

: १६ :

सेवा व्यक्तिकी, भक्ति समाजकी

बीस बरससे मैंने कुछ किया है तो सार्वजनिक काम ही किया है। जब विद्यार्थी अवस्थामें था तब भी मेरी प्रवृत्ति सार्वजनिक सेवाकी ही थी। यों

कह सकते हैं कि जीवनमें मैंने सिवा सार्वजनिक सेवाके न कुछ किया है, न करनेकी इच्छा ही है। पर मेरा आशय है कि जिस प्रकार सार्वजनिक सेवा और लोगोंने की है वैसी मैंने नहीं की। सबेरे एक भाईने मुझसे पूछा, "आप कांग्रेसमें नहीं जायंगे क्या ?" मैंने कहा, "मैं तो कांग्रेसमें कभी नहीं गया।" सेवाकी मेरी पद्धति और प्रवृत्ति कांग्रेसमें जाना और वहां बहस करना नहीं रही है। इसका महत्त्व मैं जानता हूं सही, पर यह मेरे लिए नहीं है। मैं कांग्रेसकी प्रवृत्तियोंसे अनभिज्ञ नहीं हूं। विचार करनेवाले भाई तो बहुत हैं। मैं तो उन लोगोंमें हूं जो मूकसेवा करना चाहते हैं। फिर भी मेरी सेवा उतनी मूक नहीं हो सकी जितनी कि मैं चाहता हूं। सेवाका मेरा उद्देश्य भक्ति-भाव है। भक्ति-भावसे ही मैं सेवा करता हूं और बीस सालसे प्रत्यक्ष सेवा कर रहा हूं। प्रचार अभी तक न किया है और न आगे करनेकी संभावना ही है।

मैंने एक सूत्र-सा बना लिया है, "सेवा व्यक्तिकी, भक्ति समाजकी।" व्यक्तिकी भक्तिमें आसक्ति बढ़ती है, इसलिए भक्ति समाजकी करनी चाहिए। सेवा समाजकी करना चाहें तो कुछ भी नहीं कर सकते। समाज तो एक कल्पनामात्र है। कल्पनाकी हम सेवा नहीं कर सकते। माताकी सेवा करनेवाला लड़का दुनियाभरकी सेवा करता है, यह मेरी धारणा है। सेवा प्रत्यक्ष वस्तुकी ही हो सकती है, अप्रत्यक्ष वस्तुकी नहीं। समाज अप्रत्यक्ष, अव्यक्त या निर्गुण वस्तु है। सेवा तो वह है जो परमात्मातक पहुंचे। आजकल सेवाकी कुछ अनोखी-सी पद्धति देखनेमें आती है। सेवाके लिए हम विशालक्षेत्र चाहते हैं। पर अगर असली सेवा करनी है, सेवामय बन जाना है, अपनको सेवामें खपा देना है, तो किसी देहातमें चले जाइए। मुझसे एक भाईने कहा, "बुद्धिशाली लोगोंसे आप कहते हैं कि देहातमें चले जाइए। विशाल बुद्धिके विस्तारके लिए उतना लंबा-चौड़ा क्षेत्र वहां कहां है ?" मैंने कहा, "ऊंचाई तो है, अनंत आकाश तो है ? वह लंबा सफर नहीं कर सकता। पर ऊंचा सफर तो कर सकता है, गहरा तो जा सकता है ?" संत इतने ऊंचे चढ़ते थे कि उसका कोई हिसाब नहीं मिलता। कोई बड़े-से-बड़े विज्ञानवेत्ता भी आकाशकी ऊंचाई मालूम नहीं कर सकता। देहातमें हम लंबा-चौड़ा नहीं, पर ऊंचा सफर कर सकते हैं। वहां ऊंचे-से-

ऊंचे चढ़नेका अवसर है। ऊंची या गहरी सेवा वहां खूब हो सकती है। हमारी वह एकाग्र सेवा प्रथम श्रेणीकी सेवा हो जायगी और फलदायक भी होगी।

राष्ट्रके सारे प्रश्न देहातके व्यवहारमें आ जाते हैं। जितना समाजशास्त्र राष्ट्रमें है, उतना एक कुटुंबमें भी आ सकता है, देहातमें तो है ही। समाजशास्त्रके अध्ययनके लिए गांवमें काफी गुँजाइश है। मैं तो इस विश्वासको बुद्धिका अभाव ही मानूंगा कि प्रौढ़ विवाह प्रचलित होनेसे भारतवर्ष सुधर गया और बाल-विवाहसे बिगड़ गया था। प्रौढ़-विवाहमें भी अक्सर वैवाहिक आनंद देखनेमें नहीं आता और बाल-विवाहके भी ऐसे उदाहरण देखे गये हैं जिनमें पति-पत्नी सुख-शांतिसे रहते हैं। विवाह-संस्थामें संयमकी पवित्र भावना कैसे आये, यह मसला हमने हल कर लिया तो सब कुछ कर लिया। विवाहका उद्देश्य ही यह है। इसी प्रकारहिंदुस्तानकी राजनीतिका नमूना भी देहातमें पूरा-पूरा मिल जाता है। एक देहातकी भी जनताको हमने आत्म-निर्भर कर दिया तो बहुत बड़ा काम कर दिया। वहांके अर्थशास्त्रको कुछ व्यवस्थित कर दिया तो बहुत-कुछ हो गया। मुझे आशा है कि देहाती भाई-बहनोंके बीचमें रहकर आप उनके साथ एकरस हो जायंगे। हां, वहां जाकर हमें उनके साथ दरिद्रनारायण बनना है, पर 'बेवकूफ-नारायण' नहीं। अपनी बुद्धिका उनके लिए उपयोग करना है, निरहंकार बनना है। हम यह न समझें कि वे सब निरे बेवकूफ ही होते हैं। भारतके देहातोंका अनुभव और देशोंकी तरह चंद सदियोंका नहीं, कम-से-कम बीस हजार वर्षका है। वहां जो अनुभव है, उससे हमें लाभ उठाना है। ज्ञान-भंडारकी तरह द्रव्य-भंडार भी वहींसे पैदा करना है और पूरी तरहसे निरहंकार बनकर उसमें प्रवेश करना है।

एक प्रश्न यह है कि सवर्ण हिंदू समझते हैं कि ये सुधारक तो गांवको बिगाड़ रहे हैं, सवर्णोंके साथ हमारा उतना संबंध नहीं जितना कि हरिजनोंके साथ है। सवर्णोंको अपनी प्रवृत्तिकी ओर खींचने और उनकी शंका दूर करनेके विषयमें सोचा क्या गया है?

अस्पृश्यता-निवारणका काम हमें दो प्रकारसे करना है। एक तो हरिजनोंकी आर्थिक अवस्था और उनकी मनोवृत्तिमें सुधार करके और दूसरे

हिंदू-धर्मकी शुद्धि करके, अर्थात् उसको उसके असली रूपमें लाकर। अस्पृश्यता माननेवाले सब दुर्जन हैं, यह हम न मानें। वे अज्ञानमें हैं, ऐसा मान सकते हैं। वे दुर्जन या दुष्ट बुद्धि नहीं हैं, यह तो उनके विचारोंकी संकीर्णता है। प्लेटोने कहा था, "सिवा ग्रीक लोगोंके मेरे ग्रंथोंका अध्ययन और कोई न करे।" इसका यह अर्थ हुआ कि ग्रीक ही सर्वश्रेष्ठ हैं। मनुष्यकी आत्माव्यापक है, पर व्यापकता उसमें रह ही जाती है। आखिर मनुष्यकी आत्मा एक देहके अंदर बसी हुई है। इसलिए सनातनियोंके प्रति खूब प्रेमभाव होना चाहिए। हमें उनका विरोध नहीं करना चाहिए। हम तो वहां बैठकर चुपचाप सेवा करें। हरिजनोंके साथ-साथ जहां जब अवसर मिले, सवर्णोंकी भी सेवा करें। एक भाई हरिजनोंका स्पर्श नहीं करता, पर वह दयालु है। हम उसके पास जायं, उसकी दयालुताका लाभ उठायें। उसकी मर्यादाको समझकर उससे बात करें। थोड़े दिनमें उसका हृदय शुद्ध हो जायगा, उसके अंतरका अंधकार दूर हो जायगा। सूर्यकी तरह हमारी सेवाका प्रकाश स्वतः पहुंच जायगा। हमारे प्रकाशमें हमारा विश्वास होना चाहिए। प्रकाश और अंधकारकी लड़ाई तो एक क्षणमें ही खत्म हो जाती है। लेकिन तरीका हमारा अहिंसाका हो, प्रेमका हो। मेरी मर्यादा यह है कि मैं दरवाजा ढकेलकर अंदर नहीं चला जाऊंगा। मैं तो सूर्यकी किरणोंका अनुकरण करूंगा। दीवारमें, छप्परमें या किवाड़में कहीं जरा-सा भी छिद्र होता है तो किरणें चुपचाप अंदर चली जाती हैं। यही दृष्टि हमें रखनी चाहिए। हममें जो विचार है, वह प्रकाश है, यह मानना चाहिए। किसी गुफाका एक लाख वर्षका भी अंधकार एक क्षणमें ही प्रकाशसे दूर हो जायगा। लेकिन यह होगा अहिंसाके ही तरीकेसे। सनातनियोंको गालियां देना तो अहिंसाका तरीका नहीं है। हमें मुंहसे खूब तौल-तौलकर शब्द निकालने चाहिए। हमारी वाणीकी कटुता यदि चली गई तो उनका हृदय पलट जायगा। ऐसी लड़ाई आजकी नहीं, बहुत पुरानी है। संतोंका जीवन अपने विरोधियोंके साथ झगड़नेमें ही बीता। पर उनके झगड़नेका तरीका प्रेमका था। जिस भगवान्‌ने हमें बुद्धि दी है, उसीने हमारे प्रति-पक्षियोंको भी दी है। आजसे पंद्रह-बीस वर्ष पहले हम भी तो उन्हींकी तरह अस्पृश्यता मानते थे। हमारे संतोंने तो आत्मविश्वासके

साथ काम किया है । वाद-विवादमें पड़ना हमारा काम नहीं । हम तो सेवा करते-करते ही खत्म हो जायं । हमारे प्रचार-कार्यका सेवा ही विशेष साधन है । दूसरोंके दोष बताने और अपने विचार सामने रखनेका मोह हमें छोड़ देना चाहिए । मां अपने बच्चेके दोष थोड़े ही बताती है, वह तो उसके ऊपर प्रेमकी वर्षा करती है, उसके बाद फिर कहीं दोष बतलाती है । असर ऐसी ही प्रेममयी सेवाका होता है ।

× × ×

जब हम सेवा करनेका उद्देश्य लेकर देहातमें जाते हैं तब हमें यह नहीं सूझता कि कार्यका आरंभ किस प्रकार करना चाहिए । हम शहरोंमें रहनेके आदी हो गये हैं । देहातकी सेवा करनेकी इच्छा ही हमारा मूलधन—हमारी पूंजी—होती है । अब सवाल यह खड़ा हो जाता है कि इतनी थोड़ी पूंजीसे व्यापार किस तरह शुरू करें । मेरी सलाह तो यह है कि हमें देहातमें जाकर व्यक्तियोंकी सेवा करनेकी तरफ अपना ध्यान रखना चाहिए, न कि सारे समाजकी तरफ । सारे समाजके समीप पहुंचना संभव ही नहीं है । रणभूमिमें लड़नेवाले सिपाहीसे अगर हम पूछें कि किसके साथ लड़ना है तो वह कहेगा, "शत्रुके साथ ।" लेकिन लड़ते समय वह अपना निशाना किसी एक ही व्यक्तिपर लगाता है । ठीक इसी प्रकार हमें भी सेवा-कार्य करना होगा । समाज अव्यक्त है, परंतु व्यक्ति व्यक्त और स्पष्ट है । उसकी सेवा हम कर सकते हैं । डाक्टरके पास जितने रोगी जाते हैं, उन सबको वह दवा देता है, मगर हरेक रोगीका वह खयाल नहीं रखता । प्रोफेसर सारे क्लासको पढ़ाता है, पर हरेक विद्यार्थीका वह ध्यान नहीं रखता । ऐसी सेवासे बहुत लाभ नहीं हो सकता । यह डाक्टर जब कुछ रोगियोंके व्यक्तिगत संपर्कमें आयेगा, या प्रोफेसर जब कुछ चुने हुए विद्यार्थियोंपर ही विशेष ध्यान देगा, तभी वास्तविक लाभ हो सकेगा । हां, इतना खयाल हमें जरूर रखना होगा कि व्यक्तियोंकी सेवा करनेमें अन्य व्यक्तियोंकी हिंसा, नाश वा हानि न हो । देहातमें जाकर इस तरह अगर कोई कार्यकर्ता सिर्फ पच्चीस व्यक्तियोंकी ही सेवा कर सका, तो समझना चाहिए कि उसने काफी काम कर लिया । ग्राम-जीवनमें प्रवेश करनेका यही सुलभ तथा सफल मार्ग है । मैं यह अनुभव कर रहा हूं कि जिन्होंने मेरी व्यक्तिगत सेवाकी है, उन्होंने मेरे जीवन-

पर अधिक प्रभाव डाला है। बापूजीके लेख मुझे कम ही याद आते हैं; लेकिन उनके हाथका परोसा हुआ भोजन मुझे सदा याद आता है। और मैं मानता हूं कि उससे मेरे जीवनमें बहुत परिवर्तन हुआ है। यह है व्यक्तिगत सेवाका प्रभाव। व्यक्तियोंकी सेवामें समाज-सेवाका निषेध नहीं है। समाज गीताकी भाषामें अनिर्देश्य है, निर्गुण है और व्यक्ति सगुण और साकार, अतः व्यक्तिकी सेवा करना आसान है।

: १७ :

ग्राम-सेवा और ग्राम-धर्म

हमें देहातियोंके सामने ग्रामसेवाकी कल्पना रखनी चाहिए, न कि राष्ट्र-धर्मकी। उनके सामने राष्ट्र-धर्मकी बातें करनेसे लाभ न होगा। ग्राम-धर्म उनके लिए जितना स्वाभाविक और सहज है, उतना राष्ट्र-धर्म नहीं। इसलिए हमें उनके सामने ग्राम-धर्म ही रखना चाहिए, राष्ट्र-धर्म नहीं। ग्राम-धर्म सगुण, साकार और प्रत्यक्ष होता है; राष्ट्र-धर्म निर्गुण, निराकार और परोक्ष होता है। बच्चेके लिए त्याग करना मांको सिखाना नहीं पड़ता। आपसके झगड़े मिटाना, गांवकी सफाई तथा स्वास्थ्यका ध्यान रखना, आयात-निर्यातकी वस्तुओं और ग्रामके पुराने उद्योगोंकी जांच करना, नये उद्योग खोज निकालना, इत्यादि गांवके जीवन-व्यवहारसे संबंध रखनेवाली हरेक बात ग्राम-धर्ममें आ जाती है। पुरानी पंचायत-पद्धति नष्ट हो जानेसे देहातकी बड़ी हानि हुई है। झगड़े निबटानेमें पंचायतका बहुत उपयोग होता था। असेंबलीके चुनावसे हमें यह अनुभव हुआ है कि देहातियोंको राष्ट्र-धर्म समझाना कितना कठिन है। सरदार वल्लभभाई और पंडित मालवीयजीके बीच मतभेद हो गया, अब इसमें बेचारा देहाती समझे तो क्या समझे। उसके मनमें दोनों ही नेता समानरूपसे पूज्य हैं। वह किसे माने और किसे छोड़े? इसलिए ग्राम-सेवामें हमें ग्राम-धर्म ही अपने सामने रखना चाहिए। वैदिक ऋषियोंकी भांति हमारी भी प्रार्थना यही

होनी चाहिए कि "ग्रामे अस्मिन अनातुरम्"--हमारे ग्राममें बीमारी न हो।

अगली बात जो मैं कहना चाहता हूं वह है सेवकके रहन-सहनके संबंधकी। सेवककी आवश्यकताएं देहातियोंसे कुछ अधिक होनेपर भी वह ग्राम-सेवा कर सकता है। लेकिन उसकी वे आवश्यकताएं विजातीय नहीं, सजातीय होनी चाहिए। किसी सेवकको दूधकी आवश्यकता है, दूधके बिना उसका काम नहीं चल सकता, और देहातियोंको तो घी-दूध आजकल नसीब नहीं होता, तो भी देहातमें रहकर वह दूध ले सकता है; क्योंकि दूध सजातीय अर्थात् देहातमें पैदा होनेवाली चीज है। किंतु सुगंधित साबुन देहातमें पैदा होनेवाली चीज नहीं है। इसलिए साबुनको विजातीय आवश्यकता समझना चाहिए और सेवकको उसका उपयोग नहीं करना चाहिए। कपड़े साफ रखनेकी बात लीजिए। देहाती लोग अपने कपड़े मैले रखते हैं, लकिन सेवकको तो उन्हें कपड़े साफ रखनेके लिए समझाना चाहिए। इसके लिए बाहरसे साबुन मंगाना और उसका प्रचार करना मैं ठीक नहीं समझता। देहातमें कपड़े साफ रखनेके लिए जो साधन उपलब्ध हैं या हो सकते हैं, उन्हींका उपयोग करके कपड़े साफ रखना और लोगोंको उसके विषयमें समझना सेवकका धर्म हो जाता है। देहातमें उपलब्ध होनेवाले साधनोंसे ही जीवनकी आवश्यकताओंकी पूर्त्ति करनेकी ओर उसकी हमेशा दृष्टि रहनी चाहिए। सजातीय वस्तुका उपयोग करनेमें भी सेवकको विवेक और संयमकी आवश्यकता तो रहती ही है। अखबारका शौक देहातमें पूरा न हो सकेगा।

खादी-प्रचारके कार्यमें अभीतक चरखेका ही उपयोग हुआ है। एक लाखके इनामवाले चरखेकी अभी खोज हो रही है। मैं उसे एक लाखका चरखा कहता हूं। लेकिन मेरे पास तो एक सवा लाखका चरखा है और वह है तकली। मैं सचमुच ही उसे सवा लाखका चरखा मानता हूं। खादी-उत्पत्तिके लिए चरखा उत्तम है, लेकिन सार्वजनिक वस्त्र-स्वावलंबनके लिए तकली ही उपयुक्त है। नदीका पाट चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, वह वर्षाका काम नहीं दे सकता। नदीका उपयोग तो नदीके तटपर रहनेवाले ही कर सकते हैं, पर वर्षा सबके लिए है। तकली वर्षाके समान है। जहां

कहीं वह चलेगी वहां वस्त्र-स्वावलंबनका कार्य अच्छी तरह चलेगा। मुझसे बिहारके एक भाई कहते थे कि वहां मजदूरीके लिए भी तकलीका उपयोग हो रहा है। तकलीपर कातनेवालोंको वहां हफ्तेमें तीन-चार पैसे मिल जाते हैं, लेकिन उनके कातनेकी जो गति है, वह तीन या चार गुनीतक बढ़ सकती है। गति बढ़ानेसे मजदूरी भी तीन या चार पांच गुनातक मिल सकेगी। यह कोई मामूली बात नहीं है। हमारे देशमें एक व्यक्तिको १४-१५ गज कपड़ा चाहिए। इसके लिए प्रतिदिन सिर्फ एकसौ तार कातनेकी जरूरत है। यह काम तकलीपर आध घंटेमें हो सकता है। चरखा बिगड़ता भी रहता है, पर तकली तो हमेशा आपकी सेवामें हाजिर रहती है। इसीलिए मैं उसे सवा लाखका चरखा मानता हूं।

देहातमें सफाईका काम करनेवाले सेवक कहते हैं कि कई दिनतक यह काम करते रहनेपर भी देहाती लोग हमारा साथ नहीं देते। यह शिकायत ठीक नहीं। स्व-धर्म समझकर ही अगर हम वह काम करेंगे तो अकेले रह जानेपर भी हमें उसका दुःख न होगा। सूर्य अकेला ही होता है न ? यह मेरा काम है। दूसरे करें या न करें, मुझे तो अपना काम करना ही चाहिए—यह समझकर जो सेवक कार्यारंभ करेगा उसको सिंहावलोकन करनेकी यानी यह देखनेकी कि मेरे पीछे मददके लिए कोई और है या नहीं, आवश्यकता ही न रहेगी। सफाई-संबंधी सेवा है ही ऐसी चीज कि वह व्यक्तियोंकी अपेक्षा समाजकी ही अधिकतया होगी और होनी चाहिए। परंतु सेवककी दृष्टि यह होनी चाहिए कि अन्य लोग अपनी जिम्मेदारी नहीं समझते, इसलिए उसे पूरा करना उसका कर्त्तव्य हो जाता है। उसमें सेवकका स्वार्थ भी है; क्योंकि मार्गकी गंदगीका असर उसके स्वास्थ्यपर भी अवश्य पड़ता है।

औषधि-वितरणमें एक बातका हमेशा खयाल रखना चाहिए कि हम अपने कार्यसे देहातियोंको पंगु तो नहीं बना रहे हैं। उसको तो स्वावलंबी बनाना है। उनको स्वाभाविक तथा संयमशील जीवन और नैसर्गिक उपचार सिखाने चाहिए। रोगकी दवाइयां देनेकी अपेक्षा हमें ऐसा जतन करना चाहिए कि रोग होने ही न पावे। यह काम देहातयोंको अच्छी और स्वच्छ आदतें सिखानेसे ही हो सकता है।

: १८ :

ग्राम-लक्ष्मीकी उपासना

हमारा यह देश बहुत बड़ा है। इसमें सात लाख देहात हैं। हमारे देशमें शहर बहुत थोड़े हैं। अगर औसत निकाला जाय तो दसमें एक आदमी शहरमें रहता है और नौ देहातमें रहते हैं। पैंतीस करोड़ लोगोंमेंसे ज्यादा-से-ज्यादा चार करोड़ शहरोंमें रहते हैं। इकतीस करोड़ देहातमें रहते हैं। लेकिन इन इकतीस करोड़का ध्यान शहरोंकी तरफ लगा रहता है। पहले ऐसा नहीं था। देहात मुहताज होकर शहरोंका मुंह नहीं ताकते थे। लेकिन आज सारी स्थिति बदल गई है।

आज किसानके दो ईश्वर होगये हैं। आजतक एक ही ईश्वर था। किसान आकाशकी तरफ देखता था—पानी बरसानेवाले ईश्वरकी तरफ देखता था। लेकिन आज चीजोंके भाव ठहरानेवाले देवताकी तरफ देखना पड़ता है। इसीको आस्मानी-सुलतानी कहते हैं। आस्मान भी रक्षा करे और सुलतान भी हिफाजत करे। परमात्मा खूब फसल दे और शहर भरपूर भाव दे। इस तरह इन देवताओंको—एक आकाशका और दूसरा अमेरिकाका—किसानको पूजना पड़ता है। लेकिन ऐसे दो-दो भगवान काम नहीं आयंगे। गांधी कहते हैं, ऊपरवाले ईश्वरको बनाये रखो और इस दूसरे देवताको छोड़ो। एक ईश्वर बस है।

अब इस दूसरे देवताकी, याने शहरिये भगवानकी, भक्तिसे छुटकारा पानेका उपाय मैं तुम लोगोंको बतलाता हूं। हमारे गांवकी सारी लक्ष्मी यहांसे उठकर शहरोंमें चली जाती है। अपने पीहरसे चल बसती है। इस ग्राम-लक्ष्मीके पैर गांवमें नहीं ठहरते। वह शहरकी तरफ दौड़ती है। पहाड़-पर पानी भरपूर बरसता है; लेकिन वह वहां कब ठहरता है। वह चारों तरफ भाग निकलता है। पहाड़ बेचारा कोरा-का-कोरा नंग-धड़ंग, गंजा-बूचा, खड़ा-का-खड़ा, रह जाता है। देहातकी लक्ष्मी इसी तरह चारों दिशाओंमें भाग खड़ी होती है। शहरोंकी तरफ बेतहाशा दौड़ती है। अगर हम उसे रोक सकें तो हमारे गांव सुखी होंगे।

यह देहाती लक्ष्मी कौन-कौनसे रास्तोंसे भागती है, सो देखो। उन रास्तोंको बंद कर दो। तब वह रुकी रहेगी। उसके भागनेका पहला रास्ता बाजार है, दूसरा शादी-ब्याह, तीसरा साहूकार, चौथा सरकार और पांचवां व्यसन। इन पांचों रास्तोंको बंद करना शुरू करें।

सबसे पहले ब्याह-शादीकी बात लीजिए। तुम लोग ब्याह-शादीमें कोई कम पैसा खर्च नहीं करते। उसके लिए कर्ज भी करते हो। लड़की बड़ी हो जाती है, अपने ससुरालमें जाकर गिरस्ती करने लगती है। लेकिन शादीके ऋणसे उसके मां-बाप मुक्त नहीं होते। यह रास्ता कैसे मूंदा जाय, सो बताता हूं। तुम कहोगे, 'खर्चमें कतर ब्योंत करो। भोज न दो, समारोहकी क्या जरूरत है ?'—वगैरा-वगैरा। यह ठीक नहीं। समारोह खूब करो। ठाठबाठमें कमी नहीं होनी चाहिए। लेकिन मैं अपनी पद्धतिसे कम खर्चमें पहलेसे भी ज्यादा ठाठ-बाट तुम्हें देता हूं।

लड़के-लड़कीकी शादी मां-बाप ठीक करें। लेकिन वहां उनका काम खत्म हो जाना चाहिए। शादी करना, समारोह करना, यह सारा काम गांवका होगा। मां-बाप शादीमें एक पाई भी खर्च नहीं करेंगे। जो करेंगे उनको जुर्माना होगा, ऐसा कायदा गांववालोंको बना लेना चाहिए।

लड़के जितने अपने मां-बापके हैं, उतने ही समाजके भी हैं। मां-बापके मर जानेपर क्या वे घूरपर फेंक दिये जाते हैं? गांव उन्हें सम्हालता है, मदद करता है। शादी भी करेगा। आप इस रास्तेपर जाकर देखिए। प्रयोग कीजिए। साहूकारका ऋण कम होता है या नहीं, देखिए। आपका कर्ज घटेगा। झगड़े कम होंगे। सहयोग और आत्मीयता बढ़ेगी।

दूसरा रास्ता बाजारका है। तुम देहाती लोग कपास बोते हो। लेकिन सारा-का-सारा बेच देते हो। फिर बुवाईके वक्त बिनौले शहरसे मोल लाते हो, कपास यहां पैदा करते हो। उसे बाहर बेचकर बाहरसे कपड़ा खरीद लाते हो। गन्ना यहां पैदा करते हो। उसे बेचकर शक्कर बाहरसे लाते हो। गांवमें मूंगफली, तिल्ली और अलसी होती है। लेकिन तेल शहरकी तेल-मिलसे लाते हो। अब इतना ही बाकी रह गया है कि यहांसे अनाज भेजकर रोटियां बंबईसे मंगाओ। तुम्हें तो बैल भी बाहरसे

लाने पड़ते हैं । इस तरह सारी चीज बाहरसे लाओगे तो कैसे पार पाओगे ।

बाजारमें क्यों जाना पड़ता है ? जिन चीजोंकी जरूरत होती है, उन्हें भरसक गांवमें ही बनानेका निश्चय करो । स्वराज्य माने स्वदेशका राज्य, अपने गांवका राज्य । घर जानेपर तुम लोग सोचो कि अपने गांवमें क्या-क्या बना सकते हो । देखो, तुम्हें कौन-कौन-सी चीजें चाहिए । तुम्हारी खेतीके लिए बढ़िया बैल चाहिए । उन्हें मोल कहांतक लोगे ? तुम्हें बढ़िया बैल यहीं गांवमें पैदा करने चाहिए । गायोंका अच्छी तरह पालन करो । एक-दो बढ़िया सांड़ उनमें रखो । बाकीके सबको बधिया करो । इससे गायोंकी नस्ल सुधरेगी । अच्छे बैल मिलेंगे । बैलोंके लिए बागडोर, नथनी वगैरा चाहिए । गांवके सन, पटुआ वगैरासे यहीं बना लो । तुम्हें कपड़ेकी जरूरत है, उसे भी यहीं बनाना चाहिए । गांवमें बुनकर न हो तो दो लड़कोंको सिखा लाओ । हरेकको अपने घरमें कातना चाहिए । उतना समय जरूर मिल जायगा । मूंगफली गांवमें ही होती है । यहीं घानी शुरू करो, तो यहीं ताजा तेल मिलगा । गन्ना गांवमें होता है । उसका गुड़ बनाओ । शक्करकी बिल्कुल जरूरत नहीं है । गुड़ गरम होता है, लेकिन पानीमें मिलानेसे ठंडा हो जाता है । गुड़में स्वास्थ्यके लिए पोषक द्रव्य हैं । गुड़ बनाओ । खोई जलानेके काम आयगी । गांवके चमारसे ही जूते बनवाओ । इस तरह गांवमें ही सारी चीजें बननी चाहिए । पुराने जमानेमें हमारे गांव ऐसे स्वावलंबी थे । उन्हें सच्चा स्वराज्य प्राप्त था ।

गांवका ही अनाज, गांवका ही कपड़ा, गांवका ही गुड़, गांवका ही तेल, गांवकेही जूते, गांवके ही ढोर, गांवके ही बैल, गांवका ही घरका पिसा आटा—इस रवैयेको अपनाओ । फिर देखो, तुम्हारे गांव कैसे लहलहाते हैं ? तुम कहोगे—यह महंगा पड़ेगा । यह केवल कल्पना है । मैं एक उदाहरणसे समझाता हूं । मान लो, तुम्हारे गांवमें एक रंगरेज है, एक बुनकर है, एक तेली है, एक चमार है । आज चमार क्या करता है ? वह कहता है, "मैं तेलीसे तेल नहीं लूंगा । वह महंगा पड़ता है ।" तेली क्या कहता है ? "गांवके चमारका बनाया हुआ जूता महंगा है । मैं शहरमें जूता खरीदूंगा ।" बुनकर कहता है—"मैं गांवका सूत नहीं लूंगा । पुतलीघरका अच्छा होता है ।" किसान

कहता है––"मैं बुनकरका कपड़ा नहीं लूंगा । मिलका लूंगा । वह सस्ता होता है ।" इस तरह आज हमने एक-दूसरेको मारनेका धंधा शुरू किया है । एकदूसरेको निबाह लेना धर्म है । उसे छोड़कर हम एक-दूसरेको मटियामेट कर रहे हैं ।

लेकिन जरा मजा देखिए । तेली चार आने ज्यादा देकर चमारसे महंगा जूता खरीदता है । उसके जेबसे आज चार आने गये । आगे चलकर वह चमार तेलीसे चार आने ज्यादा देकर महंगा तेल खरीदता है । याने उसके चार आने लौट आते हैं । अर्थात् वह महंगा नहीं पड़ता । जहां पारस्परिक व्यवहार होता है वहां 'महंगा' जैसा कोई शब्द ही नहीं है । गये हुए पैसे दूसरे रास्तेसे लौट आते हैं । मैं उसकी महंगी चीज खरीदता हूं, वह मेरी महंगी चीज खरीदता है । हिसाब बराबर । इसमें क्या बिगड़ता है ? जुलाहेने खादी बनाई और तेलीने वह खरीद ली । तेलीके लिए खादी महंगी है, जुलाहेके लिए तेल महंगा है । बात एक ही है । तेलमें जो पैसे गये, वे खादीमें वापस मिले और खादीमें गये सो तेलमें मिल गये । 'इस हाथ देना उस हाथ लेना', इस तरहका भाईचाराका, सहयोगका व्यवहार पहले होता था, लेकिन वह आज लोप हो गया है ।

देहातमें प्रेम होता है, भाईचारा होता है । देहातके लोग अगर एक-दूसरेकी जरूरतोंका खयाल नहीं करेंगे तो वह देहात ही नहीं है । वह तो शहरके-जैसा हो जायगा । शहरमें कोई किसीको नहीं पूछता । सभी अपने-अपने मतलबके लिए वहां इकट्ठे होते हैं, जैसे गोबरका ढेर देखकर सैकड़ों कीड़े जमा होते हैं । उस सड़नेवाले गोबरमें सैकड़ों कीड़े कुलबुलाते हैं । वे कीड़े वहां क्यों इकट्ठे हुए ? किसी कीड़ेसे पूछा, "यहां क्यों आया ? तेरे कोई भाई-बहन यहां हैं ?" वह कीड़ा कहेगा, "मैं गोबर खानेके लिए यहां आया हूं और गोबर खानेमें चूर हूं । मुझे ज्यादा बोलनेकी फुरसत नहीं है ।" कलाकंद, गुड़ आदिपर मक्खियां बैठती हैं, सो क्या प्रेमके कारण ? उसी तरह शहरोंमें मक्खियोंके समान जो आदमी भिनभिनाते रहते हैं, चीटियोंकी नाईं जिनका तांता लगा रहता है, वह क्या प्रेमके लिए ? शहरमें स्वार्थ और लोभ हैं । गांव प्रेमसे बनता है । गांवमें आग लग जाय, तो सब लोग अपना-अपना काम छोड़कर दौड़ आयंगे । घरमें कोई बैठा थोड़े ही रहेगा ? लेकिन

बंबईमें क्या दशा होगी ? सब कोई कहेंगे, "पानीका बंबा जायगा, मुझे अपना काम है ।" इसीलिए एक कविने कहा है—"गांवोंको ईश्वर बनाता है और शहरोंको मनुष्य ।"

हमारे बाप-दादा गांवोंमें रहते थे । आज तो हरकोई शहरमें जाता है । वहां क्या धरा है ? पीले पत्थर हैं और धूल है । यथार्थ लक्ष्मी देहातमें है । पेड़ोंमें फल लगते हैं । खेतोंमें गेहूं होता है, गन्ना होता है । यही सच्ची लक्ष्मी है । यह सच्ची लक्ष्मी बेचकर सफेद या पीले पत्थर मत लो । तुम शहर जाकर वहांसे सस्ती चीजें लाते हो । लेकिन सभी ऐसा करने लगें, तो देहात वीरान दिखाई देंगे । अगर देहातोंको सुखी देखना है, तो शहरके बाजारको छोड़ो । गांवकी चीजें खरीदो । जो चीज गांवमें बन ही न सकती हो, वह अलबत्ते बाहरसे लाओ । बाहरसे लानेमें भी, अगर वह दूसरे गांवमें होती हो, तो वहांसे लाओ । मान लो, यहां चूड़ियां नहीं होतीं, तो सोनगीरसे लाओ । यहां अच्छे लोटे नहीं बनते, तो सोनगीरसे लो । यहां रंगरेज न हो, तो मालपुरसे रंगाकर मंगाओ । मालपुरका रंगरेज तुम्हारे यहांसे गुड़ लेकर जायगा, तुम उसके यहांसे कपड़े रंगवाओ । तुम्हारे गांवमें जो चीजें न बनती हों, उनके लिए दूसरे गांव खोजो । शहरमें कोई चीज खरीदने जाओ तो पहले यह सवाल पूछो कि क्या यह चीज देहातमें बनी है ?—हाथकी बनी हुई है ? पहले उन चीजोंको पसंद करो । जहांतक हो सके, यंत्रोंसे बना हुआ शहरका माल निषिद्ध मानो ।

तुम्हारी ग्राम-पंचायतोंको यह काम अपने जिम्मे लेना चाहिए, गांवके झगड़े-टंटे दूर करनेका काम तो पंचायतोंका है ही; लेकिन गांवसे कौन-कौन सी चीजें बाहर जाती हैं, कौन-कौन-सी बाहरसे आती हैं, इसका ध्यान भी पंचायतको रखना चाहिए । नाका बनाकर फेहरिस्त बनानी चाहिए । बादमें, वे चीजें बाहरसे क्यों आती हैं, इसकी जांच-पड़ताल करके उन्हें गांवमें ही बनवानेकी कोशिश करनी चाहिए । बुनकर नहीं है ? दूसरे गांवको दो लड़के सीखनेके लिए भेज देंगे । हरेकको यह संकल्प कर लेना चाहिए कि गांवकी ही चीज खरीदूंगा । जो चीज मेरे गांवमें बनती न हो, उसे वहीं बनवानेकी कोशिश करूंगा । गांवके नेताओंको इसकी तरफ ध्यान देना चाहिए । 'कैसे होगा ? क्या होगा ?'—न कहो । उठो, काम शुरू कर दो ।

चट-से सब हो जायगा। फिर तुम ही चीजोंके दाम ठहराग्रोगे। तेली तेल किस भाव बेचे, चमार जूता कितनेमें बना दे, बुनकरकी बुनाई क्या हो?—सब-कुछ तुम तय करोगे। जब सभी एक-दूसरेकी चीजें खरीदने लगेंगे तो सब सस्ता-ही-सस्ता होगा। 'सस्ता' और 'महंगा' ये शब्द ही नहीं रहेंगे।

बतलाग्रो, तुम्हारे यहां क्या-क्या नहीं हो सकता ? एक नमक नहीं हो सकता। ठीक, नमक लाग्रो बाजारसे। दो, मिट्टीका तेल। दरअसल तो मिट्टीके तेल की जरूरत नहीं होनी चाहिए। परंतु उसके बिना काम ही नहीं चलता हो तो खरीदो। तीसरी चीज, मसाले। मिर्च तो यहां होती ही है। दरअसल तो मिर्च भी बंद कर देनी चाहिए। मिर्चकी शरीरको जरूरत नहीं है। दियासलाई खरीदनी पड़ेगी। कुछ औजार खरीदने पड़ेंगे। दूसरा कोई चारा नहीं है। ये चीजें खरीदो। मिट्टीका तेल धीरे-धीरे कम करो। उसके बदले अंडी का तेल काममें लाग्रो।

परंतु इसके सिवा बाकी सारी चीजें गांवमें ही बनाग्रो। खादी गांवमें बननी चाहिए। खादीके कपड़ेके लिए सूतके बटन भी यहीं बन सकते हैं। उन दूसरे बटनोंकी क्या जरूरत ? अगर छातीपर वे बटन न हों तो क्या प्राण छटपटायंगे ? ऐसी बात तो नहीं है। तो फिर उन्हें फेंक दो। इस कंठीकी क्या जरूरत है ? उसके बिना चल नहीं सकता ? ऐसी अनावश्यक चीजें गांवमें लाग्रोगे तो कंठियां पैरोंकी जंजीरकी तरह जकड़ेंगी या फांसीकी रस्सीकी तरह गला घोंट देंगी। बाहरसे ऐसी कंठियां लाकर अपने शरीरको मत सजाग्रो। भगवान् श्रीकृष्ण कैसे सजता था ? वह क्या बाहरसे कंठियां लाता था ? वृन्दावनमें मोरोंके जो पंख गिर जाते थे, उन्हींसे वह अपना शरीर सजाता था। पंख उखाड़कर नहीं लाता था। वह मोरके पंखसे सजता था। सो क्या सिड़ी हो गया था ? क्या पागल हो गया था ? "मेरे गांवके मोर हैं, उनके पंखोंसे मैं अपने शरीरको सजाऊं तो कोई हर्ज नहीं है। उसमें उन मोरोंकी पूजा भी है"—ऐसी भावनासे वह मोरमुकुट लगाता था। और गलेमें क्या पहनता था ? वनमाला। मेरी यमुनाके तीरके फूल—वे सबको मिलते हैं। गरीबोंको मिलते हैं, अमीरोंको मिलते हैं। वह स्वदेशी वनमाला, देहातकी वनमाला, गलेमें पहनता था। और

बजाता क्या था ? मुरली । देहातके बांसकी बांसुरी—वह अलगोजा । यही उसका वाद्य था ।

हमारे एक मित्र जर्मनी गये थे । वह वहांका एक प्रसंग सुनाते थे । "हम सब विद्यार्थी इकट्ठे हुए थे । फ्रांसीसी, जर्मन, अंग्रेज, जापानी, रूसी, सब एक साथ बैठे थे । सबने अपने-अपने देशके राष्ट्रीय वाद्य बजाकर दिखाये । फ्रांसीसियोंने वायोलिन बजाया, अंग्रेजोंने अपना वाद्य बजाया । मुझसे कहा गया, 'तुम हिंदुस्तानी वाद्य सुनाओ ।' मैं चुपचाप बैठा रहा । वे मुझसे पूछने लगे, 'तुम्हारा भारतीय वाद्य कौन-सा है ?' मैं उन्हें बता नहीं सका ।"

मैंने तुरंत अपने उस मित्रसे कहा, "अजी, हमारा राष्ट्रीय वाद्य बांसुरी है । लाखों गांवोंमें वह पाई जाती है । सीधी-सादी और मीठी । कृष्ण भगवान्‌ने उसे पुनीत किया है । एक बांसकी नली ले लो, उसमें छेद बना लिये । बस, वाद्य तैयार हो गया ।"

ऐसा वाद्य श्रीकृष्ण बजाता था । वह गोकुलका स्वदेशी देहाती वाद्य था । अच्छा, श्रीकृष्ण खाता क्या था ? बाहरकी चीनी लाकर खाता था ? वह अपने गोकुलकी मक्खन-मलाई खाता था । दूसरोंको खाना सिखाता था । ग्वालिनें गोकुलकी यह लक्ष्मी मथुरा को ले जाती थीं । परंतु गांवकी इस अन्नपूर्णाको कन्हैया बाहर नहीं जाने देता था । वह उसे लूटकर सबको बांट देता था । सारे गोकुलके बालक उसने हृष्ट-पुष्ट किये । जिन्होंने गोकुलपर चढ़ाई की, उनके दांत उसने अपने मित्रोंकी मददसे खट्टे किये । गोकुलमें रहकर भी वह क्या करता था ? गायें चराता था । उसने दावानल निगल लिया, याने क्या किया ? देहातोंको जलानेवाले लड़ाई-झगड़ोंका खातमा किया । सब लड़कोंको इकट्ठा किया । प्रेम बढ़ाया । इस तरह यह श्रीकृष्ण गोपालकृष्ण है । वह तुम्हारे गांवका आदर्श है । गोपालकृष्ण ने गांवोंका वैभव बढ़ाया, गांवोंकी सेवा की, गांवोंपर प्रेम किया, गांवके पशु-पक्षी, गांवकी नदी, गांवका गोवर्धन पर्वत—इन सबपर उसने प्रेम किया । गांव ही उसका देवता रहा । आगे चलकर वह द्वारिकाधीश बने । लेकिन फिर भी गोकुलमें आते थे, फिर गाय चराते थे, गोबरमें हाथ डालते थे, गोशाला बुहारते थे, वनमाला पहनते थे, बंसी बजाते थे, लड़कोंके साथ,

गोपाबालोंके साथ, खेलते थे। 'ब्रजकिशोर' उनका प्यारा नाम था। 'गोपाल' उनका प्यारा नाम था। उन्होंने गोकुलमें असीम आनंद और सुख पैदा किया।

गोकुलका सुख असीम था। ऐसे गोकुलके अन्नके चार कणोंके लिए देवता तरसते थे। प्रेममस्त गोपालबाल जब भोजन करके दही और 'गोपाल कलेवा' खाकर यमुनाके जलमें हाथ धोने जाते थे, तब देवता मछली बनकर वे जूठे अन्नकण खाते थे। उनके स्वर्गमें वह प्रेम था क्या ? उन देवताओंको पैसेकी कमी नहीं थी। लेकिन उनके पास प्रेम नहीं था। हमारे शहर आपके स्वर्ग हैं न ? अरे भाई, वहां प्रेम नहीं है। वहां भोग है, पैसे हैं; परंतु आनंद नहीं है। अपने गांवोंको गोकुलके समान बनाओ। तब वे शहरके नगरसेठ तुम्हारे गांवकी नमक-रोटीके लिए लालायित होकर दौड़ते आयेंगे। हमें देहातोंको हराभरा गोकुल बनाना है—स्वाश्रयी, स्वावलंबी, आरोग्य-संपन्न, उद्योगशील, प्रेमल। ईखका कोल्हू चल रहा है, चरखा चल रहा है, धुनिया धुन रहा है, तेलका कोल्हू चूं-चर बोल रहा है, कुएंपर मोटर चल रही है, चमार जूता बना रहा है, गोपाल गायें चरा रहा है, और बंशी बजा रहा है—ऐसा गांव बनने दो। अपनी गलतीसे हमने गांवोंको मरघट बनाया। आइए, अब फिर उसको गोकुल बनायें।

कागज एरंडोलका खरीदो। दंतमंजन राखका बनाओ। ब्रश दतौनके बनाओ। विदेशी कागजकी झंडियां और पताकाएं हमें नहीं चाहिए। अपने गांवके के पेड़ोंके पल्लव—ग्राम-पल्लव—लो। उनके तोरण और बंदनवार बनाओ। गांवके पेड़ोंका अपमान क्यों करते हो ? बाहरसे चीजें लाकर बंदनवार लगाओगे तो गांवके दरख्त रूठेंगे। वे समारोहमें हाथ बंटाना चाहते हैं। उनके कोपल लाओ। हमारे धार्मिक मंगल-उत्सवोंके लिए क्या कागजके तोरण विहित हैं। ग्रामके शुभ पल्लव चाहिए और घड़ा चाहिए। कलश चाहिए। सो क्या टिनपॉटका होगा ? वह पवित्र कलश मिट्टीका ही चाहिए। तुम्हारे गांवके कुम्हारका बनाया हुआ चाहिए। देखो, हमारे पूर्वजोंने गांवकी चीजोंकी कैसी महिमा बढ़ाई है। उस दृष्टिको अपनाओ। सारा नूर पलट जायगा। इधर-उधर दूसरी ही दुनिया दिखाई देने लगेगी। समृद्धि और आनंद दिखाई देने लगेंगे।

कोई दिन भर फू-फू बीड़ी फूंकते रहते हैं। कहते हैं, "बीड़ियां तो घरकी ही हैं। वे बाहरसे नहीं आती।" अरे भाई, जहर अगर घरका हो तो क्या खा लोगे? घरका जहर खाकर पूरी सोलह आने स्वदेशी मृत्युको स्वीकार करोगे? जहर चाहे घरका हो या बाहरका, त्याज्य ही है। उसी तरह सभी व्यसन बुरे हैं। उन सबको छोड़ना चाहिए। वे प्राणघातक हैं। शराबके बारेमें कहोगे तो पहले महाराष्ट्रमें शराब नहीं थी। महाराष्ट्रका पहला गवर्नर एलफिस्टन साहब था। उसने महाराष्ट्रका इतिहास लिखा है। उसमें वह कहता है—"पेशवोंके राजमें शराबसे आमदनी नहीं थी। लेकिन आज तो गांव-गांवमें पियक्कड़ हैं। सरकार उलटे उन्हें सुभीता कर देती है। लेकिन सरकार सुविधा कर देती है, इसलिए क्या हम शराब पीयें? हिंदुस्तानमें दो मुख्य धर्म हैं—हिंदू-धर्म और इस्लाम। इन दोनों धर्मोंमें शराब पीना महान पाप माना गया है। इस्लाममें शराब हराम है। हिंदू-धर्ममें शराबकी गिनती पांच महापातकोंमें होती है। शराब पीकर आखिर हम क्या साधते हैं? प्राणोंका, कुटुंबका, धनका और इन सबसे प्रिय धर्मका—सभी चीजोंका नाश होता है।

बीड़ी और शराबके बाद तीसरा व्यसन है बात-बातमें तकरार करना। कृष्णने झगड़ोंके दावानल निगल लिये। तकरार मत करो और अगर झगड़ा हो ही जाय, तो गांवके चार भले आदमी बैठकर उसका तस्फिया करो। अदालतकी शरण न लो। अदालतें तुम्हारे गांवोंमें ही चाहिए। जिस प्रकार और चीजें गांवकी ही हों, उसी प्रकार न्याय भी गांवका ही हो। तुम्हारे खेतोंमें सबकुछ पैदा होता है। लेकिन न्याय तुम्हारे गांवमें न पैदा होता हो तो कैसे काम चलेगा? गांवका धान्य, गांवका वस्त्र और गांवका ही न्याय हो। बाहरकी कचहरी, अदालतें किस कामकी? चीजोंके लिए जिस तरह हम परावलंबी न होंगे, उसी तरह न्याय के लिए भी नहीं होंगे। प्रेमसे रहो। दूसरेको थोड़ा-बहुत अधिक मिल जाय, तो भी वह गांवमें ही रहेगा, लेकिन दूर चला जाने पर, न हमें मिलेगा, न तुम्हें मिलेगा, सारा भाड़में जायगा। गांवके ही पंचोंमें परमेश्वर है। उसकी शरण लो।

भोजन वगैरा अन्य बातोंकी ऊहापोह यहां नहीं करता। जीवन निर्मल और विचारमय बनाओ। हरेक काम विवेक-विचारसे करो।

चौथी बात साहूकारकी है । तुम ही अपने घर कपास लोढ़कर बीजके लायक बिनौले संभालकर रख लोगे, घरमें ही कपड़ा बना लोगे, मूंगफली, अलसी घरमें रखकर गांवके कोल्हूसे तेल निकलवा लोगे, अदालत-इजलासमें जाना बंद कर दोगे, गांवमेंही सारे झगड़े तय कर लोगे और मेरे बतलाये ढंगसे ब्याह-शादियां करोगे तो साहूकारकी जरूरत बहुत कम पड़ेगी। लेकिन तिसपर भी सभी लोग साहूकारके पाशसे छुटकारा नहीं पायंगे। कर्जदार फिर भी रहेंगे। लेकिन कर्जकी तादाद कम हो जायगी।

तुम्हारी कर्जदारीका सवाल स्वराज्यके बिना पूरी तरह हल नहीं होगा। स्वराज्यमें सबके हिसाब जांचे जायंगे। जिस साहूकारको मूलधनके बराबर ब्याज मिल चुका होगा, उसका कर्ज अदा हो चुका, ऐसा घोषित किया जायगा। जिस साहूकारका मूलधन भी न मिला होगा, सूदके रूपमें भी न मिला होगा, उससे समझौता करेंगे। इसी तरहके उपायसे यह सवाल हल करना होगा। तटस्थ पंच मुकर्रर करके तहकीकातके बाद जो उचित होगा, किया जायगा। तबतक आजके बतलाये उपायोंसे काम लेना चाहिए और धीरे-धीरे साहूकारसे दूर रहनेकी कोशिश करनी चाहिए। परंतु कर्ज चुकानेके फेरमें बाल-बच्चोंकी उपेक्षा न करो। बच्चोंको दूध-घी दो। भरपूर भोजन दो। लड़के सारे समाजके हैं। मैं अपने साहूकारसे कहूंगा, "मैं अपने बच्चोंको थोड़ा दूध दूं? उन्हें दूधकी जरूरत है।" बच्चे जितने मेरे हैं, उतने ही साहूकारके भी हैं। वे सारे देशके हैं। लड़कोंको देनेमें तुम साहूकारको ही देते हो। इसलिए पहले भरपेट खाओ, बालबच्चोंको खिलाओ। घरकी जरूरतें पूरी होनेपर कुछ बकाया रहे, तो जाकर दे दो। कर्ज तो देना ही है। खा-पीकर देना है। भोग-विलासके बाद नहीं। 'कुछ बचा तो ला दूंगा'—साहूकारसे कह दो।

इस तरह चार बातें बतलाईं। गांवकी लक्ष्मीके बाहर जानेके चार दरवाजे बताये और उन्हें बंद करनेके उपायोंकी दिशा भी बताई। अब पांचवीं बात सरकार है। यह सरकार कैसे बंद की जाय? तुम अपनी चीजें बनाने लगो, अपने गांवमें बनाने लगो, तो सरकार अपने आप सीधी हो जायगी। सरकार यहां क्यों रहती है? विलायतका माल आसानीसे तुम बेवकूफोंके हाथ बिक सकता है, इसलिए। कल बुद्धिमान बनकर

अगर अपने गांव स्वावलंबी बनाओगे, तो सरकार अपने-आप नरम हो जायगी। जिस चीजकी जरूरत हो उसे गांवमें ही बनाओ। जो इस गांवमें न बन सके, उसे दूसरे गांवसे लाओ। शहरके कारखानोंका बहिष्कार करो। विदेशी चीजोंकी तो बात ही कौन पूछता है? विदेशी और स्वदेशी कारखानोंको तुम अपने गांवसे जो खाद्य पहुंचाते हो, उसे बंद करो। आपसमें एकता करो। लड़ना-झगड़ना छोड़ दो। अगर लड़ो भी तो गांवमें ही फैसला कर लो। कचहरी-अदालतका मुंह न देखनेका संकल्प करो। गांवकी ही चीजें, गांवका ही न्याय। अगर ऐसा करोगे तो 'एक पंथ दो काज' होंगे। दरिद्रताका कष्ट दूर होगा और सरकार अंतर्धान हो जायगी। तुम इस तरह स्वावलबी, निर्व्यसनी, उद्यमी और हिलमिलकर रहनेवाले बनो। तब सरकार तुम्हारे हक दिये बिना रह ही नहीं सकती। तुम्हारी इतनी ताकत बढ़नेपर भी अगर सरकार तुम्हारे हक न देगी, तो फिर सत्याग्रह तो है ही। उस हालतमें जो सत्याग्रह होगा, वह ऐसा पचास-साठ हजारका टुटपूंजिया सत्याग्रह न होगा। उसमें तो पचास-साठ लाख लोग शरीक होंगे।

तुम लगानके रूपमें दस हजार रुपये देते हो। लेकिन कपड़ोंके लिए पच्चीस हजार देते हो। अब, मानलो कि यह सरकार यहांसे जल्दी नहीं टलती। उसका लगान कम नहीं होता। स्वराज्य मिलनेपर कम करेंगे। लेकिन वह पराक्रम जब होगा तब होगा। फिर भी अगर कपड़ा गांवमें ही बनानेका संकल्प कर लें, तो क्या होगा। हरेकको तीन सेर रुईकी जरूरत होगी। हर कुटुंबमें अगर पांच आदमी हों, तो पंद्रह सेर रुई हुई। बोनेके लिए जितने बिनौलोंकी जरूरत हो, उतनी बढ़िया कपास खेतसे बीनकर घरपर ही लोढ़ो। बढ़िया बिनौले मिलेंगे। जो रुई होगी उसमेंसे अपने परिवारके कपड़ोंके लिए आवश्यकतानुसार रख लो और बाकी को बेच दो। फी आदमी पक्की तीन सेर रुईके दाम सवा रुपया होंगे। बत्तीससौ आदमियोंको चार-पांच हजारकी रुई रखनी होगी। कपड़ा पच्चीस हजारका होगा। उसमेंसे पांच हजार घटा दीजिए, तो बीस हजार गांवमें रहेंगे। सरकार लगानके दस हजार ले जायगी, लेकिन तुम बीस हजार बचाओगे। इसीलिए गांधी कहते हैं कि खादी ही स्वराज्य है। अकेले खादीकी बदौलत बीस हजार रुपये गांवमें रह गए। कल स्वराज्य मिल जाय तो क्या होगा?

लगान आधा याने दस हजारका पांच हजार, हो जायगा। याने तुम्हारे पांच हजार रुपये बचेंगे। लेकिन खादी बरतनेसे बीस हजार बचेंगे। इसलिए वास्तविक स्वराज्य किस वस्तुमें है, यह जानो।

पहले दूसरे कई राज्य हुए तो भी देहातका यह वास्तविक स्वराज्य कभी नष्ट नहीं हुआ था। इसीलिए हमें रोटियोंके लाले नहीं पड़े। परंतु इस राज्यमें यह खादीका स्वराज्य, देहाती उद्योग-धंधोंका स्वराज्य, नष्ट हो गया है। इसीलिए देहात वीरान और डरावने दिखाई देने लगे। इंग्लैंडका मुख्य आधार कर या किसान नहीं है, बल्कि करोड़ों रुपयेका व्यापार है। लगानके रूपमें उसे दस हजार ही मिलेंगे। लेकिन तुम्हें कपड़ा बेचकर वह बीस हजार ले जायगा। शक्कर, घासलेट वगैरा सैकड़ों ऐसी ही चीजें हैं। इसलिए वास्तविक स्वराज्यको पहचानो। हम सरकारको अपने पराक्रमसे कब निकाल सकेंगे, सो देखा जायगा। परंतु तबतक मेरे बतलाये उपायोंसे अपने गांव स्वावलंबी, उद्यमी, प्रेममय बनाओ। इसीमें सबकुछ है।

दिसंबर, १९४१

: १९ :

स्वाध्यायकी आवश्यकता

देहातमें जानेवाले हमारे कार्यकर्ताओंमेंसे अधिकांश उत्साही नवयुवक हैं। वे काम शुरू करते हैं उमंग और श्रद्धासे, लेकिन उनका वह उत्साह अंततक नहीं टिकता। देहातमें काम करनेवाले एक भाईका खत मुझे मिला था। लिखा था—"मैं सफाईका काम करता तो हूं, लेकिन पहले उसका जो असर गांववालोंपर होता था अब नहीं होता। इतना ही नहीं, बल्कि वे तो मानने लगे हैं कि इसको कहींसे तनख्वाह मिलती है, इसीलिए यह सफाई-का काम करता है।" अंतमें उस भाईने पूछा है कि क्या अब इस कामको छोड़कर दूसरा काम हाथमें ले लिया जाय?

यों कार्यकर्त्ताओंको अपने काममें शंकाएं उत्पन्न होने लगती हैं और वह हाल सिर्फ कार्यकर्त्ताओंका नहीं, बड़े-बड़े विद्वानों और नेताओंकी भी यही हालत है। इसका मुख्य कारण मुझे एक ही मालूम होता है। वह है स्वाध्याय-का अभाव। यहांपर 'स्वाध्याय' शब्दका जिस अर्थमें मैं उपयोग करता हूं, उसे बता देना आवश्यक है। स्वाध्यायका अर्थ मैं यह नहीं करता कि एक किताब पढ़कर फेंक दी, फिर दूसरी ली। दूसरी लेनेके बाद पहली भूल भी गये। इसको मैं स्वाध्याय नहीं कहता। 'स्वाध्याय' के मानी हैं एक ऐसे विषयका अभ्यास जो सब विषयों और कार्योंका मूल है, जिसके ऊपर बाकीके सब विषयोंका आधार है, लेकिन जो खुद किसी दूसरेपर आश्रित नहीं। उस विषयमें दिनभरमें थोड़े समयके लिए एकाग्र होनेकी आवश्यकता है। अपने-आपको और कातने आदि अपने सब कामोंको उतने समयके लिए बिल्कुल भूल जाना चाहिए। अपने स्वार्थके संसारमें जितनी बाधाएं और कठिनाइयां पैदा होती हैं वे सभी इस परमार्थी कार्यमें भी खड़ी हो सकती हैं और यह भी संसारका एक व्यवसाय बन जाता है। अगर कोई समझता हो कि परमार्थी काम होने की वजहसे स्वार्थी संसारकी झंझटसे मुक्त है तो यह समझ खतरनाक है। इसलिए जैसे कुछ समयके लिए संसारसे अलग होनेकी आवश्यकता होती है वैसे ही इस कामसे भी अलग होनेकी आवश्यकता है; क्योंकि वास्तवमें यह काम केवल भावनाका नहीं है, उसमें बुद्धि की भी आवश्यकता है। भावना तो देहातियोंमें भी होती है, लेकिन उनमें बुद्धि की न्यूनता है। उसे प्राप्त करना चाहिए। बुद्धि और भावना एकदम अलग-अलग चीजें हों, सो नहीं है। इस विषयमें मैं एक उदाहरण दिया करता हूं।

सूर्यकी किरणोंमें प्रकाश है और उष्णता भी है। उष्णता और प्रकाशको तार्किक पृथक्करणसे अलग-अलग कर सकते हैं। फिर भी जहां प्रकाश होता है वहां उसके साथ उष्णता भी होती ही है। इसी तरह जहां सच्ची बुद्धि है वहां सच्ची भावना है और जहां सच्ची भावना है वहां सच्ची बुद्धि है ही। उनका तार्किक पृथक्करण हम कर सकते हैं, लेकिन दरअसल वे एकरूप ही हैं। कोई सोचता हो कि हमें बुद्धिसे कोई मतलब नहीं है, सेवाकी इच्छाहै, और इसके लिए भावनाका

होना काफी है, तो वह गलत सोचता है। इस बुद्धिकी प्राप्तिके लिए स्वाध्यायकी आवश्यकता है। विद्वानोंको भी ऐसे स्वाध्यायकी जरूरत है। फिर कार्यकर्त्ता तो नम्र है न? उसको तो स्वाध्यायकी विशेष रूपसे जरूरत है। इस विषयमें बहुत-से कार्यकर्त्ता सोचते हैं कि बीच-बीचमें शहरमें जाकर पुस्तकालयमें जाना, मित्रोंसे मिलना आदि बातें ग्राम-सेवाके लिए उपयोगी हैं, इनसे उत्साह बढ़ता है और उस उत्साहको लेकर फिर देहातमें काम करनेमें अनुकूलता होती है। लेकिन वे नहीं जानते कि ज्ञान और उत्साहका स्थान शहर नहीं है। शहर ज्ञानियोंका अड्डा नहीं है।

उपनिषद्में एक कहानी है। एक राजासे किसीने कहा कि एक विद्वान् ब्राह्मण आपके राज्यमें है। उसको खोजनेके लिए राजाने नौकर भेजे। सारा नगर छान डालनेके बाद भी उनको वह विद्वान् नहीं मिला। तब राजाने कहा "अरे, ब्राह्मणको जहां खोजना चाहिए वहां जाकर ढूंढ़ो।" तब वे लोग जंगलमें गए और वहां उनको वह ब्राह्मण मिला। यह बात नहीं कि शहरमें कोई तपस्वी मिल ही नहीं सकता। संभव है, कभी-कभी शहरमें भी ऐसा मनुष्य मिल जाय, लेकिन वहांका वातावरण उसके अनुकूल नहीं। आत्माका पोषण-रक्षण आजकल शहरोंमें नहीं होता। देहातमें निसर्गके साथ जो प्रत्यक्ष संबंध रहता है वह उत्साहके लिए अत्यंत आवश्यक है। शहरमें निसर्गसे भेंट कहां? जंगलमें तो नदी, पहाड़, जमीन सब चीजें वहीं सामने दिखाई देती हैं और जंगलके पास तो देहात ही होते हैं, शहर नहीं। सिर्फ उत्साह लेनेके लिए ग्रामसेवकोंको शहरमें आना पड़े, इसके बजाय शहरवाले ही कुछ दिनोंके लिए देहातमें जाकर कार्यकर्त्ताओंसे मिलते रहें तो अधिक अच्छा हो। असलमें उत्साह तो दूसरी ही जगह है। वह जगह है अपनी आत्मा। उसके चिंतनके लिए कम-से-कम रोज एकाध घंटा अलग निकालना चाहिए। तस्वीर खींचनेवाला तस्वीरको देखनेके लिए दूर जाता है, और वहांसे उसको तस्वीरमें जो दोष दिखाई देते हैं उनको पास आकर सुधार लेता है। तस्वीर तो पास रहकर ही बनानी पड़ती है, लेकिन उसके दोष देखनेके लिए अलग हट जाना पड़ता है। इसी प्रकार सेवा करनेके लिए पास तो आना ही

पड़ेगा। लेकिन कार्यको देखनेके लिए खुदको अलग कर लेनेकी जरूरत भी है।

यही स्वाध्यायका उपयोग है। अपनेको और अपने कार्यको बिल्कुल भूल जाना और तटस्थ होकर देखना चाहिए। फिर उसीमेंसे उत्साह मिलता है, मार्ग-दर्शन होता है, बुद्धिकी शुद्धि होती है।

: २० :
दरिद्रोंसे तन्मयता

दो प्रश्न हैं :

(१) हममेंसे जो आजतक तो मध्यमवर्गका जीवन बिताते आये हैं, परंतु अब दरिद्रवर्गसे एकरूप होना चाहते हैं, वे किस क्रमसे अपने जीवनमें परिवर्तन करें, जिससे तीन-चार वर्षमें निश्चित रूपमें उन दरिद्रोंसे एकरूप हो जायं ?

(२) मध्यम अथवा उच्चवर्गके लोग दरिद्रोंसे अपनी सद्भावना किस तरह प्रकट कर सकते हैं ? क्या इस प्रकारका कोई नियम बनाना ठीक होगा कि संघके सदस्य कोई ऐसा उपाय करे जिससे उनके खर्चमेंसे हर पंद्रह रुपये मेंसे चार रुपये दरिद्रोंके घर सीधे पहुंच जायं ?

पहले तो हमें यह समझना है कि हम मध्यमवर्ग और उच्च वर्गके माने जानेवाले 'प्राणी' हैं, अर्थात् हम प्राणवान बनाना चाहते हैं। जिनकी सेवा करना चाहते हैं उनके-से बनना चाहते हैं। पानी कहींका भी क्यों न हो, समुद्रकी ओर ही जाना चाहता है। यद्यपि सब पानी समुद्रतक नहीं पहुंच सकता, लेकिन चाहे वह मेरा बहाया हुआ हो, या गंगाजीका, दोनोंकी गति समुद्रकी ओर है। दोनों निम्नगतिक—नम्र हैं। एक जगह थोड़ा पानी है, उसकी ताकत कम होनेके कारण भले ही बीचमें रुक जाय और किसी छोटे वृक्षको जीवन प्रदान करनेमें उसका उपयोग हो—यह तो हुआ उसका भाग्य, परंतु उसकी गति तो समुद्र ही है। समुद्र तक पहुंचनेका भाग्य तो

गंगाके समान महानदियोंको ही प्राप्त होता है। इसी तरह उच्च और मध्यम श्रेणियां पहाड़ और टीलेके समान हैं। यहां जिनकी हमें सेवा करनी है वह महासमुद्र है। इस महासमुद्रतक सब न भी पहुंच सकें, तो भी कामना तो हम यही करते हैं कि वहांतक पहुंचें। अर्थात् जहांतक पहुंच पायें उतने ही से संतोष न मान लें। हमें जिसकी सेवा करनी है उसका प्रश्न सामने रखकर अपने जीवनकी दिशा बदलते रहना चाहिए और खुद निम्नगतिक——नम्र——बनाना चाहिए।

पर इसके कोई स्थूल नियम नहीं बनाये जा सकते। अगर बनाना शक्य हो तो भी ये मेरे पास नहीं हैं और न मैं चाहता ही हूं कि ऐसे नियम बनानेका कोई प्रयत्न किया जाय। चार या पांच वर्षोंमें उच्च और मध्यम श्रेणीके लोगोंको गरीब बना देनेकी कोई विधि नहीं है। हमें गरीबोंकी सेवा करनी है, यह समझकर जाग्रत रहकर शक्तिभर काम करना चाहिए। कोई नियम नहीं है, इसीलिए बुद्धि और पुरुषार्थकी गुंजाइश है। पिछले सोलह वर्षोंसे मेरा यह प्रयत्न जारी है कि मैं गरीबोंसे एकरूप हो जाऊं, लेकिन मैं नहीं समझता कि गरीबोंका जीवन व्यतीत करनेमें सफल हुआ हूं। पर इसका उपाय क्या है। मुझे इसका कोई दुःख भी नहीं है। मेरे लिए तो प्राप्तिके आनंदकी अपेक्षा प्रयत्नका आनंद बढ़कर है।

शिवकी उपासना करना हो तो शिव बनो, ऐसा एक शास्त्रीय सूत्र है। इसी तरह गरीबोंकी सेवा करनेके लिए गरीब बनना चाहिए। पर इसमें विवेककी जरूरत है। इसके मानी यह नहीं कि हम उनके जीवनकी बुराइयोंको भी अपना लें। वे जैसे दरिद्रनारायण हैं वैसे मूर्ख-नारायण भी तो हैं। क्या हम भी उनकी सेवाके लिए मूर्ख बनें? शिव बननेका मतलब यह नहीं है। जिनका धन गया उनकी बुद्धि तो उससे भी पहले चली गई। उनके-जैसे बनकर हमें अपनी बुद्धि नहीं खोनी चाहिए।

देहातमें किसान धूपमें काम करते हैं। लोग कहते हैं, बेचारे किसानोंको दिनभर धूपमें काम करना पड़ता है।" अरे, धूपमें और खुले आकाशके नीचे काम करना, यही तो उनका वैभव बचा रह गया है। क्या उसे भी आप छीन लेना चाहते हैं? धूपमें तो विटामिन काफी है। अगर हो सके तो हम भी उन्हींकी भांति करना शुरू कर दें। पर वे जो रातमें मकानोंको

संदूक बनाकर उनमें अपने-आपको बंद करके सोते हैं उसकी नकल हमें नहीं करनी चाहिए । हम काफी कपड़े रखें । उनसे भी हम कहें कि रातमें आकाशके नीचे सोओ और नक्षत्रोंका वैभव लूटो । हम उनके प्रकाशका अनुकरण करें, उनके अंधकारका नहीं । उनके पास अगर पूरे कपड़े नहीं हैं तो हम उन्हें इतना समर्थ क्यों न बना दें कि वे भी अपने लिए काफी कपड़े बना लें ? उन्हे महीनों तरकारी नहीं मिलती, दूध नहीं मिलता । क्या हम भी साग-भाजी और दूध छोड़ दें ? यह विचार ठीक नहीं है । एक आदमी अगर डूब रहा है और अगर उसे देखकर हमें दुःख होता है तो क्या हम भी उसके पीछे डूब जायं ? इसमें दया है, सहानभूति भी है । लेकिन यह दया और सहानुभूति किस कामकी जिसमें तारक बुद्धिका अभाव हो ? सच्ची कृपामें तारक शक्ति होनी चाहिए । तुलसीदासजीने उसे 'कृपालु अलायक' कहा है ।

हमें अपने जीवनकी खराबियोंको निकालकर उसे पूर्ण बनाना चाहिए । उसी प्रकार उनकी बुराइयोंको दूरकर उनका जीवन भी पूर्ण बनानेमें उनकी सहायता करनी चाहिए । पूर्ण जीवन वह हैं जिसमें रस या उत्साह है । भोग या विलासिताको उसमें स्थान नहीं । हम दरिद्रों-जैसे बनें या पूर्ण जीवनकी ओर बढ़ें ? लोग कहते हैं, ऐसा करनेसे हमारा जीवन त्यागमय नहीं दिखाई देगा । पर हमें इस बातका विचार नहीं करना है कि वह कैसा दिखाई देगा । हम यह भी न सोचें कि इसका परिणाम क्या होगा । परिणाम-परायणताको छोड़ देना चाहिए । हमारी जीवन-पद्धति उनसे भिन्न है । हमें दूध मिलता है, उन्हें नहीं मिलता । इस बातका हमें दुःख हो तो वह उचित ही है । यह दुःखबीज तो हमारी हृदय-भूमिमें रहना ही चाहिए । वह हमारी उन्नति करेगा । मुझे तो इसका कोई उपाय मिल भी जाय तो दुःख होगा । हमारे पुरुषार्थ और रचनात्मक शक्तिसे तारक बुद्धिका प्रचार होकर सारी देहाती जनता एक इंच भी आगे बढ़ सके तो हम स्वराज्यके नजदीक पहुंचेंगे । जैसे नदियां समुद्रकी ओर बहती हैं उसी प्रकार हमारी वृत्ति और शक्ति गरीबोंकी ओर बहती रहे, इसीमें कल्याण है ।

: २१ :

त्याग और दान

एक आदमीने भलेपनसे पैसा कमाया है। उससे वह अपनी गृहस्थी सुख-चैनसे चलाता है। बाल-बच्चोंका उसे मोह है, देहकी ममता है। स्वाभावतः ही पैसेपर उसका जोर है। दिवाली नजदीक आते ही वह अपना तलपट सावधानीसे बनाता है। यह देखकर कि सब मिलाकर खर्च उमाके अंदर है और उससे 'पूंजी' कुछ बढ़ी ही है, उसे खुशी होती है। बड़े ठाठसे और उतने ही भक्तिभावसे वह लक्ष्मीजीकी पूजा करता है। उसे द्रव्यका लोभ है, फिर भी नामका कहिए या परोपकारका कहिए, उसे खासा खयाल है। उसे ऐसा विश्वास है कि दान-धर्मके लिए——इसीमें देशको भी ले लीजिए——खर्च किया हुआ धन ब्याजसमेत वापस मिल जाता है। इस-लिए इस काममें वह खुले हाथों खर्च करता है। अपने आस-पासके गरीबोंको इसका इस तरह बड़ा सहारा रहता है, जिस तरह छोटे बच्चोंको अपनी मांका।

दूसरे एक आदमीने इसी तरह सचाईसे पैसा कमाया था। लेकिन इसमें उसे संतोष न होता था। उसने एक बार बागके लिए कुआं खुदवाया। कुआं बहुत गहरा था। उसमेंसे थोड़ी मिट्टी, कुछ छरीं और बहुत पत्थर निकले। कुआं जितना गहरा गया, इन चीजोंका ढेर भी उतना ही ऊंचा लग गया। मन-ही-मन वह सोचने लगा, "मेरी तिजोरीमें पैसेका ऐसा ही टीला लगा हुआ है, उसी अनुपातसे किसी और जगह कोई गड्ढा तो नहीं पड़ गया होगा!" विचारका धक्का बिजली जैसा होता है। इतने विचारसे ही वह हड़बड़ाकर सचेत हो गया। वह कुआं तो उसका गुरु बन गया। कुएंसे उसे जो कसौटी मिली उसपर उसने अपनी सचाईको घिसकर देखा। वह खरी नहीं उतरती, ऐसा ही उसे दिखाई दिया। इस विचारने उसपर अपना प्रभुत्व जमा लिया कि 'व्यापारिक सचाई' की रक्षा मैंने भले ही की हो, फिर भी इस बालूकी बुनियादपर मेरा मकान कबतक टिक सकेगा? अंतमें पत्थर, मिट्टी और मानिक-मोतियोंमें उसे कोई फर्क नहीं दिखाई

दिया। यह सोचकर कि फिजूलका कूड़ाकचरा भरकर रखनेसे क्या लाभ, वह एक दिन सबेरे उठा और अपनी सारी संपत्ति गधे पर लादकर गंगा-किनारे ले गया। "मां, मेरा पाप धो डाल !" इतना कहकर उसने वह कमाई गंगा माताके आंचलमें उड़ेल दी और बेचारा स्नान करके मुक्त हुआ। उससे कोई-कोई पूछते हैं, "दान ही क्यों न कर दिया ?" वह जवाब देता है, "दान करते समय 'पात्र' तो देखना पड़ता है। अपात्र को दान देनेसे धर्मके बदले अधर्म होनेका डर जो रहता है। मुझे अनायास गंगाका 'पात्र' मिल गया, उसमें मैंने दान कर दिया।" इससे भी संक्षेपमें वह इतना ही कहता है, "कूड़े-कचरेका भी कहीं दान किया जाता है ?" उसका अंतिम उत्तर है 'मौन'। इस तरह उसके संपत्ति-त्यागसे उसके सब 'सगों' ने उसका परित्याग कर दिया।

पहली मिसाल दानकी है, दूसरी त्यागकी। आजके जमानेमें पहली मिसाल जिस तरह दिल पर जमती है, उस तरह दूसरी नहीं। लेकिन यह हमारी कमजोरी है। इसीलिए शास्त्रकारोंने भी दानकी महिमा कलियुगके लिए कही हैं। 'कलियुग' माने क्या ? कलियुग माने दिलकी कमजोरी। दुर्बल हृदय द्रव्यके लोभको पूरी तरह नहीं छोड़ सकता। इसलिए उसके मनकी उड़ान अधिक-से-अधिक दानतक ही हो सकती है। त्यागतक तो उसकी पहुंच नहीं हो सकती। लोभी मनको तो त्यागका नाम सुनते ही जाने कैसा लगता है। इसलिए उसके सामने शास्त्रकारोंने दानके ही गुण गाये हैं।

त्याग तो बिलकुल जड़पर आघात करनेवाला है। दान ऊपर-ही-ऊपर से कोंपलें खोंटने जैसा है। त्याग पीनेकी दवा है, दान सिरपर लगानेकी सोंठ है। त्यागमें अन्यायके प्रति चिढ़ है, दानमें नामका लिहाज है। त्यागसे पापका मूलधन चुकता है और दानसे पापका ब्याज। त्यागका स्वभाव दयालु हैं, दानका ममतामय। धर्म दोनों ही पूर्ण हैं। त्यागका निवास धर्मके शिखरपर है, दानका उसकी तलहटी में।

पुराने जमानेमें आदमी और घोड़ा अलग-अलग रहते थे। कोई किसीके अधीन न था। एक बार आदमीके एक जल्दीका काम आ पड़ा। उसने थोड़ी देरके लिए घोड़ेसे उसकी पीठ किरायेपर मांगी। घोड़ेने भी पड़ोसीके धर्मको सोचकर आदमी का कहना स्वीकार कर लिया। आदमीने कहा,

"लेकिन तेरी पीठपर मैं यों नहीं बैठ सकता । तू लगाम लगाने देगा तभी मैं बैठ सकूंगा ।" लगाम लगाकर मनुष्य उसपर सवार हो गया और घोड़ेने भी थोड़े समयमें काम बजा दिया । अब करारके मुताबिक घोड़ेकी पीठ खाली करनी चाहिए थी, पर आदमीसे लोभ न छूटता था । वह कहता है, "देख भाई, तेरी यह पीठ मुझसे छोड़ी नहीं जाती, इसलिए इतनी बात तू माफ कर । हां, तूने मेरी खिदमत की है (और आगे भी करेगा) इसे मैं कभी न भूलूंगा । इसके बदले में मैं तेरी खिदमत करूंगा, तेरे लिए घुड़साल बनाऊंगा, तुझे दाना-घास दूंगा, पानी पिलाऊंगा, खरहरा करूंगा, जो कहेगा वह करूंगा; पर छोड़नेकी बात मुझसे न कहना ।" घोड़ा बेचारा कर ही क्या सकता था ? जोरसे हिनहिनाकर उसने फरियाद भगवान्के दरबारमें पेश की । घोड़ा त्याग चाहता था, आदमी दानकी बातें कर रहा था । भले आदमी, कम-से-कम अपना यह करार तो पूरा होने दे !

: २२ :

कृष्ण-भक्तिका रोग

"दुनिया पैदा करें" ब्रह्माजीकी यह इच्छा हुई । इसके अनुसार कारबार शुरू होनेवाला ही था कि कौन जाने कैसे उनके मनमें आया कि "अपने काममें भला-बुरा बतानेवाला कोई रहे तो बड़ा मजा रहेगा ।" इसलिए आरंभमें उन्होंने एक तेज-तर्रार टीकाकार गढ़ा और उसे यह अख्तियार दिया कि आगेसे मैं जो गढ़ूंगा उसकी जांचका काम तुम्हारे जिम्मे रहा । इतनी तैयारीके बाद ब्रह्माजीने अपना कारखाना चालू किया । ब्रह्माजी एक-एक चीज बनाते जाते और टीकाकार उसकी चूक दिखाकर अपनी उपयोगिता सिद्ध करता जाता । टीकाकारकी जांचके सामने कोई चीज बे-ऐब ठहर ही न पाती । "हाथी ऊपर नहीं देख पाता, ऊंट ऊपर ही देखता है । गदहेमें चपलता नहीं है, बंदर अत्यंत चपल है ।" यों टीकाकारने अपनी टीकाके तीर छोड़ने शुरू किये । ब्रह्माजीकी अकल गुम होगई । फिर

भी उन्होंने एक आखिरी कोशिश कर देखनेकी ठानी और अपनी सारी कारीगरी खर्च करके 'मनुष्य' गढ़ा। टीकाकार उसे बारीकीसे निरखने लगा। अंतमें एक चूक निकल ही आई। "इसकी छातीमें एक खिड़की होनी चाहिए थी, जिससे इसके विचार सब समझ पाते।" ब्रह्माजी बोले— "तुझे रचा, यही मेरी एक चूक हुई, अब मैं तुझे शंकरजीके हवाले करता हूं।"

यह एक पुरानी कहानी कहीं पढ़ी थी। इसके बारेमें शंका करनेकी सिर्फ एक ही जगह है। वह यह कि कहानीके वर्णनके अनुसार टीकाकार शंकरजीके हवाले हुआ नहीं दीखता। शायद ब्रह्माजीको उनपर दया आगई हो, या शंकरजीने उनपर अपनी शक्ति न आजमाई हो। जो हो, इतना सच है कि आज उनकी जाति बहुत फैली हुई पाई जाती है। गुलामीके जमानेमें कर्तृत्व बाकी न रह जानेपर वक्तव्यको मौका मिलता है। कामकी बात खत्म हुई कि बातका ही काम रहता है और बोलना ही है तो नित्य नये विषय कहांसे खोजे जायं? इसलिए एक सनातन विषय चुन लिया गया 'निंदा-स्तुति जनकी, वार्ता वधू-धनकी।" पर निंदा-स्तुतिमें भी तो कुछ बाट-बखरा होना चाहिए। निंदा अर्थात् पर-निंदा और स्तुति अर्थात् आत्म-स्तुति। ब्रह्माजीने टीकाकारको भला-बुरा देखनेको तैनात किया था। उसने अपना अच्छा देखा, ब्रह्माजीका बुरा देखा। मनुष्यके मनकी रचना ही कुछ ऐसी विचित्र है कि दूसरेके दोष उसको जैसे उभरे हुए साफ दिखाई देते हैं, वैसे गुण नहीं दिखाई देते। संस्कृतमें 'विश्वगुणादर्श-चंपू' नामका एक काव्य है। वेंकटाचारी नामके एक दाक्षिणात्य पंडितने लिखा है। उसमें यह कल्पना है कि कृशानु और विभावसु नामके दो गंधर्व विमानमें बैठकर फिर रहे हैं, और जो कुछ उनकी नजरोंके सामने आता है उसकी चर्चा किया करते हैं। कृशानु दोष-द्रष्टा है, विभावसु गुण-ग्राहक है। दोनों अपनी अपनी दृष्टिसे वर्णन करते हैं। गुणादर्श अर्थात् 'गुणोंका दर्पण' इस काव्यका नाम रखकर कविने अपना निर्णायक मत विभावसुके पक्षमें दिया है। फिर भी कुल मिलाकर वर्णनका ढंग कुछ ऐसा है कि अंतमें पाठकके मनपर कृशानुके मतकी छाप पड़ती है। गुण लेनेके इरादेसे लिखी हुई चीजकी तो यह दशा है। फिर दोष देखनेकी वृत्ति होती तो क्या हाल होता?

चंद्रकी भांति प्रत्येक वस्तुके शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष होते हैं। इसलिए दोष ढूंढ़नेवाले मनके यथेच्छ विचरनेमें कोई बाधा पड़नेवाली नहीं है। 'सूर्य दिनमें दिवाली करता है, फिर भी रातको तो अंधेरा ही देता है,' इतना ही कह देनेसे उस सारी दिवालीकी होली हो जायगी। उसमें भी अवगुण ही लेनेका नियम बना लिया जाय तो दो दिनोंमें एक रात न दिखकर एक दिनकी अलग-अलग दो रातें दिखाई देंगी। फिर अग्निकी ज्योतिकी ओर ध्यान न जाकर धुएंसे अग्निका अनुमान करनवाले न्याय-शास्त्रका निर्माण होगा। भगवान् ने ये सब मजेकी बातें गीतामें बतलाई हैं। अग्निका धुआ, सूर्यकी रात अथवा चंद्रका कृष्णपक्ष देखनेवाले 'कृष्ण-भक्तों' का उन्होंने एक स्वतंत्र वर्ग रखा है। दिनमें आंख बंद कीं तो अंधेरा और रातको आंखे खोलीं तो अंधेरा——स्थितप्रज्ञकी इस स्थितिके अनुसार इन लोगोंका कार्यक्रम है। पर भगवान्ने स्थितप्रज्ञके लिए मोक्ष बतलाया है तो इनके लिए कपाल-मोक्ष। पर इतना होनेपर भी यह संप्रदाय छुतहे रोगकी तरह बढ़ रहा है। पुतलीके काली होने या काले रंगमें आकर्षण अधिक होनेकी वजह से काला पक्ष जैसा हमारी आंखमें भरता है वैसा उज्ज्वल पक्ष नहीं भरता। ऐसी स्थितिमें यह सांप्रदायिक रोग किस औषधि से अच्छा होगा, यह जान रखना जरूरी है।

पहली दवा है चित्तमें भिदी हुई इस 'कृष्ण-भक्ति' को बाहरी कृष्ण न दिखावें, भीतरके कृष्णके दर्शन करावें। लोगोंकी कालिख देखनेकी आदी निगाहको मनके भीतरकी कालिख दिखावें। विश्वके गुण-दोषको जांचकर देखनेवाला मनुष्य बहुधा अपने-आपको निर्दोष मान बैठता है। उसका यह भ्रम दूर होनेपर उसके परीक्षणका डंक अपने-आप टूट जाता है। बाइबिलके 'नये करार' में इस बारेमें एक सुंदर प्रसंगका उल्लेख है——एक बहनसे कोई बुरा काम शायद होगया। उसकी जांच करके न्याय देनेके लिए पंच बैठे थे। वहां श्रवण-भक्त भी काफी तादादमें जुट गए होंगे, यह कहनेकी आवश्यकता ही नहीं। किंतु विशेषता यह थी कि उस बहनका सद्भाग्य भगवान ईसाको वहां खींच लाया था। पंचोंने फैसला सुनाया——"इस बहनने घोर अपराध किया है। सब लोग पत्थरोंसे मारकर उसे शरीरसे मुक्त करें। फैसला सुनते ही लोगोंके हाथ फड़कने लगे और आसपासके ढेले

थर-थर कांपने लगे। भगवान् ईसाको उन ढेलोंपर दया आई। उन्होंने खड़े होकर सबसे एक ही बात कही—'जिसका मन बिल्कुल साफ हो वह पहला ढेला मारे।' जमात जरा देरके लिए ठिठक गई। फिर धीरे-धीरे वहांसे एक-एक आदमी खिसकने लगा। अंतमें वह अभागी बहन और भगवान् ईसा, ये दो ही रह गए। भगवान्ने उसे थोड़ा उपदेश देकर प्रेमसे विदा किया। यह कहानी हमें सदा ध्यानमें रखनी चाहिए।

बुरा जो देखन में चला बुरा न दीखा कोय।
जो घट खोजा आपना मुझसा बुरा न कोय॥

दूसरी दवा है मौन। पहली दवा दूसरेके दोष दीखे ही नहीं, इसलिए है। दृष्टि-दोषसे दोष दीखनेपर यह दूसरी दवा अचूक काम करती है। इससे मन भीतर-ही-भीतर तड़फड़ायेगा। दो-चार दिन नींद भी खराब जायगी; पर आखिरमें थककर मन शांत हो जायगा। तानाजीके खेत रहनेपर मावले पीठ दिखा देंगे ऐसे रंग दिखाई पड़ने लगे। तब जिस रस्सी की मददसे वे गढ़पर चढ़े थे और जिसकी मददसे अब वे उतरनेका प्रयत्न करनेवाले थे वह रस्सी ही सूर्याजीने काट डाली। वह "रस्सी तो मैंने कभीकी काट दी है।" सूर्याजीके इस एक वाक्यने लोगोंमें निराशाकी वीरश्री पैदा कर दी और गढ़ सर होगया। रस्सी काट डालनेका तत्त्वज्ञान बहुत ही महत्त्वका है। मौन रस्सी काट देने जैसा है। 'या तो दूसरे के दोष देखना भल जा, नहीं तो बैठकर तड़फड़ाता रह'। मनपर यह नौबत आ जाती है और यह हुआ नहीं कि सारा रास्ता सीधा हो जाता है। कारण, जिसको जीना है उसके लिए बहुत समयतक तड़फड़ाते बैठना सुविधाजनक नहीं होता।

तीसरी दवा है कर्मयोगमें मग्न हो रहना। जैसे आज सूत कातना अकेला ही ऐसा उद्योग है कि छोटे-बड़े सबको काफी हो सकता है, वैसे ही कर्मयोग एक ही ऐसा योग है जिसकी सर्वसाधारणके लिए बे-खटके सिफारिश की जा सकती है। किंबहुना, सूत कातना ही आजका कर्मयोग है।

सूत कातनेका कर्म-योग स्वीकार किया कि लोक-निंदाको मथते रहनेकी फुर्सत ही नहीं रहती। जैसे किसान अन्न-अन्नके दानेकी असली कीमत् समझता है वैसे ही सूत कातनेवालेको एक-एक क्षणके महत्त्वका पता चलता है। "क्षणभर भी खाली न जाने दें" समर्थकी यह सूचना अथवा "क्षणार्ध

भी व्यर्थ न खो" नारदका यह नियम क्या कहता है, यह सूत कातते हुए, अक्षरशः समझमें आता है। कर्मयोगका सामर्थ्य अद्भुत है। उसपर जितना जोर दिया जाय, कम है। यह मात्रा ऐसे अनेक रोगोंपर लागू है, पर जिस रोगकी उपाय-योजना इस समय की जा रही है उसपर उसका अद्भुत गुण अनुभूत है।

तीन दवाएं बताई गई। तीनों दवाएं रोगियोंकी जीभको कड़वी तो लगेंगी, पर परिणाममें वे अतिशय मधुर हैं। आत्म-परीक्षणसे मनका, मौनसे वाणीका और कर्मयोगसे शरीरका दोष झड़े बिना आत्माको आरोग्य नहीं मिलेगा। इसलिए कड़वी कहकर दवा छोड़ी नहीं जा सकती। इसके सिवा यह दवा शहदके साथ लेनेकी है, जिससे इसका कड़वापन मारा जायगा। सब प्राणियोंमें भगवद्भाव होना मधु है। उसमें घोलकर ये तीन मात्राएं लेनेसे सब मीठा हो जायगा।

: २३ :

कविके गुण

एक सज्जनका सवाल है कि आजकल हममें पहलेकी तरह कवि क्यों नहीं है? इसके उत्तरमें नीचेके चार शब्द लिखता हूं—

आजकल कवि क्यों नहीं हैं? कविके लिए आवश्यक गुण नहीं हैं, इसलिए। कवि होनेके लिए किन गुणोंकी आवश्यकता होती है? अब हम इसीपर विचार करें।

कवि माने मनका मालिक। जिसने मन नहीं जीता वह ईश्वरकी सृष्टिका रहस्य नहीं समझ सकता। सृष्टिका ही नाम काव्य है। जबतक मन नहीं जीता जाता, राग-द्वेष शांत नहीं होते, तबतक मनुष्य इंद्रियोंका गुलाम ही बना रहता है। इंद्रियोंके गुलामको ईश्वरकी सृष्टि कैसे दिखाई दे? वह बेचारा तो तुच्छ विषय-सुखमें ही उलझा रहेगा। ईश्वरीय सृष्टि विषय-सुखसे परे है। इस परेकी सृष्टिके दर्शन हुए बिना कवि बनना

असंभव है। सूरदासकी आंखें उनकी इच्छाके विरुद्ध विषयोंकी ओर दौड़ा करती थीं। उन आंखोंको फोड़कर जब वह अंधे हुए तब उन्हें काव्यके दर्शन हुए। बालक ध्रुवने घोर तपश्चर्या द्वारा जब इंद्रियोंको वशमें कर लिया तब भगवान्‌ने अपने काव्यमय शंखसे उसके कपोलको छू दिया और इस स्पर्शके साथ ही उस अज्ञान बालकके मुखसे साक्षात् वेदवाणीका रहस्य व्यक्त करनेवाला अद्‌भुत काव्य प्रकट हुआ। तुकारामने जब शरीर, इंद्रिय और मनको पूर्ण रूपसे भंग किया तभी तो महाराष्ट्रको अभंग-वाणीका लाभ हुआ। मनोनिग्रहके प्रयत्नमें जब शरीरपर चींटियोंके बमीठे चढ़ गए तब उसमेंसे आदि-काव्यका उदय हुआ। आज तो हम इंद्रियोंकी सेवाके हाथ बिक गए हैं। इसलिए हममें आज कवि नहीं है।

समुद्र जैसे सब नदियोंको अपने उदरमें स्थान देता है उसी प्रकार समस्त ब्रह्मांडको अपने प्रेमसे ढक ले, इतनी व्यापक बुद्धि कविमें होनी चाहिए। पत्थरमें ईश्वरके दर्शन करना काव्यका काम है। इसके लिए व्यापक प्रेमकी आवश्यकता है। ज्ञानेश्वर महाराज भैंसेकी आवाजमें भी वेद श्रवण कर सके, इसीलिए वह कवि हैं। वर्षा शुरू होते ही मेंढकोंको टर्राता देख वसिष्ठको जान पड़ा कि परमात्मा द्वारा कृपाकी वर्षासे कृतकृत्य हुए सत्पुरुष ही इन मेढ़कोंके रूपमें अपने आनंदोद्‌गार प्रकट कर रहे हैं, और इसपर उन्होंने भक्ति-भावसे उन मेढ़कोंकी स्तुति की। यह स्तुति ऋग्वेदमें 'मंडक-स्तुति'के नामसे ली गई है। अपनी प्रेमल वृत्तिका रंग चढ़ाकर कवि सृष्टिकी ओर देखता है। इसीसे उसका हृदय सृष्टि-दर्शनसे नाचता है। माताके हृदयमें अपनी संतानके प्रति प्रेम होता है, इसलिए उसे देखकर उसके स्तनोंका दूध रोके नहीं रुकता। वैसे ही सकल चराचर सृष्टिके प्रति कविका मन प्रेमसे भरा होता है, इससे उसके दर्शन हुए कि वह पागल हो जाता है। उसकी वाणीसे काव्यकी धारा बह निकलती है। वह उसे रोक ही नहीं पाता। हममें ऐसा व्यापक प्रेम नहीं। सृष्टिके प्रति उदार बुद्धि नहीं। पुत्र-कलत्र-गृहादिसे परे हमारा प्रेम नहीं गया है। फिर 'वृक्ष वल्ली आम्हां वनचरे सोयरों'—'वृक्ष, लता और वचन हमारे कुटुंबी हैं'—यह काव्य हमें कहांसे सूझे!

कविको चाहिए कि वह सारी सृष्टिपर आत्मिक प्रेमकी चादर डाल दे।

वैसे ही उसको सृष्टिके वैभवसे अपनी आत्माको सजाना चाहिए। वृक्ष, लता और वनचरोंमें उसे आत्मदर्शन होना चाहिए। साथ ही आत्मामें वृक्ष, वल्ली, वनचरोंका अनुभव करते आना चाहिए। विश्व आत्मरूप है, इतना ही नहीं, बल्कि आत्मा विश्वरूप है यह कविको दिखाई देना चाहिए। पूर्णिमाके चंद्रको देखकर उसके हृदय-समुद्रमें ज्वार आना ही चाहिए, किंतु पूर्णिमाके अभावमें उसके हृदयमें भाटा न होना चाहिए। अमावस्याके गाढ़ अंधकारमें आकाश बादलोंसे भरा होनेपर भी चंद्रदर्शनका आनंद उसे मिलना चाहिए। जिसका आनंद बाहरी जगत्में मर्यादित है वह कवि नहीं है। कवि आत्मनिष्ठ है, कवि स्वयंभू है। पामर दुनिया विषय-सुखसे झूमती है, कवि आत्मानंदमें डोलता है। लोगोंको भोजनका आनंद मिलता है, कविको आनंदका भोजन मिलता है। कवि संयमका संयम है और इसलिए स्वतंत्रताकी स्वतंत्रता है। टेनिसनने बहते झरनेमें आत्माका अमरत्व देखा, कारण अमरत्वका बहता झरना उसे अपनी आत्मामें दिखाई दिया था। कवि विश्व-सम्राट् है, कारण वह हृदय-सम्राट् होता है। कविको जाग्रत अवस्थामें महाविष्णुकी योगनिद्राके स्वप्नोंका ज्ञान होता है, और स्वप्नमें जाग्रत नारायणकी जगत्-रचना देखनेको मिलती है। कविके हृदयमें सृष्टिका सारा वैभव संचित रहता है। हमारे उदरमें भूखका ज्ञान भरा हुआ है और मुखमें भीखकी भाषा। जहां इतना भान भी अभी स्पष्ट नहीं हुआ कि मैं स्वतंत्र हूं अथवा मनुष्य हूं, वहां आत्मनिष्ठ काव्य-प्रतिभाकी आशा नहीं की जा सकती।

कविमें 'लोक-हृदयको यथावत् संप्रकाशित' करनेका सामर्थ्य होना चाहिए, यह सभी मानते हैं। पर लोगोंको इस बातका भान नहीं होता कि सत्य-निष्ठा इस सामर्थ्यका मूलाधार है। सत्यपूत वाणीसे अमोघ वीर्य (वीरता) उत्पन्न होता है। जो "सत्य होगा वही बोलूंगा," इस तरहके नैष्ठिक सत्याचरणके फलस्वरूप ऐसा अद्भुत सामर्थ्य प्रकट होता है कि "जो बोला जायगा वही सत्य होगा।" भवभूतिने ऋषियोंके काव्य-कौशलका वर्णन किया है कि "ऋषि पहले बोल जाते और बादमें उसमें अर्थ प्रविष्ट होता।" इसका कारण है ऋषियोंकी सत्यनिष्ठा। "समूलो वा एष परिशुष्यति। योऽनृतमभिवदति। तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम्।" जो असत्य

बोलता है वह समूल शुष्क हो जाता है, अतः मुझे असत्य नहीं बोलना चाहिए। प्रश्नोपनिषद्में ऋषिने ऐसी चिंता प्रदर्शित की है। जाज्वल्य सत्यनिष्ठामेंसे काव्यका जन्म होता है। वाल्मीकिने पहले रामायण लिखी, बादको रामने आचरण किया। वाल्मीकि सत्यमूर्त्ति थे, अतः रामको उनका काव्य सत्य करना ही पड़ा। और वाल्मीकिके राम थे भी कैसे---"द्विः शरं नाभिसंधत्ते रामो द्विर्नाभिभाषते।" राम न दोबारा बाण छोड़ते हैं और न दो बार बोलते हैं। आदिकविकी काव्य-प्रतिभाको सत्यका आधार था। इसीसे उनके ललाटपर अमरत्वका लेख लिखा गया। सृष्टिके गूढ़ रहस्य अथवा समाज-हृदयकी सूक्ष्म भावनाएं व्यक्त कर दिखानेका सामर्थ्य चाहते हो तो सत्यपूत बोलना चाहिए। हूबहू वर्णन करनेकी शक्ति एक प्रकारकी सिद्धि है। कवि वाचासिद्ध होता है, कारण वह वाचाशुद्ध होता है। हमारी वाचा शुद्ध नहीं है। असत्यको हम खपा लेते हैं, इतना ही नहीं, सत्य हमें खटकता है। ऐसी हमारी दीन दशा है। इसलिए कविका उदय नहीं होता।

कविकी दृष्टि शाश्वत कालकी ओर रहनी चाहिए। अनंत कालकी ओर नजर हुए बिना भवितव्यताका परदा नहीं खुलता। प्रत्यक्षसे अंध हुई बुद्धिको सनातन सत्य गोचर नहीं होते। सुकरातको विषका प्याला पिलानेवाले तर्कने सुकरातको मर्त्य देखा। "मनुष्य मर्त्य है और सुकरात मनुष्य है, इसलिए सुकरात मर्त्य है।" इससे आगेकी कल्पना उस टुटपुंजिये तर्कको न सूझी, लेकिन विषप्राशनके दिन आत्माकी सत्ताके संबंध में प्रवचन करनेवाले सुकरातको परेका भविष्य स्पष्ट दिखाई देता था। भवितव्यताके उदरमें सत्यकी जयको छिपा हुआ वह देख रहा था। इस वजहसे वह वर्तमान युगके विषयमें बेफिक्र रहा। ऐसी उदासीन वृत्ति मनमें रमे बिना कवि-हृदयका निर्माण नहीं हो सकता। संसारके सब रस करुणरसकी गुलामीमें लगे रहनेवाले हैं, यह बात समाजके चित्तपर अंकित कर देनेका भवभूतिने अनेक प्रकारसे प्रयत्न किया। पर तत्कालीन विषयलोलुप उन्मत्त समाजको वह मान्य न हुआ। उसने भवभूतिको ही फेंक दिया। पर कविने अपनी भाषा न छोड़ी। कारण, शाश्वत कालपर उसे भरोसा था। शाश्वत कालपर नजर रखनेकी हमारी हिम्मत नहीं होती। चारों तरफसे घिरा हुआ हिरन जैसे

हताश होकर आस-पास देखना छोड़ देता है और झट बैठ जाता है, वैसे ही हमारी विषय-त्रस्त बुद्धिसे भावी कालकी ओर देख सकना नहीं होता। "को जाने कलकी ? आज जो मिले वह भोग लो", इस वृत्तिसे काव्यकी आशा नहीं हो सकती।

ईशावास्योपनिषद्के निम्नलिखित ब्रह्मपरमंत्रमें यह अर्थ सुझाया गया है:

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः।

याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।

अर्थ--कवि (१) मनका स्वामी, (२) विश्व-प्रेमसे भरा हुआ, (३) आत्मनिष्ठ, (४) यथार्थभाषी और (५) शाश्वत कालपर दृष्टि रखनेवाला होता है।

मननके लिए निम्नलिखित अर्थ सुझाता हूं--

(१) मनका स्वामित्व = ब्रह्मचर्य, (२) विश्वप्रेम = अहिंसा, (३) आत्मनिष्ठता = अस्तेय, (४) यथार्थभाषित्व = सत्य, (५) शाश्वत कालपर दृष्टि = अपरिग्रह।

: २४ :
फायदा क्या है ?

कहते हैं रेखागणितकी रचना पहले-पहल यूक्लिडने की। वह ग्रीस (यूनान) का रहनेवाला था। उसके समयमें ग्रीकके सब शिक्षितोंके दिमाग राजनीतिसे भर गये थे--या यों कहिए कि उनके दिमागोंमें राजनीतिके पत्थर भरे थे। इस वजहसे रेखागणितके कद्रदां दुर्लभ हो गये थे और यूक्लिड तो रेखागणितपर मुग्ध था। फिर भी जैसे आज चरखेपर मुग्ध एक मानवने बहुतेरे राजनीति-विशारदोंको चक्करमें डाल दिया, वैसे ही यूक्लिडने भी बहुतेरे राजनीतिज्ञों को रेखाएं खींचनेमें लगा दिया था। रोज यूक्लिडके घरपर रेखागणितके शिक्षार्थियोंका जमघट लगता और वह उन्हें अपना आविष्कार कुशलतापूर्वक समझाता।

बहुतेरे राजनीतिज्ञोंको यूक्लिडकी ओर आकर्षित होते देख एक राजाके मनमें आया, "हम भी चल देखें, कुछ फायदा होगा।" उसने हफ्तेभर यूक्लिडके पास रेखागणित सीखा। अंतमें उसने यूक्लिडसे पूछा, "मुझे आज रेखागणित सीखते सात दिन हो गये, पर यह न समझमें आया कि इससे फायदा क्या है?" यूक्लिडने गंभीरतापूर्वक अपने एक शिष्यसे कहा, "सुनो जी, इन्हें चार आने रोजके हिसाबसे सात दिनके पौने दो रुपये दे दो।" फिर राजाकी ओर मुखातिब होकर कहा, "तुम्हारा इस हफ्तेका काम पूरा हो गया, कलसे तुम कहीं, और काम ढूंढो।" क्या वह राजनीति-कुशल राजा झेंपनेके बजाय पौने दो रुपये पल्ले पड़नेसे खुश हुआ होगा? हम लोगोंकी मनोवृत्ति उस ग्रीक राजाकी-सी बन गई है।

हर बातमें फायदा देखनेकी बहुतोंकी आदत पड़ गई है। सूत कातनेसे बड़ा फायदा है, इससे लेकर स्वराज्य हासिल होनेतकके फायदेके बारे में खचियों सवाल होते हैं। ये फायदावादी लोग अपनी फायदेवाली अक्लको जरा और आगे हांक ले जायं तो तत्त्वज्ञानकी ठेठ चोटीपर पहुंच जायंगे। तत्त्वज्ञानके शिखरसे ये लोग केवल एक प्रश्नके ही पीछे हैं और वह प्रश्न है—"फायदेसे भी क्या फायदा है?" एक लड़का अपने बापसे कहता है, "बाबूजी, गाय-भैंसका फायदा तो समझमें आता है कि उनसे हमें रोज दूध पीनेको मिलता है; लेकिन कहिए तो इन बाघ-बघेरों और सांपोंके होनेसे क्या फायदा है?" बाप जवाब देता है, "समूची सृष्टि मनुष्यके फायदेके लिए ही है, इस बेकारकी गलतफहमीमें हम न रहें, यही इनका फायदा है।"

कालिदासने एक जगह मनुष्यको 'उत्सव-प्रिय' कहा है। कालिदासका मनुष्य-स्वभावका ज्ञान गहरा था और इसीसे वह कवि कहलानेके अधिकारी हुए। सभीका अनुभव है कि मनुष्यको उत्सव प्रिय है, लेकिन क्यों प्रिय है? पाठशालाके लड़कोंको रविवारकी छुट्टी क्यों प्यारी लगती है? छः दिन दीवारोंके घेरेमें घिरे रहनेके बाद रविवारको जरा स्वच्छंदताके सांस ले पाते हैं, इस कारण। मनुष्यको उत्सव प्यारा क्यों है, इसका भी उत्तर ऐसा ही है। दुःखोंसे दबा हुआ हृदय उत्सवके कारण हलका हो जाता है। हमारे घर अठारह बिस्वे दारिद्रय रहता है, इसीसे लड़केका ब्याह रचनेपर हम

जेवनारमें अठारह दूना छत्तीस व्यंजन बनाना नहीं भूलते । सारांश यह कि मनुष्य उत्सव-प्रिय है, यह उसके जीवनके दुःखमय होनेका सबूत है । वैसे ही आज जो हमारी बुद्धि सिर्फ फायदावादी बन गई, है यह हमारे राष्ट्रके महान् बौद्धिक दिवालियेपनका सबूत है ।

हमेशा फायदेकी शरण जानेकी बान पड़ जानेसे हमारे समाजमें साहस-का ही अभाव-सा हो रहा है । इसके कारण ब्राह्मण-वृत्ति, क्षात्रवृत्ति और वैश्यवृत्ति लुप्त-सी हो रही है । ब्राह्मणके मानी हैं साहसकी साक्षात् प्रतिमा । मृत्युके परले पारकी मौज लेनेके निमित्त जीवनकी आहुति देनेवाला ब्राह्मण कहलायेगा । फायदा कहेगा, "मौतके बादकी बात किसने देखी है ? हाथ का घड़ा पटककर बादलका भरोसा क्यों करें ?" फायदेके कोशमें साहस शब्द मिलना ही संभव नहीं । और मिल भी गया तो उसका अर्थ लिखा होगा 'मूर्खता'! यदि फायदेके कोशसे जीवन-गीताकी संगति बिठाई जाय तो फल-त्यागकी अपेक्षा त्यागका फल क्या है, यह प्रश्न पैदा हो जायगा । ऐसी स्थितिमें सच्ची ब्राह्मणवृत्तिके लिए ठौर ही कहां रहेगा ? "त्याग करना, साहस करना, यह सब ठीक है ।" फायदावादी कहता है—"पर क्या त्यागके लिए ही त्याग करनेको कहते हो ?" "नहीं, त्यागके लिए त्याग नहीं कहता, फायदे के लिए त्याग सही ।" "पर वह फायदा कब मिलना चाहिए, इसकी कोई मियाद बताइएगा या नहीं ?" "तुम्हारा कोई कायदा है कि फायदा कितने दिनमें मिलना चाहिए ?" वह कहेगा—"त्यागके दो दिन पहले मिल जाय तो अच्छा है ।" समर्थ गुरु रामदासने लोगोंके लालची स्वभाव का वर्णन करते हुए 'कार्यारंभमें देव (ईश्वर) का नाम लेना चाहिए, इस कथनका अर्थ फायदेके कोशके अनुसार किया—"कार्यारंभी देव, अर्थात् कामके शुरूमें कुछ तो देव (दो) ।" सारांश फल ही देव है और वह काम करनेके पूर्व मिलना चाहिए, इसका नाम है बाफायदा तत्त्वज्ञान ! जहां (बेचारे) देव (ईश्वर) की यह दशा है वहां ब्राह्मणवृत्तिकी बात ही कौन पूछता है ?

परलोकके लिए इस लोकको छोड़नेवाला साहस तो सरासर पागलपन है, इसलिए उसका तो विचार ही नहीं करना है । इससे उतरकर हुई क्षात्रवृत्ति उर्फ मिलावटी पागलपन । इह-लोकमें बाल-बच्चे, अड़ोसी-पड़ोसी,

या देशकी रक्षाके लिए मरनेकी तैयारीका नाम है क्षात्रवृत्ति । पर 'आप मरे तो जग डूबा' यह फायदेका सूत्र लगाकर देखिए तो इस मिलावटी पागलपनका मतलब समझमें आ जायगा । राष्ट्रकी रक्षा क्यों, अथवा स्वराज्य क्यों ? मेरे फायदेके लिए । और जब मैं ही चल बसा तो फिर स्वराज्य लेकर क्या होगा ? यह भावना आई कि क्षात्रवृत्तिका साहस बिदा हुआ ।

बाकी रही-वैश्यवृत्ति । पर वैश्यवृत्तिमें भी कुछ कम साहस नहीं चाहिए । अंग्रेजोंने दुनियाभरमें अपना रोजगार फैलाया तो बिना हिम्मतके नहीं फैलाया है । इंग्लैंडमें कपासकी एक डोंडी भी नहीं पैदा होती और आधेसे अधिक हिंदुस्तानको कपड़ा देनेकी करामात कर दिखाई ! कैसे ? इंग्लैंडके इतिहासमें समुद्री यात्राओंके प्रकरण साहसोंसे भरे पड़े हैं । कभी अमेरिकाकी यात्रा तो कभी हिंदुस्तानका सफर; कभी रूसकी परिक्रमा तो कभी सु-आशा अंतरीपके दर्शन; कभी नील नदीके उद्गमकी तलाश है तो कभी उत्तरी ध्रुवके किनारे पहुंचे हैं । यों अनेक संकटभरे साहसोंके बाद ही अंग्रेजोंका व्यापार सिद्ध हुआ है । यह सच है कि यह व्यापार अनेक राष्ट्रोंकी गुलामीका कारण हुआ । इसीसे आज वह उन्हींकी जड़ काट रहा है । पर जो हो, साहसी स्वभावको तो सराहना ही होगा । हममें इस वैश्य-वृत्तिका साहस भी बहुत-कुछ नहीं दिखाई देता । कारण, फायदा नहीं दीखता ।

जबतक तकलीफ सहनेकी तैयारी नहीं होती तबतक फायदा दीखनेका ही नहीं । फायदेकी इमारत नुकसानकी धूपमें बनी है ।

: २५ :

चार पुरुषार्थ

मनुष्यके अंतःकरणकी सूक्ष्म भावनाओंकी दृष्टिसे समाज-रचनाका गहरा अध्ययन करके हमारे ऋषियोंने अनेक सुंदर कल्पनाओंका आविष्कार

किया है 'अनंतवैमनः । अनंता विश्वदेवाः'—मनकी अनंत वृत्तियां होनेके कारण विश्वमें भी अनंत शक्तियां उत्पन्न होती हैं, इन अनंत मानसिक वृत्तियों और सामाजिक शक्तियोंका संपूर्ण साक्षात्कार करके ऋषियोंने धर्मकी रचना की है । स्वयं ऋषि ही कहते हैं—"ऋषिः पश्यन् अबोधत'। योगशास्त्रमें योगीकी 'अर्धोन्मीलित' दृष्टिका वर्णन किया गया है । इसका रहस्य है—विश्वमें ओतप्रोत शक्तियोंके अवलोकन तथा निरीक्षणके लिए आधी दृष्टि खुली रहे और अपने हृदयमें सन्निहित वृत्तियोंके परीक्षणके लिए आधी दृष्टि भीतरकी तरफ मुड़ी रहे । कालके कराल जबड़ेमें पिसनेवाले दीनजनोंके प्रति करुणासे आधी दृष्टि खुली हुई और अंतर्यामी परमेश्वरके प्रेम-रसके पानसे मतवाली होनेके कारण आधी दृष्टि मुंदी हुई । योगी ऋषियोंकी इस अर्धोन्मीलित दृष्टिने अंतर्बाह्य सारी सृष्टिके दर्शन कर लिये थे । इसीसे हिंदूधर्म अनेक आश्चर्यकारक कल्पनाओंका भंडार बन गया है । अर्जुनके अक्षय तरकसमें बाणोंकी कमी होती ही न थी । उसी तरह हिंदू-धर्म-रूपी महासागरमें छिपे हुए रत्न कभी खतम ही नहीं हो सकते । ऋषियोंकी इन मनोहर कल्पनाओंमें चतुर्विध पुरुषार्थकी कल्पना भी एक ऐसा ही रमणीक रत्न है ।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, ये चार पुरुषार्थ बतलाये गये ह । इनमेंसे मोक्ष और काम दो परस्पर-विरोधी सिरोंपर स्थित हैं । प्रकृति और पुरुष या शरीर और आत्मामें अनादि कालसे संघर्ष चला आ रहा है । वेदोंमें जो वृत्र और इद्रके युद्धका वर्णन है वह इसी सनातन युद्धका वर्णन है । 'वृत्र'का अर्थ है ज्ञानको ढक देनेवाली शक्ति । 'इंद्र' संज्ञा परोक्ष संकेतकी द्योतक है और उस अर्थको सूचित करनेके लिए खासकर गढ़ी गई है । 'इदम्'—'द्र' या 'विश्वद्रष्टा' 'इंद्र' शब्दका प्रत्यक्ष अर्थ है । यह है उसका स्पष्टीकरण । ज्ञानको ढांकनेकी कोशिश करनेवाली और ज्ञानका दर्शन करनेकी चेष्टा करनेवाली, इन दो शक्तियोंका अर्थ क्रमशः जड़, शरीरात्मक, भौतिक शक्ति और चेतना, ज्ञानमय, आत्मिक शक्ति है । इन दोनोंमें सदा संघर्ष होता रहता है और मनुष्यका जीवन इस संघर्षमें फंसा हुआ है । ये दोनों परस्पर-विरोधी तत्त्व एक ही व्यक्तिमें काम करते हैं, इसलिए मनुष्यका हृदय इनके युद्धका 'धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र' हो गया है । आत्माको मोक्ष-पुरुषार्थकी

अभिलाषा होती है, शरीरको काम-पुरुषार्थ प्रिय है । दोनों एक-दूसरेका नाश करनेकी ताकमें हैं ।

मोक्ष कहता है, "काम आत्माकी जान लेनेपर तुला हुआ उसका कट्टर बैरी है । उसे मार डालो---निष्काम बनो । यह बड़ा मायावी और स्नेही मालूम होता है । लेकिन इसके प्रेमके स्वांगपर मोहित होकर धोखा न खाना । यह जितना कोमल दीखता है उतना ही क्रूर है । इसके दिखानेके दांत प्रेममय हैं, पर खानेके दांत क्रोधसे भरे हुए । ऊपर-ऊपरसे यह चैतन्यरससे परिपूर्ण बालकोंको जन्म देता हुआ दिखाई देता है । लेकिन यह वास्तविक नहीं है । 'यह बूढ़ी महतारी अबतक मरती क्यों नही,' इसीकी इसे हमेशा फिक्र रहती है । याद रहे कि लड़केको जन्म देनेका अर्थ है पिताकी मृत्युकी तैयारी करना । अगर आपकी यह इच्छा होती कि आपके बाप-दादा, आपके पुरखा, जीवित रहें, तो क्या आप लड़के और नाती-पोते पैदा करते ? क्या आपको पता नहीं कि इतने आदमियोंका प्रचंड 'लोकसंग्रह' या मनुष्यों-का ढेर पृथ्वी संभाल नहीं सकती ? आप इतना भी नहीं जानते ? 'मां तो मरने ही वाली है, वह हमारे वशकी बात नहीं, यह कह देनेसे काम नहीं चलेगा । यह हम नहीं भुला सकते कि माताकी मृत्युकी अवश्यंभाविता स्वीकार करके ही पुत्रका उत्पादन किया जाता है । इसीलिए तो जन्मका भी 'सूतक' (जननाशौच) रखना पड़ता है । चैतन्यरससे भरे बालकको उत्पन्न करनेका श्रेय अगर आपको देना हो, तो उसी रससे ओतप्रोत माताको मार डालनेका पातक भी उसीके मत्थे होगा । उत्पत्ति और संहार, काम और क्रोध, एक ही छड़ीके दो सिरे हैं । 'काम' कहते ही उसमें 'क्रोध' का अंतर्भाव हो जाता है । इसीलिए अहिंसक वृत्तिवाले सत्पुरुष संहार-क्रियाकी तरह उत्पत्तिकी क्रियामें भी हाथ नहीं बंटाते । सच तो यह है कि बालकका चैतन्यरस कामका पैदा किया हुआ होता ही नहीं । जिस गंदे अंगरजसे मलिन होनेमें मां-बाप अपने-आपको धन्य मानते हैं वह रजोरस इसका पैदा किया होता है । कारण, इसका अपना जन्म ही रजोगुण की धूल (रज) से हुआ है । आप अगर इसके मनोरथ पूरे करनेके फेरमें पड़ेंगे तो यह कभी अघायेगा ही नहीं, इतना बड़ा पेटू है । जिस-जिसने इसे तृप्त करनेका प्रयोग किया वे सभी असफल हुए । उन सबको यही अनुभव हुआ

कि कामकी तृप्ति कामोपभोग द्वारा करनेका यत्न स्वयं क्षत्रिय बनकर पृथ्वीको निःक्षत्र करनेके प्रयासकी तरह व्याघातात्मक या असंगत है । इसे चाहे जितना भोग लगाइए, सब आगमें घी डालने-जैसा ही होता है । इसकी भूख बढ़ती ही जाती है । अन्नदाता ही इसका सबसे प्यारा खाद्य है और उसे खानेमें इसे निःसंदेह भस्मासुरसे भी बढ़कर सफलता मिलती है । इसलिए इस कामासुरको वरदान देनेकी गलती न कीजिए ।"

इसकी ठीक उलटी बात काम कहता है । वह भी उतनी ही गंभीरतासे कहता है––"मोक्षके चक्करमें आओगे तो नाहक अपना काल-मोक्ष (कपाल-क्रिया) करा लोगे । याद रखो, वेदांतकी ही बदौलत हिंदुस्तान चौपट हुआ है । यह तुम्हें स्वर्गसुख और आत्म-साक्षात्कारकी मीठी-मीठी बातें सुनाकर भुलावेमें डालेगा । लेकिन यह इसकी खालिस दगाबाजी है । ऐसे काल्पनिक कल्याणके पीछे पड़कर ऐहिक सुखको जलांजलि देना बुद्धिमानीकी बात नहीं है । 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंकी चर्चा यदि कोई घड़ीभर मनोविनोदके लिए भोजनके अनंतर नींद आनेसे पहले या नींद आनेके लिए करे तो उसकी वह क्रीड़ा क्षम्य मानी जा सकती है, परतु यदि कोई खाली पेट यह चर्चा करनेका हौसला करेगा, तो वह याद रखे कि उसे व्यावहारिक तत्त्वमसि (पैसे) की ही शरण लेनी होगी । चांदनी बिल्कुल आटे-जैसी सफेद भले ही हो, परंतु उसकी रोटियां नहीं बनतीं । और तो कुछ नहीं, मोक्षकी चिंताकी बदौलत जीवनका आनंद खो बैठोगे । इस विश्वके विविध विषयों-का स्वाद लेनेके लिए तुम्हें इंद्रियां दी गई हैं । लेकिन यदि तुम 'जग-न्मिथ्या' मानकर इंद्रियोंको मारनेका उद्योग करते होगे तो आत्मवंचना करोगे और आखिर तुम्हें पछताना पड़ेगा । पहले तो जो आंखोंको साफ-साफ नजर आता है उस संसारको मिथ्या मानो और फिर जिसके अस्तित्वके विषयमें बड़े-बड़े दार्शनिक भी सशंक हैं, वैसी, 'आत्मा' नामक किसी वस्तुकी कल्पना करो, इसका क्या अर्थ है ? वेदोंने भी कहा है, 'कामस्तदग्रे सम-वर्तत'––सृष्टिकी उत्पत्ति कामसे हुई । और इसका अनुभव तो सभीको है । यदि दरअसल ईश्वर-जैसी कोई वस्तु हो तो भी कल यदि सभी लोग निष्काम होकर ब्रह्मचर्य पालन करने लगें, तो जिस सृष्टिको उत्पन्न होनेसे बचानेके लिए यही परमेश्वर समय-समयपर अवतार धारण करता

है उसका पूरा-पूरा विध्वंस हुए बिना न रहेगा। 'मोक्ष' के माने अगर अत्यंतिक सुख हो तो सरल भाषामें अर्थ उसका चिरंतन कामोपभोग ही हो सकता है।"

यह है कामकी दलील।

संपूर्ण त्याग और संपूर्ण भोग, ये परस्पर विरोधी दो ध्रुव हैं। एक कहता है शरीर मिथ्या है, दूसरा कहता है आत्मा झूठी है। दोनोंको एक-दूसरेकी परवाह नहीं, दोनों पूरे स्वार्थी हैं। लेकिन आत्मा और शरीर दोनोंका मिलन मनुष्यमें हुआ है। इसलिए इस तरह दोनों पक्षमें अपने ही सगे-संबंधी देखकर अर्जुनके लिए आत्मनिर्णय करना असंभव हो गया, उसी तरह कर्म-योगके धर्मक्षेत्रमें अपने स्नेही-संबंधियोंको दोनों विपक्षोंसे संलग्न देखकर मनुष्यके लिए किसी भी एक पक्षके अनुकूल स्थायी और निश्चित निर्णय देना कठिन हो जाता है। मनकी द्विधा स्थिति हो जाती है और एक मन शरीरका पक्ष लेता है, दूसरा आत्माकी हिमायत करता है। मनुष्यका जीवन अ-शरीर आत्मा और आत्महीन शरीरकी संधिपर आश्रित है, इसलिए उसे शुद्ध आत्मवाद या मोक्ष-पूजा पचती नहीं, और शुद्ध जड़वाद या कामो-पासना रुचती नहीं। इन दोनों मंत्रोंमें अद्वैत कायम करना, या उनका सामंजस्य करना बड़े कौशलका काम है। यह कर्म करनेकी चतुराई या 'कौशल' ही जीवनका रहस्य है।

यदि देहासक्त या नीचेवाले मनको 'मन' और आत्म-प्रवण या ऊपर-वाले मनको 'बुद्धि' नाम दिया जाय, तो 'मन' और 'बुद्धि' में एकता करके व्यवहार करना चाहिए। 'त्वयाऽधर्म——मयाऽधर्म' यह गणितकी समता यहां किसी कामकी नहीं। "घरमें चार रोटियां हैं और दो लड़के हैं, तो हरेकको कितनी रोटियां दी जायं?" ऐसी त्रैराशिककी समता अगर माताएं सीखने लगें तो बड़ा अंधेर हो जाय। एक लड़का दो सालका है और दूसरा पच्चीस वर्षका। पहला अतिसारसे मरेगा और दूसरा भखसे। ऐसे हिसाबी न्यायका अवलंबन करके आधा शरीरका संतोष, आधा आत्माका संतोष करनेकी कोशिशसे यह मसला हल नहीं होगा। समताका अर्थ है। योग्यताके अनुसार कीमत आंकना। गणित-शास्त्रमें अनंतके आगे चाहे जितनी बड़ी सांत संख्या ली जाय तो भी उसकी कीमत अनंतके मुकाबलेमें

शून्य समझी जाती है उसी तरह शरीरकी योग्यता कितनी ही बढ़ाई जाय, तो भी आत्माकी अनंत महिमाके मुकाबलेमें वह शून्यवत् हो जाती है। इसलिए निष्पक्ष समताको आत्माके ही पक्षका समर्थन करना चाहिए।

यह हुआ एक पक्ष। इस पक्षकी दृष्टिमें शुद्ध आत्मपक्ष या आत्मवाद इष्ट है, परंतु जबतक देहका बंधन है तबतक वह शक्य नहीं प्रतीत होता। पर 'संसार छोड़कर परमार्थ करनेसे खानेको अन्न भी नहीं मिलता', यही कथन बहुतेरे लोगोंके दिमागमें—या यों कह लीजिए कि पेटमें—तुरंत घुस जाता है। 'उदरनिमित्तम्' सारा ढकोसला होनेसे सभी चाहते हैं कि गुड़-खोपड़ेके नैवेद्यसे ही भगवान् संतुष्ट हो जायं। नामदेवका दिया हुआ नैवेद्य भगवान् खाते नहीं थे, इसलिए वह वहीं धरना देकर बैठ गये। लेकिन इनका दिया हुआ गुड़-खोपड़ा यदि भगवान् सचमुच खाने लगें, तो भगवान्को एकादशी व्रत रखानेके लिए यह नई मंडली सत्याग्रह किये बिना न रहेगी! ये आत्माको थोड़े-से-संतुष्ट करना चाहते हैं। कारण कि अगर आत्माको बिलकुल ही संतोष न दिया जाय और केवल देहपूजाके धर्मका ही अनुसरण किया जाय तो उस देहपूजाके समर्थनके लिए नास्तिक तत्त्वज्ञानका पारायण करनेपर भी अंतरात्माका दंश बंद नहीं होता। इसलिए दोनों पक्षोंकी दृष्टिमें समझौता वांछनीय है। यह समझौता करानेका भार धर्म और अर्थने लिया है।

जब दो आदमी मार-पीट करके एक-दूसरेका सिर फोड़नेपर आमादा हो जाते हैं तब उनका टंटा मिटानेके लिए दोनों पक्षके लोग बीच-बचाव करने लगते हैं। उसी प्रकार आत्मवादी मोक्ष और देहवादी कामका झगड़ा मिटानेके लिए मोक्षकी तरफसे धर्म और कामकी तरफसे अर्थ, ये दो पुरुषार्थ उपस्थित हुए हैं। अब, ये—कम-से-कम दिखानेको तो—समझौता करानेके लिए बीच-बचाव करते हैं, इसलिए निष्पक्ष वृत्ति या समझदारीके समझौतेका स्वांग करना उनके लिए लाजिमी हो जाता है। अतः उनकी भाषा दोनों पक्षोंको थोड़ी-बहुत खुश करनेवाली होनी चाहिए, और होती भी है। परंतु यद्यपि इन लोगोंको तकरार मिटानेकी बात करनी पड़ती है तथापि उनके दिलमें यह उत्कट इच्छा नहीं होती कि दोनों पक्षोंमेंसे किसी

पर भी मार न पड़े। वे लहू-लुहान सिर देखना नहीं चाहते, मगर सिर्फ अपने पक्षका। यदि केवल शत्रु-पक्षके ही सिर फूटते हों तो उन्हें कोई परवाह न होती। लेकिन दुःखका विषय तो यह है कि शत्रु-पक्षके साथ-साथ अपने पक्षके सिरपर भी डंडे पड़ते ही हैं। इसीलिए झगड़ा तै करानेकी इतनी उत्सुकता होती है। सारांश, धर्म और अर्थ यद्यपि टंटा मिटानेके लिए शांति-मंत्र जपते हुए बीच-बचाव करने आये हैं, तथापि वास्तवमें धर्मके मनमें यही इच्छा होती है कि कामका सिर अच्छी तरह कुचल दिया जाय, और अर्थ भी सोचता है कि मोक्ष मर जाय तो अच्छा हो! किसी भी एक पक्षका नाश होनेसे झगड़ा तो खतम होगा ही! कई बार जो काम लड़ाईसे नहीं होता, वह सुलहसे हो जाता है। योद्धाओंकी तलवारकी अपेक्षा राजनीतिज्ञोंकी कलमको कभी-कभी सफलता का अधिक हिस्सा मिलता है। 'मोक्ष' और 'काम' को अगर योद्धा मानें तो धर्म, और 'अर्थ' को राजनीतिज्ञ कहना चाहिए। दोनों समझौता चाहते हैं; लेकिन धर्मकी यह कोशिश होती है कि संधिकी शर्तें मोक्षानुकूल हों, और अर्थकी यह चेष्टा होती है कि वे कामानुकूल हों। प्रत्येक चाहता है कि समझौता तो हो, लेकिन अपने पक्षकी कोई हानि न हो। यहां इस समझौतेका थोड़ा-सा नमूना ही दिखाया जा सकता है। उदाहरणके लिए—

मोक्ष ब्रह्मचारी और काम व्यभिचारी है। इस प्रकार ये दो सिरे हैं। धर्म कहेगा—"हमारा आदर्श ब्रह्मचर्य ही होना चाहिए, इसमें संदेह नहीं। उस आदर्शके पालनका जोरोंसे यत्न करना चाहिए। जब काम बहुत ही भूंकने लगे तब धार्मिक विधिके अनुसार गृहस्थ-वृत्ति स्वीकार कर उसके आगे एकाध टुकड़ा डाल देना चाहिए। परंतु वहां भी उद्देश्य तो संयमके पालनका ही होना चाहिए और फिर तैयारी होते ही श्रेष्ठ आश्रममें प्रवेश करके उससे छुटकारा पाना चाहिए। ब्रह्मचर्यसे संसार उत्पन्न होगा यह पापके समर्थनमें दी जानेवाली लचर दलील है। संसारके उत्पन्न होनेकी फिक्र आप न करें। उसके लिए भगवान् पर्याप्त हैं। ब्रह्मचर्यसे सृष्टि नष्ट नहीं होगी, बल्कि मुक्ति होगी। फिर भी संयमका पालन करनेके अभिप्रायसे गृहस्थ-वृत्ति स्वीकार करनेमें आपत्ति नहीं है। इसमें कामका भी थोड़ा-बहुत काम निकल जायगा। लेकिन इससे कब छुटकारा पाऊंगा, इसकी चिंता

और चिंतन लगातार करते रहना चाहिए । इससे मोक्षकी भी पूर्व तैयारी हो जायगी ।"

अर्थ कहेगा--"अगर व्यभिचारको स्वीकृति दी जाय तो संसारकी व्यवस्थाका अंत हो जायगा । इसलिए वह न इष्ट है, न संभव । परंतु ब्रह्मचर्य-का नियम तो एकदम निसर्ग-विरोधी है । वह अशक्त ही नहीं, अनिष्ट भी है । तब, बीचका गृहस्थ-वृत्तिका ही राजमार्ग शेष रहता है । इसमें थोड़ा-सा संयमका कष्ट जरूर है, लेकिन वह अपरिहार्य है । बुढ़ापेमें इंद्रियां जर्जरित हो जानेपर अनायास ही त्याग हो जाता है । इसलिए यह त्यागकी शर्त अपरिहार्य होनेके कारण उसे मंजूर कर लेना चाहिए । इससे मोक्षको भी जरा तसल्ली होगी । लेकिन विवाहका बंधन अभेद्य माननेका कोई कारण नहीं है । विवाह हमारे सुखके लिए होते हैं, हम विवाह के लिए नहीं हैं । इसीलिए हम विवाहके धर्मको स्वीकार नहीं करते, लेकिन विवाहकी नीति-को स्वीकार कर सकते हैं ।"

मोक्षकी दृष्टिमें अहिंसा परम धर्म है । पतंजलिने कहा है कि यह 'जाति-देश-काल-समय' आदि सारे बंधनसे परे 'सार्वभौम महाव्रत' है । इसके विपरीत कामका सिद्धांत-वाक्य 'ईश्वरोऽहमहं भोगी' है । इसलिए उसका तो बिना हिंसाके निर्वाह ही नहीं हो सकता, क्योंकि साम्राज्यवादकी वृकोदर-वृत्तिकी इमारत हिंसाके ही पायेपर रची जा सकती है ।

ऐसी स्थितिमें धर्म कहेगा---"कम-से-कम मानसिक हिंसा तो किसी हालतमें नहीं होने देनी चाहिए । शरीर-धर्मके रूपमें कुछ-न-कुछ हिंसा अनजाने भी हो ही जाती है । उसे भी कम करनेकी कोशिश करनी चाहिए । परंतु प्रयत्न करनेपर भी कमजोरीके कारण जो हिंसा बाकी रह जायगी उतनी क्षम्य समझी जाय । पर इसका यह अर्थ नहीं कि उतनी हिंसा करनेका हमें अधिकार है । किंतु उतनीके लिए हम परमेश्वरसे नम्रतापूर्वक क्षमा मांगें और अपनी बुद्धि शुद्ध रखें । अगर क्षमा-वृत्ति असंभव ही हो, तो 'सौ अपराध माफ करूंगा,' जैसा कोई व्रत लेकर हिंसाको आगे टाल देना चाहिए । इतना करनेपर भी हम अपनी वृत्तिको काबूमें न रख सकें, हमारे अंतःकरणमें छिपा हुआ पशु अगर जाग ही उठे तो हम अपनेसे अधिक बलवान् व्यक्तिसे लोहा लें, कम-से-कम अपनेसे कम बलवान्को तो क्षमा

करें। यह भी नामुमकिन हो तो अपने बचावके लिए हिंसा करें, हमला करनेके लिए नहीं। उसमें भी फिर हिंसाके साधन, जहांतक हो सके, सीधे-सादे और सुथरे हों। केवल शरीरसे ही द्वंद्व-युद्ध करें, हथियार काममें न लावें। सारांश, चाहे धर्ममें हिंसाका स्थान भले ही न हो, लेकिन हिंसामें धर्म का स्थान अवश्य होना चाहिए।"

अर्थ कहेगा—"हिंसाके बिना संसारका चलना ही असंभव है। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' सृष्टिका न्याय है। हमें उसे मानना ही पड़ेगा। लेकिन हिंसा करना भी एक कला है। उस कलामें निपुणता प्राप्त किये बिना किसीको भी हिंसा नहीं करनी चाहिए। मुसलमानोंके राजमें जितनी गायोंकी हत्या होती थी उससे कई गुनी गायें अंग्रेजोंके राजमें कत्ल की जाती हैं, यह बात सरकारी आंकड़ोंसे साफ जाहिर है। लेकिन मुसलमान हिंसाकी कलाके पंडित नहीं थे, इसलिए उनके खिलाफ इतना हो-हल्ला मचा, अंग्रेजोंसे किसीको खास चिढ़ नहीं होती। इसका कारण है, हिंसाकी कला। इन्फ्लुएंजाने तीस करोड़ आदमियोंसे थोड़े ही समयमें साठ लाख आद-मियोंको खाकर अपने-आपको बदनाम कर लिया। वस्तुतः मलेरिया उससे अधिक आदमियोंका कलेवा कर लेता है। लेकिन धीरे-धीरे चबा-चबाकर खानेका आहार-शास्त्रका नियम उसे मालूम है, इसलिए वह बड़ा साहू ठहरा। नये चिकित्सा-विज्ञानका एक नियम है कि शीतोपचार और उष्णोपचार एकके बाद एक बारी-बारीसे करते रहना चाहिए। वही नियम हिंसापर भी लागू होता है। जबतक युद्धके पश्चात् शांति-परिषद् और शांति-परिषद्के बाद फिर युद्ध, यह क्रम भलीभांति जारी न किया जा सके तबतक हिंसा नहीं करनी चाहिए। चूनेपर ईंटें और ईंटोंपर चूना रख-रखकर दीवार बनाई जाती है, और फिर उसपर चूना पोता जाता है। उसी प्रकार शांतिके बाद युद्ध और युद्धके बाद शांति के क्रमसे साम्राज्य कायम करके उस साम्राज्यपर फिर शांतिका चूना पोतना चाहिए। इसके बदले अगर केवल ईंटोंपर ईंटें ही जमाई जायं तो सारी ईंटें लुढ़ककर गिर जाती हैं। इसलिए दो हिंसाओंके बीच एक अहिंसाको स्थान अवश्य देना चाहिए। इतना समझौता कर लेनेमें कोई हर्ज नहीं।"

'अर्थमनर्थम् भावय नित्यम्' यह मोक्षका सूत्र-वाक्य है। इसके विपरीत

जहां कामोपभोग ही महामंत्र है वहां अर्थ-संचयका अनुष्ठान स्वाभाविक ही है। धर्मके मतसे 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'—मनुष्यकी तृप्ति अर्थसंचयोंसे कदापि नहीं हो सकती। इसलिए अर्थसंग्रह करना ही हो तो उसकी मर्यादा बना लेनी चाहिए। सृष्टिका स्वरूप 'अश्वत्थ' है। अर्थात् कलके लिए संचय उसके पास नहीं है। इसलिए मनुष्यको भी 'अश्वत्थ-संग्रह' रखना चाहिए। 'स एवाद्य स उश्वः'—"वह आज भी है और कल भी है", यह वर्णन ज्ञान संग्रहपर घटित होता है। इसलिए एक आदमी चाहे कितना भी ज्ञान क्यों न कमाये, उसके कारण दूसरेका ज्ञान नहीं घट सकता। परंतु द्रव्य-संग्रहकी यह बात नहीं है। मैं अगर पच्चीस दिनके लिए आज ही संग्रह करके रखता हूं तो मेरा व्यवहार चौबीस मनुष्योंका आजका संग्रह चुरानेके बराबर है और इतने मनुष्योंको कम या अधिक मात्रामें भूखों मारनेका पाप मेरे सिर है। इसके अलावा, सृष्टिमें अधिक संग्रह ही न होनेके कारण इतना संग्रह करनेके लिए मुझे कुटिल मार्गका अवलंबन करना पड़ता है। एक-बारगी संग्रह करनेमें मेरी शक्तिपर अतिरिक्त बोझ पड़ता है, इसलिए मेरी वीर्य-हानि होती ही रहती है। इसके अतिरिक्त, इतना परिग्रह सुरक्षित रखनेकी चिंताके कारण मेरा चित्त भी प्रसन्न नहीं रह सकता। अर्थसंग्रहकी एक ही क्रियामें सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांचों व्रतोंका सामुदायिक भंग होता है।

इसलिए कम-से-कम, यानी केवल शरीर निर्वाहके लिए ही, संग्रह करना चाहिए। वह भी—'अंगानां मर्दनं कृत्वा श्रमसंजातवारिणा'—"शरीर-श्रम द्वारा शरीरमेंसे पानी निकालकर'—करना चाहिए। केवल शरीर-कर्मसे शरीर-यात्रा चलानेसे पाप लगनेका डर नहीं होता—'नाप्नोति किल्विषम्' यह भगवान् श्रीकृष्णका आश्वासन है। परंतु जैसाकि कालि-दासने रघुवंशके राजाओंका वर्णन करते हुए कहा है, उसमें भी त्यागकी वृत्ति होनी चाहिए। कारण, केवल तुम्हारा धन ही नहीं, तुम्हारा शरीर भी तुम्हारा निजका नहीं है; किंतु सार्वजनिक है, ईश्वरका है। सारांश, संग्रहका परिणाम अश्वत्थ या तात्कालिक, साधन शारीरिक श्रम, हेतु केवल शरीर-यात्रा और वृत्ति त्यागकी हो, तो इतना भोग धर्मको मंजूर है। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः।'

अर्थकी रायमें—

"संसारमें जीवन-कलह चिरस्थायी है। जो योग्य होगा वह टिकेगा, जो अयोग्य होगा उसका नाश होगा। इसलिए सबका सुभीता देखनेका प्रयास व्यर्थ है। इसके अलावा, विश्वका विस्तार अनंत है। उसका एक जरा-सा ही हिस्सा हमारे काबूमें आ पाया है। भौतिक शास्त्रों (विज्ञान) की ज्यों-ज्यों उन्नति होगी त्यों-त्यों हमारा प्रभुत्व भी अधिक विस्तृत होनेकी संभावना है। इसलिए अगर हम सबकी सुविधा देखनेकी अनावश्यक जिम्मेदारी स्वीकार कर भी लें, तो भी उसे पूरी करनेका एकमात्र उपाय हमारा अपना संग्रह कम करना नहीं है। सबके सामुदायिक संग्रहकी वृद्धि करनेका एक दूसरा रास्ता भी हमारे लिए अभी खुला है और वही पौरुषका रास्ता है। सृष्टिमें अक्षय भण्डार भरा हुआ है। पर हमें उसका पूरा ज्ञान नहीं है। इसलिए वैज्ञानिक आविष्कारकी दिशामें प्रयत्न जारी रखकर भविष्यके लिए संग्रह करनेमें कोई हर्ज नहीं है—बल्कि, संग्रह करना कर्त्तव्य है। मनुष्यकी जरूरतें जितनी बढ़ेंगी उतना ही व्यापारको उत्तेजन मिलेगा और संपत्ति बढ़ेगी। इसलिए संग्रह अवश्य करना चाहिए।

"लेकिन बिल्कुल ही एकांतिक स्वार्थ ठीक नहीं होगा। कारण कि मनुष्य समाजबद्ध है, इसलिए उसे दूसरोंके स्वार्थका भी विचार करना ही पड़ता है। संसारकी रोटीको स्वादिष्ट बनानेके लिए स्वार्थके आटेमें थोड़ा-सा परार्थका नमक भी मिलाना जरूरी हो जाता है। लेकिन याद रहे कि आटेमें नमक मिलाना है, न कि नमकमें आटा। स्वार्थके गालपर परार्थका तिल बना देनेसे शोभा बढ़ जाती है। लेकिन तिलके बराबर बिंदी लगाना एक बात है और सारे गालमें काजल पोत लेना दूसरी बात है। परार्थके सिद्धांतको अगर अनावश्यक महत्त्व दिया जायगा तो परावलंबनको प्रोत्साहन मिलेगा। स्वार्थ स्वावलंबनका तत्त्व है। स्वार्थमय जीवन-संग्राममें जो दुर्बल ठहरेंगे उन्हें मरना ही चाहिए, और दुर्बलोंको मारनेमें अगर हम कारणीभूत हों, तो वह दूषण नहीं है, किंतु भूषण ही है।

"एक दृष्टिसे तो दान करना दूसरोंका अपमान करना है। प्याऊ खोलनेमें पुण्य माना जाता है, लेकिन स्वयं धर्म-शास्त्रोंने ही कहा है कि प्याऊपर पानी पीनेवाला पापका भागी होता है, इसका क्या मतलब है?

क्या प्याऊ इसलिए होती है कि लोग उसका पानी ही न पियें ? दूसरोंको पानी पिलानेसे उन्हें हमारे पापका अंश मिलेगा और हमारा पाप कुछ अंशमें घटेगा, इस विचारमें कहांतक उदारता है ? और फिर यह देखिए कि मैं लोगोंकी चिंता करूं और लोग मेरी चिंता करें, इस तरहका द्राविड़ी प्राणायाम करनेके बदले क्या यही श्रेयस्कर नहीं है कि हरेक अपनी-अपनी फिक्र करे ? शहरोंमें फूहड़ स्त्रियां अपने बच्चोंको रास्तेपर शौच कराती हैं। लेकिन मजा यह कि अपने घरकी अगल-बगलमें गंदगी न हो, इसलिए अपने बच्चोंको दूसरोंके घरोंके सामने बैठाती है ? और दूसरे भी प्रतियोगी सहयोगके सिद्धांतके अनुसार उसके घरके सामने बैठाते हैं ! इसके बदले सीधे अपने बच्चेको अपने घरके सामने बैठायें तो क्या हर्ज है ? यह परार्थका तत्त्व भी इसी कोटिका है । इसलिए मनुष्यताका अपमान करनेवाली यह परार्थ-वृत्ति त्यागकर हरेकको स्वार्थ-साधना करते रहना चाहिए। दूसरेकी बहुत अधिक चिंता नहीं करनी चाहिए । सहानुभूतिके सुखके लिए या दूरदर्शी स्वार्थकी दृष्टिसे, तात्कालिक सुखका त्याग क्वचित् करना पड़ता है। उतना समझौता जरूर कर लेना चाहिए ।"

काम, क्रोध और लोभ, ये तीन नरकके दरवाजे माने हैं । इसलिए मोक्षका मुख्य आक्रमण, इन्हींपर होना स्वाभाविक है । इसलिए इन तीनोंके विषयमें समझौतेकी दृष्टिसे, धर्म और अर्थ का क्या रुख हो सकता है, इसका विचार अबतक किया गया । आखिर काम भी एक पुरुषार्थ ही है । इसलिए उसका जो चित्र यहां खींचा गया है, वह शायद कुछ लोगोंको अतिरंजित मालूम होगा । लेकिन है वह बिल्कुल वस्तु-स्थितिका निदर्शक । "स्वर्गकी गुलामीकी अपेक्षा तो नरकका अधिराज्य श्रेयस्कर है", मिल्टनके शैतानका यह वाक्य भी इसी अर्थका द्योतक है । 'पुरुषार्थ' का अर्थ है पुरुषको प्रवृत्त करनेवाला हेतु । यह आवश्यक नहीं कि यह हेतु 'सद्धेतु' ही हो । हिंदू-धर्मने कामको भी पुरुषार्थ माना है । इसका यह अर्थ नहीं है कि उसने कामपर मान्यता (स्वीकृति) की मुहर लगा दी हो । यहां तो इतना ही अर्थ है कि काम भी मनुष्यके मनमें रहनेवाली एक प्रेरक शक्ति है । आत्मवान् पुरुष शायद उसे स्वीकार भी न करे । इसके विपरीत 'मोक्ष' की गिनती भी 'पुरुषार्थों' में करके हिंदू-धर्मने उसपर शक्यताकी मुहर नहीं लगाई है । वहां

भी इतना ही अभिप्राय है कि मोक्ष भी मानवीय मनकी एक प्रेरक शक्ति है। देहधारी पुरुषके लिए उसकी आज्ञा मानना शायद असंभव भी हो।

शास्त्रकारोंने तो केवल मनुष्यकी अत्युच्च और अतिनीच प्रेरणाओंकी तरफ संकेतमात्र किया है। मोक्ष परम पुरुषार्थ है, इसलिए इच्छा यह है कि मनुष्य उसको तरफ अग्रसर हो। और काम अधम पुरुषार्थ है, इसलिए इरादा यह है कि जहांतक हो सके, उसकी शकल ही न देखी जाय। लेकिन इन दोनोंका मिलाप करनेकी प्रेरणा होना मनुष्यके लिए स्वाभाविक है। इसलिए धर्म और अर्थ नित्यकी दो प्रेरणाएं कही गई हैं। मनुष्यको संतोष देनेकी चेष्टा करनेवाले ये दो मध्यस्थ हैं। संस्कार-भेदसे किसीको धर्म प्रिय होगा, किसीको अर्थ प्यारा लगेगा।

वल्लभाचार्यकी व्यवस्थाके अनुसार सृष्टिके तीन विभाग होते हैं—(१) पुष्टि, (२) मर्यादा और (३) प्रवाह। जो आत्म-साक्षात्कारका अमृत पीकर पुष्ट हो गए हैं, मोक्ष-शास्त्रके ऐसे उपासक पुष्टिकी भूमिकापर विहार किया करते हैं। माया नदीके प्रवाहमें बहे जानेवाले काम-शास्त्रके अनुयायी प्रवाह-पतित वासनाओंके गुलाम होते हैं। ये दोनों तरहके व्यक्ति समाज-शास्त्रकी मर्यादासे परे हैं। काम-कामी पुरुष समाजके सुखका विचार ही नहीं कर सकता, क्योंकि उसे तो अपना सुख देखना है। मोक्षार्थी पुरुष भी समाज-सुखकी फिक्र नहीं कर सकता; क्योंकि उसे किसीके भी सुखकी चिंता नहीं। कामशास्त्र स्व-सुखार्थी है और मोक्ष-शास्त्र स्व-हितार्थी है। इस तरह दोनों स्व-अर्थी ही हैं। "प्रायेण देव-मनुयः स्व-मुक्तिकामाः' — "देव या ऋषि भी प्रायः स्वार्थी ही होते हैं", यह भगवद्भक्त प्रह्लादकी प्रेमभरी शिकायत है। इन दो एकांतिक वर्गोंके सिवा सामाजिक कानूनों या नियमोंकी मर्यादाओंमें रहनेवाले जो लोग होते हैं उनके लिए धर्मशास्त्र या अर्थशास्त्रकी प्रवृत्ति है।

अब मोक्ष-शास्त्रके साथ न्याय करनेकी दृष्टिसे इतना तो मानना ही पड़ेगा कि जैसे काम-शास्त्रको समाजकी परवा नहीं है वैसे समाजको मोक्ष-शास्त्रकी कद्र नहीं है। अर्थात् समाज और काम-शास्त्रके अनबनकी जिम्मेदारी अगर काम-शास्त्रपर है तो समाज और मोक्ष-शास्त्रके अनबनका दायित्व समाजपर ही है। मोक्ष-शास्त्र स्वाहित-परायण तो है, परंतु जैसा

स्व-सुख और पर-सुखका विरोध है वैसा स्वहित और पर-हितका विरोध नहीं है। इसलिए जो 'स्व-हित'-रत होता है वह अपने-आप ही 'सर्वभूत-हितेरतः' हो जाता है।

लेकिन मनुष्य 'सर्वभूत-हितेरतः' होते हुए भी समाजको प्रिय नहीं होता। कारण यह कि समाज सुख-लोलुप होता है, उसे हितकी कोई खास परवा नहीं है। सात्त्विकताका जुल्म भी वह ज्यादा सह नहीं सकता। यह सच है कि संत जगतके कल्याणके लिए होते हैं। लेकिन यदि वे जगत के सुखके लिए हों तो समाजको प्रिय होंगे। ईसा, सुकरात, तुकाराम आदि संत समाजको प्रिय हैं, परंतु अपने-अपने समयमें तो वे समाजको कांटेकी तरह चुभते थे। आज भी वे इसलिए प्रिय नहीं हैं कि समाज उतना आगे बढ़ गया है, बल्कि इसलिए कि वे आज जीवित नहीं हैं।

अब, कामशास्त्र चूंकि बिल्कुल ही तामस और समाजकी अवहेलना करनेवाला है, इसलिए वह समाजको दुखदायी होता है। काम-शास्त्र समाजको 'दुःख' देता है, मोक्ष-शास्त्र 'हित' देता है, इसलिए दोनों समाज-बाह्य हैं। कामशास्त्रका तामस 'प्रवाह' और मोक्ष-शास्त्रकी सात्विक 'पुष्टि', दोनों समाजको, एक-सी अपथ्यकर मालूम होती हैं। किसी-न-किसी मरीजकी ऐसी नाजुक हालत हो जाती है कि उसे अन्न दीजिए तो हजम नहीं होता और उपवास सहन नहीं होता। समाज भी एक ऐसा ही नाजुक रोगी है। बेचारा चिकित्सकोंको प्रयोगका विषय हो रहा है! उसके लिए तामस प्रवाह और सात्त्विक पुष्टि दोनों वर्ज्य ठहरे हैं, इसलिए उसपर राजस मर्यादाके प्रयोग हो रहे हैं। धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र दोनों समाजके लिए मर्यादाएं कायम करनेवाले शास्त्र हैं। दोनोंको राजस कहा जाय तो भी धर्मशास्त्रको सत्त्व-प्रचुर और अर्थशास्त्रको धर्म-प्रचुर कहना होगा। हमारे यहां मुख्यतः धर्मशास्त्रका विकास हुआ, पश्चिममें अर्थशास्त्रका हुआ।

थोड़ासा समुद्र-मंथन करते ही विष निकल आया, परंतु अमृत हाथ आनेके लिए बहुत परिश्रम करना पड़ा। उसी न्यायसे समाज-शास्त्रके जरा-से अध्ययनसे अर्थशास्त्रका जन्म होता है, लेकिन धर्मशास्त्रके उदयके लिए गंभीर अध्ययनकी आवश्यकता होती है। हमारे यहां भी अर्थशास्त्र

था। वह बिल्कुल रहा ही नहीं ऐसी बात नहीं है, परंतु उसकी जहरीली तासीर जानकर समाज-शास्त्रका अधिक मंथन किया गया और धर्मशास्त्र निकाला गया। आर्य-संस्कृतिमें अर्थशास्त्रका विकास नहीं हुआ, इसका यही कारण है। या फिर यह कहना ही गलत है कि विकास नहीं हुआ। पूर्ण विकास हुआ, इसीलिए धर्मशास्त्रका उदय हुआ। पाश्चात्य अर्थशास्त्रके इतिहाससे भी इसी बातका प्रमाण मिल रहा है। "अर्थशास्त्रात्तु बलवद् धर्मशास्त्रमिति स्थितिः"—"अर्थशास्त्रसे धर्मशास्त्र अधिक प्रमाणभूत है" इस सिद्धांतका जन्म हुए बिना अर्थशास्त्रका छुटकारा ही नहीं हो सकता। इस सिद्धांतके जन्मके अरमान पाश्चात्य संस्कृतिको गत शताब्दीके उत्तरार्द्धसे होने लगे।

अर्थशास्त्रके श्रम-विभागके तत्त्वसे अब सभी ऊबने लगे हैं। गरीब राष्ट्र आमरण 'अहमन्नम् अहमन्नम् अहमन्नम्'—"मैं खाद्य हूं, मैं खाद्य हूं, मैं खाद्य हूं—ऐसी उपासना करें और बलवान् राष्ट्र 'अहमन्नादः', अहमन्नादः, अहमन्नादः'—"मैं खानेवाला हूं, मैं खानेवाला हूं, मैं खानेवाला हूं"—यह मंत्र जपते रहें, ऐसे नीच श्रम-विभागसे अब दुनिया बिल्कुल उकता गई और चिढ़ गई है। रस्किन-जैसे दार्शनिकोंने अर्थशास्त्रके विरुद्ध जो मोर्चा शुरू किया उसे आगे चलानेवाले वीरोंकी परंपरा अव्याहत चल रही है। और उस मोर्चेका अंत विजयमें ही होनेके स्पष्ट लक्षण दिखाई देने लगे हैं। 'अर्थशास्त्र' को शंकराचार्यने 'अनर्थशास्त्र' नाम कभीका दे रखा है। उसी नामका, 'डिस्मल साइंस' (काली विद्या) कहकर, जीर्णोद्धार पाश्चात्य लोग कर रहे हैं। इसीलिए अर्थशास्त्रके नये संशोधित संस्करण निकलने लगे हैं। इनसब लक्षणोंसे आशा की जा सकती है कि पश्चात्य संस्कृतिकी कोखसे धर्मका अवतार होगा। पिछले महायुद्धसे तो प्रसव-वेदना भी शुरू हो गई है, इससे कुछ लोगों का यह खयाल है कि अब यह अवतार जल्दी ही होनेवाला है।

यह अवतार कितनी देरमें होनेवाला है, यह कहना कठिन है। लेकिन इस अवतारके आनेकी प्रारंभिक तैयारी करनेवाले नीति-शास्त्रका जन्म हो चुका है और वह दिन-पर-दिन बड़ा भी हो रहा है, धर्म-प्रधान पौरस्त्य संस्कृति और अर्थ-प्रधान पाश्चात्य संस्कृतिकी एक-वाक्यताकी आशा

नीतिशास्त्रसे बहुत-कुछ की जा सकती है। लेकिन आकाश और पृथ्वीको स्पर्श करनेवाले क्षितिजकी रेखा जिस प्रकार काल्पनिक है उसी प्रकारकी स्थिति इस उभयान्वयी शास्त्रकी भी है। कोषका काम केवल भले-बुरे सभी तरहके शब्दोंका संग्रह करना है। इसलिए उसका अपना कोई भी विशेष संदेश नहीं होता। "तुम व्यवहार करते समय मेरा उपयोग कर सकते हो", इससे अधिक वह कुछ नहीं कह सकता। इसी तरह नीतिशास्त्रका कोई विशेष प्रमेय नहीं है। आशा लगाये 'मुझे बरतो, मुझे बरतो' कहते रहना ही उसके भागमें लिखा है। उसकी गिनती पुरुषार्थोंमें करनेकी किसीको नहीं सूझती।

नीतिशास्त्रका सिद्धांत ही यह है कि किसी भी सिद्धांतका अत्यधिक आग्रह नहीं रखना चाहिए। इसलिए इस बिंदुपर सारी दुनियाको एक किया जा सकता है। लेकिन 'संतोषसे रहो', 'हिलमिलकर रहो' या 'जैसे चाहो वैसे रहो'—इस तरहकी संदिग्ध सिफारिश करनेसे अधिक नीतिशास्त्र आज कुछ भी नहीं कर सकता। इसलिए उसके झंडेके नीचे सारा विश्व एकत्र होनेकी संभावना होते हुए भी इस भव्य दिग्वस्त्रकी अपेक्षा लोगोंको लंगोटीसे भी अधिक संतोष होता है। 'मरनेतक जीओगे', इस आशीर्वादमें सत्य है, परंतु स्फूर्ति नहीं है। इसलिए इस आशीर्वादमें उतना संतोष देनेकी भी सामर्थ्य नहीं है, जितना संतोष कि परीक्षितको 'सात दिनमें मरोगे' इस शापसे हुआ होगा। मनुष्यको मनुष्यतासे व्यवहार करना चाहिए, यह नीति-शास्त्रका रहस्य है। और मनुष्यताके क्या मानी हैं? मनुष्यका स्वभाव! संज्ञाके मानी प्रत्येक पदार्थका नाम! ऐसे व्यापक शास्त्रसे मनुष्यको संतोष कैसे हो सकता है? संस्कृत न्यायशास्त्रमें ऐसे ही प्रचंड प्रमेय होते हैं। "जिसमें घटत्व है वह घट है", "जिसमे पटत्व है वह पट है"; "जिसमें पत्थरपन है वह पत्थर! और जिसमें यह सब हो वह है न्याय-शास्त्र!" ऐसी ही दशा नीतिशास्त्रकी हो रही है। इसलिए धर्ममोक्षकी बात तो जाने दीजिए, अर्थ-कामके बराबरकी स्फूर्ति भी उसमें नहीं है।

परंतु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि धर्म और अर्थ चाहे कितना ही समझौतेका स्वांग क्यों न करें, फिर भी वे पक्षपाती ही हैं और नीतिशास्त्र निष्पक्षपात है। निष्पक्षपात वृत्तिके कारण आकर्षण शक्ति कुछ कम भले

ही हो, तो भी वह उसका गुण ही माना जाना चाहिए । नित्यके भोजनमें आकर्षण नहीं होता । रोजकी खूराक होनेसे नीतिशास्त्रमें चाहे आकर्षकताका अभाव भले ही हो, परंतु सारे समाजको देने योग्य उससे बढ़कर पौष्टिक दूसरी खूराक नहीं है । धर्म-मोक्ष पौष्टिक होते हुए भी महंगे हैं । अर्थ-काम सस्ते तो हैं, मगर उनकी गिनती कुपथ्यमें होती है । इसलिए संसारको आज नीतिशास्त्रके बिना गत्यंतर नहीं है ।

ऊपर कहा गया है कि हमारी संस्कृति धर्म-प्रधान है । परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि हम धर्म-प्रधान हैं । हम तो अर्थ-कामके ही दास हैं । इसलिए यद्यपि हमारी संस्कृतिको नीतिकी परवाह नहीं, तथापि हमारे लिए नीतिकी उपासना करना नितांत आवश्यक है । सारांश, क्या हमारी और क्या इतरोंकी—सारे संसारकी ही—सामान्य भाषा नीतिशास्त्र ही है, ऐसा कहा जा सकता है । सभी पुरुषार्थोंकी शिक्षा इसी भाषामें दी जानी चाहिए । नीति पुरुषार्थ भले ही न हो, किंतु पुरुषार्थके शिक्षणका द्वार है । अगर पुरुषार्थोंका भाषांतर नीतिकी भाषामें किया जाय तो सभी पुरुषार्थोंका स्वरूप सौम्य तथा परंपरानुकूल प्रतीत होगा ।

वसिष्ठ ऋषिके आश्रममें गाय और बाघ एक ही झरनेपर पानी पीते थे, ऐसा वर्णन है । इसका केवल इकहरा ही अर्थ नहीं है, प्रत्युत् दोहरा अर्थ है—अर्थात् न केवल बाघकी क्रूरता ही नष्ट होती थी, बल्कि गायकी भीरुता भी नष्ट हो जाती थी । मतलब गाय ऋण भय शेर ऋण क्रौर्य । इस तरह मेल बैठता है, नहीं तो शेरको गाय बनानेकी सामर्थ्य तो सर्कसवालोंमें भी है । उसके लिए ऋषिके आश्रमकी जरूरत नहीं है ।

नीतिके आश्रममें भी सभी पुरुषोंका आग्रही या एकांकी स्वरूप बदलकर उनका समन्वय हो सकेगा । नीतिके शीशेमें से चारों पुरुषार्थोंके रंग बिल्कुल बदले हुए नजर आयंगे । कामकी सुंदरता, अर्थकी उपयोगिता, धर्मकी पवित्रता और मोक्षकी स्वतंत्रताका एकत्र दर्शन होगा और संपूर्ण जीवनकी यथार्थ कल्पना होगी । सौंदर्य, उपयोगिता, पावित्र्य और स्वातंत्र्य, इन चारों दिशाओंको नीतिका आकाश स्पर्श करता है, इसलिए अगर चारों पुरुषार्थ ये नई पोशाकें पहनना मंजूर करें तो उनका द्वैत कम होकर मनुष्यको संतोष होनेकी संभावना है ।

परंतु आधुनिक नीतिशास्त्रका अपना कोई निश्चित सिद्धांत न होनेके कारण वह बिल्कुल खोखला हो गया है। इसलिए उससे ठोस संतोषकी आशा करना व्यर्थ है। दूसरी भाषामें, वर्तमान नीतिशास्त्रके आत्मा ही नहीं है, इसलिए उसका स्वरूप बहुत-कुछ शाब्दिक हो गया है। चार पुरुषार्थोंके मिलापकी संभावना दिखाई जानेपर भी उनमें समझौता करनेका कर्तृत्व इस शास्त्रमें नहीं है, इसलिए इस कमीकी पूर्ति करनेके उद्देश्यमें ऋषियोंने कर्तृत्ववान योगशास्त्रका निर्माण किया। समझौतेकी पूर्व तैयारीके लिए नीतिशास्त्रको धन्यवाद देकर अगले कार्यके लिए इस योगशास्त्रकी शरण लेनी पड़ेगी। 'अथ योगानुशासनम्'।

'महाराष्ट्र-धर्म' जनवरी १९२३।

: २६ :

निर्भयता

निर्भयता तीन प्रकारकी होती है—विज्ञ निभयता, ईश्वरनिष्ठ निर्भयता, विवेक निर्भयता। 'विज्ञ' निर्भयता वह निर्भयता है जो खतरोंसे परिचय प्राप्त करके उनके इलाज जान लेनेसे आती है। यह जितनी प्राप्त हो सकती हो, उतनी कर लेनी चाहिए। जिसकी सांपोंसे जान-पहचान हो गई, निर्विष और सविष सांपोंका भेद जिसने जान लिया, सांप पकड़नेकी कला जिसे सिद्ध हो गई, सांप काटनेपर किये जानेवाले इलाज जिसे मालूम हो गये, सांपसे बचनेकी युक्ति जिसे विदित हो गई, वह सांपोंकी तरफसे काफी निर्भय हो जायगा। अवश्य ही यह निर्भयता सांपोंतक ही सीमित रहेगी। हरेकको शायद वह प्राप्त न हो सके, लेकिन जिसे सांपोंमें रहना पड़ता है, उसके लिए यह निर्भयता व्यावहारिक उपयोगकी चीज है, क्योंकि उसकी बदौलत जो हिम्मत आती है वह मनुष्यको अस्वाभाविक आचरणसे बचाती है। लेकिन यह निर्भयता मर्यादित है।

दूसरी यानी ईश्वरनिष्ठ निर्भयता, मनुष्यको पूर्ण निर्भय बनाती है।

परंतु दीर्घ प्रयत्न, पुरुषार्थ, भक्ति इत्यादि साधनोंके सतत अनुष्ठानके बिना वह प्राप्त नहीं होती। जब वह प्राप्त होगी तो किसी अवांतर सहायताकी जरूरत ही न रहेगी।

इसके बाद तीसरी विवेकी निर्भयता है। वह मनुष्यको अनावश्यक और ऊटपटांग साहस नहीं करने देती। और फिर भी अगर खतरेका सामना करना ही पड़े तो विवेकसे बुद्धि शांत रखना सिखाती है। साधकको चाहिए कि वह इस विवेकी निर्भयताकी आदत डालनेका प्रयत्न करे। वह हरएककी पहुंचमें है।

मान लीजिए कि मेरा शेरसे सामना हो गया और वह मुझपर झपटना ही चाहता है। संभव है कि मेरी मृत्यु अभी बदी न हो। अगर बदी हो तो वह टल नहीं सकती। परंतु यदि मैं भयभीत न होकर अपनी बुद्धि शांत रखनेका प्रयत्न करूं तो बचनेका कोई रास्ता सूझनेकी संभावना है? या ऐसा कोई उपाय न सूझे तो भी अगर मैं अपना होश बनाये रखूं तो अंतिम समयमें हरि-स्मरण कर सकूंगा। ऐसा हुआ तो यह परम लाभ होगा। इस प्रकार यह विवेकी निर्भयता दोनों तरहसे लाभदायी है और इसीलिए यह सबके प्रयत्नोंका विषय होने योग्य है।

अक्तूबर, १६४०

: २७ :

आत्म-शक्तिका अनुभव

आप सब जानते हैं कि आज गांधीजीका जन्म-दिन है। ईश्वरकी कृपासे हमारे इस हिंदुस्तानमें गांधीजी-जैसे श्रेष्ठ व्यक्ति इससे पहले भी हुए हैं। ईश्वर हमारे यहां समय-समयपर ऐसे अच्छे व्यक्ति भेजता आया है। आइए, हम ईश्वरसे प्रार्थना करें कि हमारे देशमें सत्पुरुषोंकी ऐसी ही अखंड परंपरा चलती रहे।

मैं आज गांधीजीके विषयमें कुछ न कहूंगा। अपने नामसे कोई उत्सव

हो, यह उन्हें पसंद नहीं है। इसलिए उन्होंने इस सप्ताहको खादी-सप्ताह नाम दिया है। अपनेसे संबंध रखनेवाले उत्सवको कोई प्रोत्साहन नहीं दे सकता, परंतु गांधीजी इस उत्सवको प्रोत्साहन दे सकते हैं। कारण, यह उत्सव एक सिद्धांतके प्रसारके लिए, एक विचार के विस्तारके लिए मनाया जाता है।

गांधीजी किसी ज्ञानी पुरुषके एक कथनका जिक्र किया करते हैं, जिसका आशय यह है कि किसी भी व्यक्तिका जीवन जबतक समाप्त नहीं हो जाता तबतक उसके विषयमें मौन रहना ही उचित है। मुझे तो व्यक्तिका स्थूल चरित्र भूल जाने-जैसी ही बात मालूम होती है। मनुष्य ईश्वरकी लिखी हुई एक चिट्ठी है, एक संदेश है। चिट्ठीका मजमून देखना चाहिए उसकी लंबाई-चौड़ाई और वजन देखनेसे मतलब नहीं है।

अभी यहां जो कार्यक्रम रहा, उसमें लड़कोंने खासा उत्साह दिखाया। ऐसे कार्यक्रमोंमें लड़के हमेशा उत्साह और आनंदसे शरीक होते हैं। परंतु जो प्रौढ़ लोग यहां इकट्ठे हुए, उन्होंने एकत्र बैठकर उत्साहसे सूत काता, यह कार्यक्रमका बहुत सुंदर अंग है। सालभरमें कई त्यौहार आते हैं, उत्सव भी होते हैं। हम उस दिनके लिए कोई-न-कोई कार्यक्रम भी बना लेते हैं, परंतु उसी दिनके लिए कार्यक्रम बनानेसे हम उस उत्सवसे पूरा लाभ नहीं उठा सकते। ऐसे अवसरोंपर शुरू किया हुआ कार्यक्रम हमें साल भर तक चलाना चाहिए। इसलिए यहां एकत्र हुई मंडलीको मैंने यह सुझाया कि वे लोग आजसे अगले सालके इसी दिनतक रोज आध घंटा नियमित रूपसे कातनेका संकल्प करें। अगर आप ऐसा शुभ निश्चय करेंगे तो उस निश्चय-को पूरा करनेमें ईश्वर आपकी हर तरहसे सहायता करेगा। ईश्वर तो इसके इंतजारमें ही रहता है कि कौन शुभ निश्चय करे और कब उसकी मदद करनेका सुयोग मुझे मिले। रोज नियमित रूपसे सूत कातिए। लेकिन इतना ही काफी नहीं है। उसका लेखा भी रखना चाहिए। यह लेखा लोगोंके लिए नहीं रखना है, अपने दिलको टटोलनेके लिए रखना है। निश्चय छोटा-सा ही क्यों न हो मगर उसका पालन पूरा-पूरा होना चाहिए। हम ऐसा करेंगे तो उससे हमारा संकल्प-बल बढ़ेगा। यह शक्ति हमारे अंदर भरी हुई है, लेकिन हमें उसका अनुभव नहीं होता। आत्म-शक्तिका

अनुभव हमें नहीं होता, क्योंकि कोई-न-कोई संकल्प करके उसे पूरा करनेकी आदत हम नहीं डालते। छोटे-छोटे ही संकल्प या निश्चय कीजिए और उन्हें कार्यान्वित कीजिए, तब आत्म-शक्तिका अनुभव होने लगेगा।

दूसरी बात यह है कि गांवमें जो काम हुआ है, उसके विवरणसे यह पता चलता है कि वे ही लोग काम करते हैं जिन्हें इस काममें शुरूसे दिलचस्पी रही। हमें इसकी जांच करनी चाहिए कि दूसरे लोग इसमें क्यों नहीं शामिल होते। कातनेवाले कातते हैं, इतना ही काफी नहीं है। इसका भी विचार करना चाहिए कि न कातनेवाले क्यों नहीं कातते। हमने अपना फर्ज अदा कर दिया, इतना काफी है, ऐसा कहनेसे काम नहीं चलेगा। इसका भी चिंतन करना चाहिए कि यह चीज़ गांवभरमें कैसे फैलेगी ? इसमें असली दिक्कत यह है कि हम शायद ही कभी ऐसा मानकर व्यवहार करते हों कि सारा गांव एक है। जब आग लग जाती है, बाढ़ आती या कोई छूतकी बीमारी फैलने लगती है, तभी हम सारे गांवका विचार करते हैं। लेकिन यह तो अपवाद हुआ। हमारे नित्यके व्यवहारमें यह बात नहीं पाई जाती। जब किसीका स्पर्श-ज्ञान बिल्कुल नष्ट होनेवाला होता है तो उसे मामूली स्पर्श मालूम ही नहीं पड़ता। जोरसे चुटकी काटिए तो थोड़ा-सा पता चलता है। यही हाल हमारा है। हमारा आत्म-ज्ञान बिल्कुल मरणोन्मुख हो गया है।

पशुओंका आत्मज्ञान उनकी देहतक सीमित रहता है। वे अपनी संतानको भी नहीं पहचानते। अलबत्ता मादाको कुछ दिनोंतक यह ज्ञान होता है, क्योंकि उसे दूध पिलाना पड़ता है। लेकिन यह पहचान भी तभी तक होती है जबतक वह दूध पिलाती रहती है। उसके बाद अक्सर वह भी भूल जाती है। नरको तो उतनी भी पहचान नहीं होती। कुछ जानवरोंमें तो बाप अपने बच्चेको खा जाता है। मनुष्य अपने बाल-बच्चोंको पहचानता है, इसलिए वह पशुसे श्रेष्ठ प्राणी माना जाता है। कौन-सा प्राणी कितना श्रेष्ठ है, इसका निश्चय उसके आकारसे नहीं होता। उसकी आत्मरक्षाकी शक्ति या युक्तिसे भी इसका पता नहीं चलता। उसका आत्मज्ञान कितना व्यापक है, इसीसे उसके बड़प्पनका हिसाब लगाया जा सकता है। दूसरे प्राणियोंका आत्मज्ञान उनके शरीरतक ही रहता है। जंगली मानी गई

जातिके मनुष्यमें भी वह कम-से-कम उनके परिवारतक व्यापक होता है। जितनी कमाई होती है, वह सारे घरकी मानी जाती है। कुछ कुटुंबोंमें तो यह कौटुंबिक प्रम भी नहीं होता। भाई-भाई, पति-पत्नी और बाप बेटोंमें झगड़े-टंटे होते रहते हैं।

हिंदुस्तानमें फिर भी कौटुम्बिक प्रेम थोड़ा-बहुत पाया जाता है। लेकिन कुटुंवसे बाहर वह बहुत कम मात्रामें है। जबकोई भारी आपत्ति आ पड़ती है तो उतने समयके लिए सारा गांव एक हो जाता है। आमतौरपर कुटुम्वसे बाहर देखनेकी वृत्ति नहीं है। इसका यह मतलब हुआ कि हिंदुस्तान का आत्म-ज्ञान मौतकी तरफ बढ़ रहा है। इसलिए मेरा आपसे अनुरोध है कि समूचे गांवको एक इकाई मानकर सारे गांवकी चिंता कीजिए। यह गोपालकृष्णका मंदिर कौन-सा संदेश सुनाता है? इस मंदिरका मालिक गोपालकृष्ण है। उसके पास उसके सब बालकोंको जानेकी इजाजत होनी चाहिए। यह मंदिर हरिजनोंके लिए खोलकर आपने इतना काम किया है। किंतु मंदिर खोलनेका पूरा अर्थ समझकर 'इस गोपालकृष्णकी छत्रच्छायामें यह सारा गांव एक है', ऐसी भावना का विकास कीजिए।

गांवकी प्राथमिक आवश्यकताकी चीजें गांवमें ही बननी चाहिए। अगर हम ऐसी चीज बाहरसे लाने लगेंगे तो बाहरके लोगोंपर जुल्म होगा। जापानकी मिलों और कारखानोंमें मजदूरोंको बारह-बारह घंटे काम करना पड़ता है। कम-से-कम मजदूरीमें उनसे ज्यादा-से-ज्यादा काम लिया जाता है। वे यह सब किसलिए करते हैं? हिंदुस्तानके बाजार अपने हाथमें रखनेके लिए। मगर उनकी भाषामें "हमारी आवश्यकताएं पूरी करनेके लिए।" यह वहांके मालदार पूंजीपति कहते हैं। वहांके गरीबोंका इसमें कोई फायदा नहीं, वहांके मालदार आदमियोंका भी कल्याण इसमें नहीं है और हमारा तो हरगिज नहीं है। हमारे उनका माल खरीदनेसे उन्हें जो पैसा मिलता है, उसका वे कैसा उपयोग करते हैं? उस पैसेसे वे बम बनाते हैं। उनकी बदौलत वे आज चीनको हरा रहे हैं। इंग्लैंड, जर्मनी आदि राष्ट्रोंका भी यही कार्यक्रम है। बाहरका माल खरीदकर हम इस प्रकार दुर्जनोंका लोभ बढ़ाते हैं, शस्त्रास्त्र और गोला-बारूद बनानेके लिए पैसा देते हैं। इसका उपयोग राष्ट्र-के-राष्ट्र वीरान कर देनेके लिए हो रहा है।

बीस-बीस हजार फुटकी ऊंचाईसे बम गिराये जाते हैं। जर्मन लोग बड़े गर्वसे कहते हैं कि "हमने लंदनको बेचिराग कर दिया।" अंग्रेज कहते हैं, "हमने बर्लिन को भून डाला।" और हम लोग समाचारपत्रोंमें ये सब खबरें पढ़-पढ़कर मजे लेते हैं। औरतें और बच्चे मर रहे हैं। मंदिर, विद्यालय और दवाखाने जमींदोज हो रहे हैं। लड़नेवालों और न लड़नेवालों में कोई फर्क नहीं किया जाता। क्या इन लड़नेवालोंको हम पापी कहें? लेकिन हम पुण्यवान् कैसे साबित हो सकते हैं? हम ही तो उनका माल खरीदते हैं?

इस प्रकार हम दुर्जनोंको उनके दुष्ट कार्यमें सक्रिय सहायता देते हैं। यह कहना व्यर्थ है कि हम तो सिर्फ अपनी जरूरतकी चीजें खरीदते हैं, हम किसीकी मदद नहीं करते। खरीदना और बेचना केवल मामूली व्यवहार नहीं है। उनमें परस्पर दान है। हम जो खरीदार हैं और वे जो बेचनेवाले हैं, दोनों एक-दूसरेकी मदद करते हैं। परस्परके हम सहयोगी हैं। एक-दूसरे-के पाप-पुण्यमें हमारा हिस्सा है। अमेरिका नकद सोना लेकर इंग्लैंडको सोना बेचता है तो भी यह माना जाता है कि वह इंग्लैंडकी मदद करता है और अंग्रेज इस सहायताके लिए उसका उपकार मानते हैं। व्यापार-व्यवहारमें भी पाप-पुण्यका बड़ा भारी सवाल है। बैंकवाला हमें व्याज देता है, लेकिन हमारे पैसे किसी व्यापारमें लगाता है। बैंकमें पैसे रखने-वाला उसके पाप-पुण्यका हिस्सेदार होता है। जिसका उपयोग पापके लिए होता हो, ऐसी कोई भी मदद करना पाप ही है। इसलिए अपने गांवकी प्राथमिक आवश्यकताकी चीजें बनानेका काम भी दूसरोंको सौंपनेका मतलब यह है कि हम खुद परावलंबन और आलस्यका पाप करते हैं और दूसरों-को भी पापमें डालनेमें सहायता करते हैं।

हिंदुस्तान और चीन दोनों बहुत बड़े देश हैं। उनकी जन-संख्या पचासी करोड़, यानी संसारकी जन-संख्याके आधेसे कुछ ही कम है। इतने बड़े देश हैं, लेकिन सिवा नाजके इनमें और क्या उत्पन्न होता है? ये दो विराट लोक-संख्यावाले देश गैर-मुल्कोंके मालके खरीदार हैं। चीनमें तो फिर भी कुछ माल तैयार होता है, पर हिंदुस्तानमें वह भी नहीं होता। हिंदुस्तान सर्वथा परावलंबी है। हम समझते हैं कि हम तो अपनी जरूरतकी

चीजें खरीदते हैं। हमसे मिले हुए पैसेका उपयोग जो लोग पापमें करते होंगे, वे पापी हैं, हम कैसे पापी हुए ? बौद्ध-धर्मावलंवी स्वयं जानवरोंको मारना हिंसा समझते हैं; लेकिन कसाईके मारे हुए जानवरका मांस खानेमें वे हिंसा नहीं मानते। उसी प्रकारका विचार यह भी है। हमें ऐसे भ्रममें नहीं रहना चाहिए। गांधीजी जब यह कहते हैं कि खादी और ग्रामोद्योग द्वारा प्रत्येक गांवको स्वावलंवी बनना चाहिए, तब वे हरेक गांवको सुखी बनाना चाहते हैं और साथ-साथ दुर्जनोंसे लोगोंपर जुल्म करनेकी शक्ति भी छीन लेना चाहते हैं। इस उपायसे दुर्जन और उन्हें शक्ति देनेवाले आलसी लोग, दोनों पुण्यके रास्तेपर आयेंगे।

हम अपने पैरोंपर खड़े रहनेमें किसीसे द्वेष नहीं करते। अपना भला करते हैं। अगर हम लंकाशायर, जापान या हिंदुस्तानकी मिलोंका कपड़ा न खरीदें तो मिलवाले भूखों न मरेंगे। उनका पेट तो पहले ही से भरा हुआ है। बुद्धिमान होनेके कारण वे दूसरे कई धंधे भी कर सकते हैं। लेकिन हम किसान ग्रामोद्योग खो बैठनेके कारण उत्तरोत्तर कंगाल हो रहे हैं। इसके अलावा बाहरका माल खरीदकर हमने दुर्जनोंका बल बढ़ाया है। दुर्जन संघटित होकर आज दुनियापर राज कर रहे हैं। इसके लिए हम सब तरहसे जिम्मेदार हैं।

वास्तवमें ईश्वरने दुर्जनोंकी कोई अलग जाति नहीं पैदा की है। जब द्रव्यसंग्रहकी धुन सवार हो जाती है तब जन्मसिद्ध सज्जन भी धीरे-धीरे दुर्जन बनने लगता है। अगर हम स्वावलंबी हो गए, हमारे गांव अपने उद्योगके बल अपने पैरोंपर खड़े हो सके, तो सज्जनको दुर्जन बनानेवाली लोभ-वृत्तिकी जड़ें ही उखड़ जायंगी और आज जो सत्ताधारी बनकर बैठे हैं, उनकी लोगोंपर जुल्म करनेकी शक्ति निन्यानबे फीसदी गायब हो जायगी। "लेकिन जुल्म करनेकी जो एक प्रतिशत शक्ति शेष रह जायगी, उसका क्या इलाज है ?" निन्यानवे प्रतिशत नष्ट हो जानेके बाद बाकी रहा हुआ एक प्रतिशत अपने-आप मुरझा जायगा। लेकिन जैसे चिराग बुझनेके वक्त ज्यादा भभकता है उसी तरह अगर यह एक प्रतिशत जोर मारे तो हमें उसका प्रतिकार करना पड़ेगा।

इसके लिए सत्याग्रहके शस्त्रका आविष्कार हुआ है। दुर्जनोंसे हमें द्वेष

नहीं करना है, पर दुर्जनताका प्रतिकार अपनी पूरी ताकतसे करना है। आजतक दुर्जनोंकी सत्ता जो संसारमें चलती रही, इसका सबब यह है कि लोग दुर्जनोंके साथ व्यवहार करनेके दो ही तरीके जानते थे। 'लोग' शब्दसे मेरा मतलब है 'सज्जन कहे जानेवाले लोग'। या वे 'झगड़ेका मुंह काला' कहकर निष्क्रिय होकर बैठ जाना जानते थे, या फिर दुर्जनोंसे दुर्जन होकर लड़ते थे। जब मैं दुर्जनसे उसीका शस्त्र लेकर लड़ने लगता हूं तो उसमें और मुझमें जो भेद है, उसे बतानेका इसके सिवा दूसरा तरीका ही नहीं है कि मैं अपने माथे पर 'सज्जन' शब्द लिखकर एक लेबिल चिपका लूं, और जब मैं उसका शस्त्र बरतता हूं, तो अपने शस्त्रके प्रयोगमें वही अधिक प्रवीण होगा, अर्थात् मेरी किस्मतमें पराजय तो लिखी ही है। या फिर मुझे सवाया दुर्जन बनकर उसको पराजित करना चाहिए। जो थोड़े-बहुत सज्जन थे, वे इस 'दुष्ट चक्र'से डरकर निष्क्रिय होकर चुपचाप बैठ जाते थे। इन दोनों पगडंडियोंको छोड़कर हमें सत्याग्रहसे यानी स्वयं कष्ट, सहकर अन्यायका प्रतिकार करना चाहिए और अन्याय करनेवालेके प्रति प्रेमभाव रखना चाहिए, ऐसा यह अभंग शस्त्र हमें प्राप्त हुआ है। इसी शस्त्रका वर्णन करते हुए ज्ञानदेवने कहा है, "अगर मित्रतासे ही वैरी मरता हो तो नाहक कटार क्यों बांधें ?" गीता कहती है, "आत्मा अमर है, मारनेवाला बहुत करेगा तो हमारे शरीरको मारेगा। हमारी आत्माको, हमारे विचारको वह नहीं मार सकता।" यह गीताकी सिखावन ध्यानमें रखते हुए सज्जनोंको निर्भयता और निर्वैर-बुद्धिसे प्रतिकारके लिए तैयार हो जाना चाहिए।

दुर्जनोंकी निन्यानवे प्रतिशत शक्ति नष्ट करनेका काम खादी और ग्रामोद्योगका है। निन्यानवे प्रतिशत जनताके लिए यही कार्यक्रम है। शेष एक प्रतिशत काम अहिंसक प्रतिकारका है। यदि पहला सुचारु रूपसे हो जाय तो दूसरेकी जरूरत ही न पड़नी चाहिए। और अगर जरूरत पड़े ही तो उसके लिए जनसंख्याके एक प्रतिशतकी भी आवश्यकता न होनी चाहिए। थोड़े-से निर्भय, निर्वैर और आत्मज्ञ पुरुषों द्वारा यह काम हो सकता है। मैं समझता हूं, इन बातोंमें गांधी-जयंतीका सारा सार आ जाता है।

२ अक्तूबर, '४०

: २८ :

सेवाका आचार-धर्म

सहनाववतु । सहनौ भुनक्तु ।
सहवीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु ।
मा विद्विषावहै । ॐ शांतिः शांति शांति ॥

मैंने आज अपने भाषणका आरंभ जिस मंत्रसे किया है वह मंत्र हमारे देशके लोग पाठशालामें अध्ययन शुरू करते समय पढ़ा करते थे ! मंत्र गुरू और शिष्यके मिलकर कहनेके लिए है । "परमात्मा हम दोनोंका एक साथ रक्षण करे । एक साथ पालन करे । हम दोनों जो कुछ सीखें वह, हम दोनोंकी शिक्षा, तेजस्वी हो । हम दोनोंमें द्वेष न रहे । और सर्वत्र शांति रहे ।" यह इस मंत्रका सक्षिप्त अर्थ है । आश्रममें भोजनके प्रारंभमें यही मंत्र पढ़ा जाता है । अन्यत्र भी भोजन आरंभ करते समय इसे पढ़नेकी प्रथा है । "इस मंत्रका भोजनसे क्या संबंध है । इसके बदले कोई दूसरा भोजनके समय पढ़ने योग्य मंत्र क्या खोजा ही नहीं जा सकता ?" यह सवाल एक बार बापूसे किया गया था । उन्होंने वह मेरे पास भेज दिया था । मैंने एक पत्रमें उसका विस्तारसे उत्तर दिया है । वही मैं थोड़ेमें यहां कहने-वाला हूं ।

इस मंत्रमें समाज दो भागोंमें बांटा गया है और ऐसी प्रार्थना की गई है कि परमात्मा दोनोंका एक साथ रक्षण करे । भोजनके समय इस मंत्रका उच्चार अवश्य करना चाहिए; क्योंकि हमारा भोजन केवल पेट भरनेके लिए ही नहीं है, ज्ञान और सामर्थ्यकी प्राप्तिके लिए है । इतना ही नहीं इसमें यह भी मांग की गई है कि हमारा वह ज्ञान, वह सामर्थ्य और वह भोजन भगवान एक साथ कराये । इसमें केवल पालनकी प्रार्थना नहीं है, एक साथ पालनकी प्रार्थना है । पाठशालामें जिस प्रकार गुरू और शिष्य होते हैं उसी प्रकर सर्वत्र द्वैत है । परिवारमें पुरानी और नई पीढ़ी, समाजमें स्त्री-पुरुष, वृद्ध-तरुण, शिक्षित-अशिक्षित आदि भेद हैं । उसमें फिर गरीब-अमीरका भेद भी है । इस प्रकार सर्वत्र भेद-दृष्टि आती है । हमारे इस

हिंदुस्तानमें तो असंख्य भेद हैं। यहां प्रांत-भेद हैं। यहांका स्त्री-वर्ग बिल्कुल अपंग रहता है। इसलिए यहां स्त्री-पुरुषोंमें भी बहुत भेद बढ़ा है। हिंदू और मुसलमानका भेद तो प्रसिद्ध है ही। परंतु हिंदू-हिंदूमें भी, हरिजनों और दूसरोंमें भी भेद है। हिंदुस्तानकी तरह भेद संसारमें भी है। इसलिए इस मंत्रमें यह प्रार्थना की गई है कि हमें "एक साथ तार, एक साथ मार" मारनेकी प्रार्थना प्रायः कोई नहीं करता। इसलिए यहां एक साथ तारनेकी प्रार्थना है। लेकिन "यदि मुझे मारना ही हो तो कम-से-कम एक साथ मार", ऐसी प्रार्थना है। सारांश "हमें दूध देना है तो एक साथ दे, सूखी रोटी देना है तो भी एक साथ दे, हमारे साथ जो कुछ करना है वह सब एक साथ कर," ऐसी प्रार्थना इस मंत्रमें है।

देहातके लोग यानी किसान और शहराती, गरीब और अमीर, इनका अंतर जितना कम होगा उतना ही देशका कदम आगे बढ़ेगा। अंतर दो तरहसे मेटा जा सकता है। ऊपरवालोंके नीचे उतरनेसे और नीचेवालोंके ऊपर चढ़नेसे। परंतु दोनों ओर से यह नहीं होता। हम सेवक कहलाते हैं, लेकिन किसान-मजदूरोंकी तुलनामें तो चोटीपर ही हैं।

लेकिन सवाल तो यह है कि भोग और ऐश्वर्य किसे कहें? मैं अच्छा स्वादिष्ट भोजन करूं और पड़ोसमें ही दूसरा भूखों मरता रहे, इसे? उसकी नजर बराबर मेरे भोजनपर पड़ती रहे और मैं उसकी परवाह न करूं? उसके आक्रमणसे अपनी थालीकी रक्षा करनेके लिए एक डंडा लेकर बैठूं! मेरा स्वादिष्ट भोजन और डंडा तथा उनकी भूख, इसे ऐश्वर्य मानें? एक सज्जन आकर मुझसे कहने लगे कि "हम दो आदमी एकत्र भोजन करते हैं, परंतु हमारी निभ नहीं सकती। मैंने अब अलग भोजन करनेका निश्चय किया है।" मैंने पूछा, "सो क्यों?" उन्होंने जवाब दिया, "मैं नारंगियां खाता हूं, वह नहीं खाते; वह मजदूर हैं, इसलिए वह नारंगियां खरीद नहीं सकते। अतः उनके साथ खाना मुझे अनुचित लगता है।" मैंने पूछा—"क्या अलग घरमें रहनेसे उनके पेटमें नारंगियां चली जायंगी? आप दोनोंमें जो व्यवहार आज हो रहा है वही ठीक है। जबतक दोनों एक साथ खाते हैं तबतक दोनोंके निकट आनेकी संभावना है। एकाध बार आप उनसे नारंगियां लेनेका आग्रह भी करेंगे। लेकिन यदि आप दोनोंके बीच सुरक्षितता

की दीवार खड़ी कर दी गई तो भेद चिरस्थायी हो जायगा । दीवारको सुरक्षितताका साधन मानना कैसा भयंकर है ! हिंदुस्तानमें हम सब कहते हैं, हमारे संतोंने पुकार-पुकारकर कहा है कि ईश्वर सर्वसाक्षी है, सर्वत्र है । फिर दीवारकी ओटमें छिपनेसे क्या फायदा ? इससे दोनोंका अंतर थोड़े ही घटेगा ।"

यही हाल हम खादी-धारियोंका भी है । जनताके अंदर अभी खादीका प्रवेश ही नहीं हुआ है । इसलिए जितने खादीधारी हैं वे सब सेवक ही हैं । यह कहा जाता है कि हमें और आपको गांवोंमें जाना चाहिए । लेकिन देहातमें जानेपर भी, वहांके लोगोंको जहां सूखी रोटी नहीं मिलती वहां मैं पूरी खाता हूं । मेरा घी खाना उस भूखेको नहीं खटकता । आज भी किसान कहता है कि अगर मुझे पेटभर रोटी मिल जाय तो तेरे घीकी मुझे ईर्ष्या नहीं । मुझे तेल ही मिलता रहे तो भी संतोष है । यह भेद उसे भले ही न अखरता हो, मगर हम सेवकोंको बहुत अखरता है । लेकिन इस तरह कबतक चलता रहेगा ? पारसाल मैं एक खासा दुबला-पतला जीव था । इस साल मुटा गया हूं । मुझे यह मुटापा खटकता है । मैं भी उन्हीं लोगों-जैसा दुबला-पतला हूं, यह संतोष अब जाता रहा ।

इस टंगी हुई तख्तीपर लिखा है कि आवश्यकताएं बढ़ाते रहना सभ्यता-का लक्षण नहीं है; बल्कि आवश्यकताओंका संस्करण सभ्यताका लक्षण है । तो भी मैं कहता हूं कि देहातियोंकी आवश्यकताएं बढ़ानी चाहिए । उन्हें सुधारना भी चाहिए । लेकिन उनकी आवश्यकताएं आज तो पूरी भी नहीं होतीं । उनका रहन-सहन बिल्कुल गिरा हुआ है । उनके जीवनका मान बढ़ाना चाहिए । मोटे हिसाबसे तो यही कहना पड़ेगा कि आज हमारे गरीब देहातियोंकी आवश्यकताएं बढ़ानी चाहिए ।

यदि हम गांवोंमें जाकर बैठे हैं तो हमें इसके लिए प्रबल प्रयत्न करना चाहिए कि ग्रामवासियोंका रहन-सहन ऊपर उठे और हमारा नीचे उतरे । लेकिन हम जरा-जरा-सी बातें भी तो नहीं करते । महीना-डेढ़ महीना हुआ, मेरे पैरमें चोट लग गई । किसीने कहा, उसपर मरहम लगाओ । मरहम मेरे स्थानपर आ भी पहुंचा । किसीने कहा, मोम लगाओ, उससे ज्यादा फायदा होगा । मैंने निश्चय किया कि मरहम और मोम दोनों आखिर

मिट्टीके ही वर्गके तो हैं। इसलिए मिट्टी लगा ली। अभी पैर बिल्कुल अच्छा नहीं हुआ है, लेकिन अब मजेमें चल सकता हूं। हमें मरहम जल्दी याद आता है, लेकिन मिट्टी लगाना नहीं सूझता। कारण, उसमें हमारी श्रद्धा नहीं, विश्वास नहीं।

हमारे सामने इतना बड़ा सूर्य खड़ा है। उसे अपना नंगा शरीर दिखानेकी हमें बुद्धि नहीं होती। सूर्यके सामने अपना शरीर खुला रखो, तुम्हारे सारे रोग भाग जायंगे। लेकिन हम अपनी आदत और शिक्षासे लाचार हैं, डाक्टर जब कहेगा कि तुम्हें तपेदिक हो गया, तब वही करेंगे।

हम अपनी जरूरत किस तरह कम कर सकेंगे, इसकी खोज करनी चाहिए। मैं यहां संन्यासीका धर्म नहीं बतला रहा हूं। खासे सद्गृहस्थका धर्म बतला रहा हूं। ठंडी आब-हवावाले देशोंके डाक्टर कहते हैं कि बच्चोंकी हड्डियां बढ़ानेके लिए उन्हें "कॉड लिवर आयल" दो। जहां सूर्य नहीं है, ऐसे देशोंमें दूसरा उपाय ही नहीं है। कॉड लिवरके बिना बच्चे मोटे-ताजे नहीं होंगे। यहां सूर्यदर्शनकी कमी नहीं। यहां यह "महा कॉड लिवर आयल" भरपूर है। लेकिन हम उसका उपयोग नहीं करते। यह हमारी दशा है। हमें लंगोटी लगानेमें शर्म आती है। छोटे बच्चोंपर भी हम कपड़ेकी बाइंडिंग (जिल्द) चढ़ाते हैं। नंगे बदन रहना असभ्यताका लक्षण माना जाता है। वेदोंमें प्रार्थना की गई है कि "मा नः सूर्यस्य सदृशो युयोथाः।" हे ईश्वर, मुझे सूर्य-दर्शनसे दूर न रख।" वेद और विज्ञान दोनों कहते हैं कि खुले शरीर रहो। कपड़ेकी जिल्दमें कल्याण नहीं। हम अपने आचारसे ये विनाशक चीजें गांवमें दाखिल न करें। हम देहातोंमें जानेपर भी अपने बच्चोंको आधी या पूरी लंबाईका पतलून पहनाते हैं। इसमें उन बच्चोंका कल्याण तो है ही नहीं, उलटे एक दूसरा अशुभ परिणाम यह निकला है कि दूसरे बच्चोंमें और उनमें भेद पैदा हो जाता है। या फिर दूसरे लोगोंको भी अपने बच्चोंको सजानेका शौक पैदा हो जाता है। एक फिजूलकी जरूरत पैदा हो जाती है। हमें देहातोंमें जाकर अपनी जरूरतें कम करनी चाहिए। यह विचारका एक पहलू हुआ।

देहातकी आमदनी बढ़ाना इस विचारका दूसरा पहलू है। लेकिन वह कैसे बढ़ाई जाय? हममें आलस्य बहुत है। वह महान् शत्रु है। एकका

विशेषण दूसरेको जोड़ देना साहित्यमें एक अलंकार माना गया है। "कहे लड़कीसे, लगे बहूको", इस अर्थकी जो कहावत है उसका भी अर्थ यही है। बहूको यदि कुछ जली-कटी सुनानी हो तो सास अपनी लड़कीको सुनाती है। उसी तरह हम कहते हैं, "देहाती लोग आलसी हो गए।" दरअसल आलसी तो हम हैं। यह विशेषण पहले हमें लागू होता है। हम इसका उनपर आरोप करते हैं। बेकारीके कारण उनके शरीरमें आलस्य भले ही भिद गया हो, परंतु उनके मनमें आलस्य नहीं है। उन्हें बेकारीका शौक नहीं है। लेकिन यदि सच कहा जाय तो हम कार्यकर्त्ताओंके तो मनमें भी आलस्य है और शरीरमें भी। आलस्य हिंदुस्तानका महारोग है। यह बीज है। बाहरी महारोग इसका फल है। हमें इस आलस्यको दूर करना चाहिए। सेवकको सारे दिन कुछ-न-कुछ करते रहना चाहिए। और कुछ न हो तो गांवकी परिक्रमा ही करे। और कुछ न मिले तो हड्डियां ही बटोरे। यह भगवान् शंकरका कार्यक्रम है। हड्डियां इकट्ठी करके चर्मालयमें भेज दे। इससे आशुतोष भगवान् शंकर प्रसन्न होंगे। या एक बाल्टीमें मिट्टी लेकर रास्ते पर जहां-जहां खुला हुआ मैला पड़ा हो उसपर डालता फिरे। अच्छी खाद बनेगी। इसके लिए कोई खास कौशलकी जरूरत नहीं।

हमारे सेनापति बापटने एक कवितामें कहा है कि झाड़ू, खपरैल और खुरपा, ये औजार धन्य हैं।" ये कुशल औजार ह। जिस औजारका उपयोग अकुशल मनुष्य भी कर सकता है, उसे बनानेवाला अधिक-से-अधिक कुशल होता है। जिस औजारके उपयोगके लिए कम-से-कम कुशलताकी जरूरत हो, वह अधिक-से-अधिक कुशल औजार है। खपरैल और झाड़ ऐसे ही औजार हैं। झाड़ू सिर्फ फिरानेकी देर है, भूमाता स्वच्छ हो जाती है। खपड़ियामें जरा भी आनाकानी किये बिना मैला आ जाता है। यंत्रशास्त्रके प्रयोग इस दृष्टिसे होने चाहिए। खपरैल, खुरपा और झाड़ू के लिए पैसे नहीं देने पड़ते। इसलिए वे सीधे-सादे औजार धन्य हैं!

रामदासने अपने 'दासबोध' में सुबहसे शामतककी दिनचर्या बतलाते हुए कहा है कि सबेरे शौच-क्रियाके लिए बहुत दूर जाओ और वहां से लौटते हुए कुछ-न-कुछ लेते आओ। वह कहते हैं कि खाली हाथ आना खोटा काम

है । सिर्फ हाथ हिलाते नहीं आना चाहिए । कोई-कोई कहते हैं कि हम तो हवा खाने गए थे । लेकिन हवा खानेका कामसे विरोध क्यों हो ? कुदालीसे खोदते हुए क्या नाक बंद कर ली जाती है ? हवा खाना तो सदा चालू ही रहता है । परंतु श्रीमान् लोग हमेशा बिना हवावाली जगहमें बैठे रहते हैं । इसलिए उनके लिए हवा खाना भी एक काम हो जाता है । मगर कार्यकर्त्ता-को सदा खुली हवामें काम करनेकी आदत होनी चाहिए । वापस आते हुए वह अपने साथ कुछ-न-कुछ जरूर लाया करे । देहातमें वह दतुअन ला सकता है । लीपनेके लिए गोबर ला सकता है और अगर कुछ न मिले तो कम-से कम किसी एक खेतके कपासके पेड़ ही गिनकर आ सकता है, यानी फसलका ज्ञान अपने साथ ला सकता है । मतलब, उसे फिजूल चक्कर नहीं काटने चाहिए । देहातमें काम करनेवाले ग्राम-सेवकोंको सुबहसे लेकर शामतक कुछ-न-कुछ करते ही रहना चाहिए ।

लोगोंकी शक्ति कैसे बढ़ेगी, इसके विषयमें अब कुछ कहूंगा । देहातमें बेकारी और आलस्य बहुत है । देहातके लोग मेरे पास आते और कहते हैं, "महाराजा हम लोगोंका बुरा हाल है । घरमें चार खानेवाले मुंह हैं ।" न जाने वे मुझे 'महाराज' क्यों कहते हैं ? मेरे पास कौन-सा राज धरा है ? मैं उनसे पूछता हूं, "अरे भाई, घरमें अगर खानेवाले मुंह न हों तो क्या बगैर खानेवाले हों । बगैर खानेवाले मुंह तो मुर्दोंके होते हैं । उन्हें तो तुरंत बाहर निकालना होता है । तुम्हारे घरमें चार खानेवाले मुंह हैं, यह तो तुम्हारा वैभव है । वे तुम्हें भार क्यों हो रहे हैं ? भगवान्‌ने आदमीको अगर एक मुंह दिया है तो उसके साथ-साथ दो हाथ भी तो दिये हैं । अगर वह एक समूचा मुंह और आधा ही हाथ देता तो अलबत्ता मुश्किल थी । तुम्हारे यहां चार मुंह हैं तो आठ हाथ भी तो हैं । फिर शिकायत क्यों ?" लेकिन हम उन हाथोंका उपयोग करें, तब न ? हमें तो हाथ-पर-हाथ धरकर बैठे रहनेकी आदत होगई है, हाथ जोड़नेकी आदत होगई है । जब हाथ चलाना बंद हो जाता है तो मुंह चलाना शुरू हो जाता है । फिर खानेवाले मुंह आदमीको ही खाने लगते हैं ।

हमें अपने दोनों हाथोंसे एक-सा काम करना चाहिए । पौनारमें कुछ लड़के कातने आते हैं । उनसे कहा, "बायें हाथसे कातना शुरू करो ।"

उन्होंने यहींसे कहना शुरू किया कि "हमारी मजदूरी कम हो जायगी। बायां हाथ दाहिनेकी बराबरी नहीं कर सकेगा।" मैंने कहा, "यह क्यों? दाहिने हाथमें अगर पांच अंगुलियां हैं तो बायें हाथमें भी तो हैं। फिर क्यों नहीं बराबरी कर सकेगा।" निदान, मैंने उनमेंसे एक लड़का चुन लिया और उससे कहा कि "बायें हाथसे कात।" उसे जितनी मजदूरी कम मिलेगी उतनी पूरी कर देनेका जिम्मा मैंने लिया। चौदह रोजमें वह साढ़े चार रुपया कमाता था। बायें हाथसे पहले पखवाड़ेमें ही उसे करीब तीन रुपये मिले। दूसरे पाखमें बायां हाथ दाहिनेकी बराबरी पर आ गया। एक रुपया मैंने अपनी गिरह से पूरा किया। लेकिन उससे सबकी आंख खुल गई। यह कितना बड़ा लाभ हुआ? मैंने लड़कोंसे पूछा, "क्यों लड़को, इसमें फायदा है कि नहीं?" वे कहने लगे, "हां, क्यों नहीं?" दाहिना हाथ भी तो आठ घंटे लगातार काम करनेमें धीरे-धीरे थकने लगता है। अगर दोनों हाथ तैयार हों तो अदल-बदल कर सकते हैं और थकावट बिल्कुल नहीं आती। अठाईस-के-अठाईसों लड़के बायें हाथका प्रयोग करनेके लिए तैयार हो गए।

शुरू-शुरूमें हाथमें थोड़ा दर्द होने लगता है। लेकिन यह सात्त्विक दर्द है। सात्त्विक सुख ऐसा ही होता है। अमृत भी शुरू-शुरूमें जरा कड़ुआ ही लगता है। पुराणोंका एकदम वह मीठा-ही-मीठा अमृत वास्तविक नहीं। अमृत अगर, जैसाकि गीतामें कहा है, सात्त्विक हो तो वह मीठा-ही-मीठा कैसे हो सकता है? गीतामें बताया हुआ सात्त्विक सुख तो प्रारंभमें कड़ुवा ही होता है। मेरी बात मानकर लड़कोंने तीन महीने तक सिर्फ बायें हाथसे कातनेका प्रयोग करनेका निश्चय किया। तीन महीने मानो दाहिने हाथको बिल्कुल भूल ही गये। यह कोई छोटी तपस्या नहीं हुई।

देहातमें निंदाका दोष काफी दिखलाई देता है। यह बात नहीं कि शहरके लोग इससे बरी हैं। लेकिन यहां मैं देहातके ही विषयमें कह रहा हूं। निंदा सिर्फ पीठ-पीछे जिंदा रहती है। उससे किसीका भी फायदा नहीं होता। जो निंदा करता है उसका मुंह खराब होता है और जिसकी निंदा की जाती है उसकी कोई उन्नति नहीं होती। मैं यह जानता तो था कि

देहातियोंमें निंदा करनेकी आदत होती है, लेकिन यह रोग इतने उग्र रूपमें फैल गया होगा, इसका मुझे पता न था। इधर कुछ दिनोंमें मैं सत्य और अहिंसाके बदले सत्य और अनिंदा कहने लगा हूं। हमारे संतोंकी बुद्धि बड़ी सूक्ष्म थी।। उसके वाङ्मयका रहस्य अब मेरी समझमें आया। वे देहातियोंसे भली-भांति परिचित थे, इसलिए उन्होंने जगह-जगह कहा है कि निंदा न करो, चुगली न खाओ। संतोंके लिए मेरे मनमें छुटपनसे ही भक्ति है। उनके किये हुए भक्ति और ज्ञानके वर्णन बड़े मीठे लगते थे। लेकिन मैं सोचता था कि 'निंदा मत करो' कहने में क्या बड़ी विशेषता है। उनकी नीति-विषयक कविताएं मैं पढ़ता तो था, लेकिन वे मुझे भाती न थीं। परस्त्री को माताके समान समझो, पराया माल न छुओ, और निंदा न करो——इतनेमें उनकी नैतिक शिक्षाकी पूंजी खत्म हो जाती थी। भक्ति और ज्ञानके साथ-साथ उसी श्रेणीमें वे इन चीजोंको भी रखते थे। यह मेरी समझमें न आता था। लेकिन अब खूब अच्छी तरह समझ गया हूं। निंदाका दुर्गुण उन्होंने लोगोंकी नस-नसमें पैठा हुआ देखा, इसलिए उन्होंने अनिंदापर बार-बार इतना जोर दिया और उसे बड़ा भारी सद्‌गुण बतलाया। कार्यकर्त्ताओंको यह शपथ ले लेनी चाहिए कि हम न तो निंदा करेंगे और न सुनेंगे। निंदामें अक्सर गलती और अत्युक्ति होती हैं। साहित्यमें अत्युक्ति भी एक अलंकार माना गया है। संसारको चौपट कर दिया है इन साहित्यवालोंने। वस्तु-स्थितिको तिगुना, दसगुना, बीसगुना बढ़ाकर बताना उनके मतसे अलंकार है। तो क्या जो चीज जैसी है उसे वैसी ही बताना अपनी नाक काटनेके समान है? कथाकार और प्रवचनकारकी अत्युक्तिका कोई ठिकाना ही नहीं। एकको सौगुना बढ़ानेका नाम अतिशयोक्ति है, ऐसी उसकी कोई नाप होती तो अतिशयोक्ति वस्तुस्थितिकी कल्पना कर सकते। लेकिन यहां तो कोई हिसाब ही नहीं है। वे एकका सौगुना नहीं करते, बल्कि शून्यको सौगुना बढ़ाते हैं। सुनता हूं, सौ अनंतका गुणा करनेसे कोई एक अंक आता है, लेकिन यह तो गणितज्ञ ही जाने।

तीसरी बात जो मैं आप लोगोंसे कहना चाहता हूं, वह है सचाई। हमारे कार्यकर्ताओंमें स्थूल अर्थमें सचाई है, सूक्ष्म अर्थमें नहीं। अगर मैं किसीसे कहूं कि तुम्हारे यहां सात बजे आऊंगा तो वह पांच ही बजेसे मुझे

लेनेके लिए मेरे यहां आकर बैठ जाता है, क्योंकि वह जानता है कि इस देशमें जो कोई किसी खास वक्त आनेका वादा करता है, वह उस वक्त आयेगा ही, इसका कोई नियम नहीं । इसलिए वह पहलेसे ही आकर बैठ जाता है ? सोचता है कि दूसरेके भरोसे काम नहीं बनता । इसलिए हमें हमेशा बिल्कुल ठीक बोलना चाहिए । किसी गांववालेसे आप कोई काम करनेके लिए कहिये तो वह कहेगा, 'जी हां' । लेकिन उसके दिलमें वह काम करना नहीं होता । हमें टालनेके लिए 'जी हां' कह देता है । उसका मतलब इतना ही रहता है कि अब ज्यादा तंग न कीजिए । 'जी हां' से उसका मतलब है कि यहांसे तशरीफ ले जाइए । उसके 'जी हां' में थोड़ा अहिंसाका भाव होता है । वह 'आगे बढ़िए' कहकर आपके दिलको चोट पहुंचाना नहीं चाहता । आपको वह ज्यादा तकलीफ नहीं देना चाहता, इसलिए 'जी हां' कहकर जान बचा लेता है ।

इसलिए कोई भी बात जो हम देहातियोंसे कराना चाहें वह उन्हें समझा भर देनी चाहिए । उनसे शपथ या व्रत नहीं लिवाना चाहिए । जबसे मैं देहातमें गया तबसे किसीसे किसी बातके विषयमें वचन लेनेसे मुझे चिढ़-सी हो गई है । अगर मुझसे कोई कहे भी कि मैं यह बात करूंगा तो मैं उससे यही कहूंगा कि "यह तुम्हें जंचती है न ? बस, तो इतना काफी है । वचन देनेकी जरूरत नहीं । तुमसे हो सके तो करो ।" लोगोंको उसकी उपयोगिता समझाकर संतोष मान लेना चाहिए, क्योंकि किसीसे कोई काम करनेका वचन लेनेके बाद उस कामके करानेकी जिम्मेदारी हमपर आ जाती है । अगर वह अपना वचन पूरा न करे तो हम अप्रत्यक्ष रूपसे झूठ बोलनेमें सहायता करते हैं । राजकोट-प्रकरण और क्या चीज है ? अगर कोई हमारे सामने किसी विषयमें वचन देदे और फिर उसे पूरा न करे दो उसमें हमारा भी अधःपतन होता है । इसलिए बापूको राजकोटमें इतना सारा प्रयास करना पड़ा । इसलिए वचन, नियम या व्रतमें किसीको बांधना नहीं चाहिए और अगर किसीसे वचन लेना ही पड़े तो वह वचन अपना समझकर उसे पूरा करानेकी सावधानी पहले रखनी चाहिए । उसे पूरा करनेमें हर तरहसे मदद करनी चाहिए । सचाईका यह गुण हमारे अंदर होना चाहिए ।

बाइबिलमें कहा है, "ईश्वरकी कसम न खाओ ।" आपके दिलमें 'हां' हो तो 'हां' कहिए और 'ना' हो तो 'ना' कहिए । लेकिन हमारे यहां तो राम-दुहाई भी काफी नहीं समझी जाती । कोई भी बात तीन बार वचन दिये बिना पक्की नहीं मानी जाती । सिर्फ 'हां' कहनेका अर्थ इतना ही है कि "आपकी बात समझमें आ गई । अब देखेंगे, विचार करेंगे ।" किसी मजबूत पत्थर पर एक-दो चोट लगाइए तो उसे पता भी नहीं चलता । दस-पांच मारिए, तब वह सोचने लगता है कि शायद कोई व्यायाम कर रहा है । पचास चोटें लगाइए तब कहीं उसे पता चलता है कि 'अरे, वह व्यायाम नहीं कर रहा है, यह तो मुझे फोड़ने जा रहा है ।" एक बार 'हां' कहनेका कोई अर्थ नहीं । दो बार कहनेपर वह सोचने लगता है कि मैंने 'हां' कर दी है । और जब तीसरी बार 'हां' कहता है तब उसके ध्यानमें आता है कि मैंने जान-बूझकर 'हां' कही है । कुलका अर्थ इतना ही है ही कि सूक्ष्मदृष्टिसे झूठ हमारी नस-नसमें भिद गया है । इसलिए कार्यकर्त्ताओंको अपने लिए यह नियम बना लेना चाहिए कि जो बात करना कबूल करें उसे करके ही दम लें । इसमें तनिक भी गलती न करें । दूसरे से कोई वचन न लें । उस झंझटमें न पड़ें ।

अब कार्यकर्त्ताओंसे कार्य-कुशलताके बारेमें दो-एक बातें कहना चाहता हूं । जब हम कार्य करने जाते हैं तो चालू पीढ़ीके बहुत पीछे पड़ते हैं । चालू पीढ़ीका तो विशेषण ही 'चालू' है । वह चलती चीज है । उसकी सेवा कीजिए लेकिन उसके पीछे न पड़िए । उसके शरीरके समान उसका मन और उसके विचार भी एक सांचेमें ढले हुए होते हैं । जो नई बात कहना हो वह नौजवानोंसे कहनी चाहिए । तरुणोंके विचार और विकार दोनों बलवान् होते हैं । इसलिए कुछ लोग उन्हें उच्छृंखल भी कहते हैं । इसमें सचाई इतनी ही है कि वे बलवान् और वेगवान् होते हैं । अगर उनके विचार बलवान् हो सकते हैं तो वैराग्य भी जबरदस्त हो सकता है । जैसे-जैसे उम्र बढ़ती है वैसे-वैसे विकारोंका शमन होता जाता है । मोटे हिसाबसे यह सच है । लेकिन इसका कोई भरोसा नहीं । यह कोई शास्त्र नहीं है । हमारी बात चालू पीढ़ीको अगर जंचे तो अच्छा ही है, और न जंचे तो भी कोई हानि नहीं । भावी पीढ़ीको हाथमें लेना चाहिए । युवक ही नए-नए कामोंमें हाथ डालते हैं,

बूढ़े नहीं। विकार किस तरह बढ़ते या घटते हैं, यह तो मैं नहीं जानता। लेकिन इतना तो मानना पड़ेगा कि वृद्धोंकी अपेक्षा तरुणोंमें आशा और हिम्मत ज्यादा होती है।

दूसरी बात यह है कि कार्य शुरू करते ही उसके फलकी आशा नहीं करनी चाहिए। पांच-दस साल काम करनेपर भी कोई फल न होता देखकर निराश न होना चाहिए। हिंदुस्तानके लोग हजार सालके बूढ़े हैं। जब किसी गांवमें कोई नया कार्यकर्त्ता जाता है तो वे सोचते हैं कि ऐसे तो कई देख चुके हैं। साधु-संत भी आये और चले गये। नया कार्यकर्ता कितने दिन टिकेगा, इसके विषयमें उन्हें संदेह होता रहता है। अगर एक-दो साल टिक गया तो वे सोचते हैं कि शायद टिक भी जाय। अनुभवी समाज है। वह प्रतीक्षा करता रहता है। अगर लोग अपनी या हमारी मृत्युतक भी राह देखते रहें तो कोई बड़ी बात नहीं।

ग्रामवासियोंसे 'समरस' होनेका ठीक-ठीक मतलब समझना चाहिए। उनका रंग हमपर भी चढ़ जाय, इसका नाम उनसे मिलना नहीं है। इस तरह मिलनेसे तद्रूपता आने लगती है। मेरे मतसे समाजके प्रति आदरका जितना महत्व है उतना परिचयका नहीं। समाजके साथ समरस होनेसे उसका लाभ ही होगा, अगर हम ऐसा मानें तो इसमें अहंकार है। हम कोई पारस पत्थर हैं कि हमारे केवल स्पर्शसे समाजकी उन्नति हो जायगी? केवल समाजसे समरस होनेसे काम होगा, यह माननेमें जड़ता है। रामदास कहते हैं, "मनुष्यको ज्ञानी और उदासीन होना चाहिए। समुदायको हौसला रखना चाहिए; लेकिन अखंड और स्थिर होकर एकांत-सेवन करना चाहिए।" वे कहते हैं कि, "कोई जल्दी नहीं है? शांतिसे अखंड एकांत-सेवन करो।" एकांत-सेवनसे आत्म-परीक्षणका मौका मिलता है। लोगोंसे किस हदतक संपर्क बढ़ाया जाय, यह ध्यानमें आता है, अन्यथा अपना निजी रंग न रहकर उसपर दूसरे रंग चढ़ने लगते हैं। कार्यकर्त्ता फिर देहातियोंके रंगका ही हो जाता है। उसके चित्तमें व्याकुलता पैदा होती है और वह ठीक होती है। फिर उसका जी चाहता है कि किसी वाचनालय या पुस्तकालयकी शरण लूं। एकाध बड़े आदमीके पास जाकर कहने लगता है कि मैं दो-चार महीने आपका सत्संग करना चाहता हूं। फिर वे महादेवजी और

ये नंद्दी, दोनों एक जगह रहने लगते हैं ! वह कहता है, "मैं बड़ा होकर खराब हुआ । अब तू मेरे पास रहता है । इसमें कोई लाभ नहीं ।" इसलिए समाजमें सेवाके लिए ही जाना चाहिए । बाकीका समय स्वाध्याय और आत्म-परीक्षणमें बिताना चाहिए । आत्म-परीक्षणके बिना उन्नति नहीं हो सकती । अपने स्वतंत्र समयमें हम अपना एकाध प्रयोग भी करें । कई कार्यकर्त्ता कहते हैं, "क्या करें, चिंतनके लिए समय ही नहीं मिलता । जरा बैठे नहीं कि कोई-न-कोई आया नहीं ।" जो आये उससे बोलनेमें समय बिताना सेवा नहीं है ! कार्यकर्त्ताको स्वाध्याय और चिंतनके लिए अलग समय रखना चाहिए । एकांत-सेवन करना चाहिए । यह भी देहातकी सेवा ही है ।

एक बात स्त्रियोंके संबंधमें । स्त्रियोंके लिए कोई काम करनेमें हम अपनी हतक समझते हैं । पौनारका ही उदाहरण लीजिए । व्याकरणके अनुसार जिनकी गणना पुल्लिंगमें हो सकती है ऐसा एक भी आदमी अपनी धोती आप नहीं फींचता । बापके कपड़े लड़की धोती है, और भाईके कपड़े बहनको धोने पड़ते हैं । मांकी साड़ी फींचनेमें भी हमें शर्म आती है, तो पत्नीकी साड़ी धोनेकी बात ही क्या ? अगर बिकट प्रसंग आ जाय तो कोई रिश्तेदारिन धो देती है । और वह भी न मिले तो पड़ोसिन यह काम करेगी । अगर वह भी न मिले और पत्नीकी साड़ी साफ करनेका मौका आ ही जाय, तो फिर वह काम शामको, कोई देख न पाये ऐसे इंतजामसे, चुपचाप, चोरीसे, कर लिया जाता है । यह हालत है ! और मेरा प्रस्ताव तो इससे बिल्कुल उलटा है । लेकिन अगर आप मेरी बातपर अमल करें तो आगे चलकर वे स्त्रियां ही आपके कपड़े बना देंगी, इसमें तनिक भी शंका नहीं । एक बार मैं खादीका एक स्वावलंबन-केंद्र देखने गया । दफ्तरमें कोई सत्तर-पचहत्तर स्वावलंबी खादी-धारियोंकी तालिका टंगी हुई थी । लेकिन उसमें एक भी स्त्री नहीं थी । यहां जो सभा हुई, उसमें मेरे कहनेसे खासकर स्त्रियां भी बुलाई गई थीं । मैंने पूछा, "यहां इतने स्वावलंबी खादीधारी पुरुष हैं तो क्या स्त्रियां न कातेंगी ? स्त्रियोंने जवाब दिया, "हम ही तो कातती हैं ।" तब मैंने खुद कातनेवाले पुरुषसे हाथ उठानेको कहा । कोई तीन-चार हाथ उठे । शेष सब स्त्रियों द्वारा काते गये सूतके जोरपर स्वावलंबी थे । इसलिए कहता हूं

कि फिलहाल उनके लिए महीन सूत कातिए। आगे चलकर वे ही आपके कपड़े तैयार कर देंगी। कम-सेकम खादी-यात्रामें पहननेके लिए एक साड़ी अगर आप उन्हें बना दें तो भी मैं संतोष मान लूंगा। अगर वे यहां आयंगी तो कम-से-कम हमारी बातें उनके कानोंतक पहुंचेंगी।

: २६ :

परशुराम

यह एक अद्भुत प्रयोगी लगभग पच्चीस हजार बरस पहले होगया हैं। यह कोंकणस्थोंका मूल पुरुष है। मांकी ओरसे क्षत्रिय और बापकी ओरसे ब्राह्मण। पिताकी आज्ञासे इसने मांका सिर ही काट डाला था। कोई पूछ सकते हैं, "यह कहांतक उपयुक्त था ?" लेकिन उसकी श्रद्धाको सशंकता छूतक नहीं गई थी। 'निष्ठासे प्रयोग करना और अनुभव से ज्ञान प्राप्त करना,' यही उसका सूत्र था।

परशुराम उस जमानेका सर्वोत्तम पुरुषार्थी व्यक्ति था। उसे दुखियोंके प्रति दया थी और अन्यायोंसे तीव्रतम चिढ़। उस समयके क्षत्रिय बहुत उन्मत्त हो गये थे। वे अपनेको जनताका रक्षक कहते थे। लेकिन व्यवहारमें तो उन्होंने कभीका 'र' को 'भ'में बदल दिया था। परशुरामने उन अन्यायी क्षत्रियोंका घोर प्रतिकार शुरू किया। जितने क्षत्रिय उसके हाथ आये, उन सबको उसने मार ही डाला। 'पृथ्वीको निःक्षत्रिय बनाकर छोड़ूंगा', यह उसने अपना विरद बना लिया था।

इसके लिए वह अपने पास हमेशा एक कुल्हाड़ी रखने लगा और कुल्हाड़ीसे रोज कम-से-कम एक क्षत्रियका सिर तो उड़ाना ही चाहिए, ऐसी उपासना उसने अपने ब्राह्मण अनुयायियोंमें जारी की। पृथ्वी निःक्षत्रिय करनेका यह प्रयोग उसने इक्कीस बार किया, लेकिन पुराने क्षत्रियोंको जानबूझकर खोज-खोजकर मारने और उनकी जगह अनजाने नये-नये क्षत्रियोंका निर्माण करनेकी प्रक्रियाका फलित भला क्या हो सकता था ?

आखिर रामचंद्रजीने उसकी आंखोंमें अंजन डाला। तबसे उसकी दृष्टि कुछ सुधरी।

तब उसने उस समयके कोंकणके घने जंगल तोड़-तोड़कर बस्तियां बसानेके रचनात्मक कार्यका उपक्रम किया। लेकिन उसके अनुयायियोंको कुल्हाड़ीके हिंसक प्रयोगका चस्का पड़ गया था। इसलिए उन्हें कुल्हाड़ीका अपेक्षाकृत अहिंसक प्रयोग फीका-सा लगने लगा। निर्धनको जिस प्रकार उसके सगे-संबंधी त्याग देते हैं, उसी प्रकार उसके अनुयायियोंने भी उसे छोड़ दिया।

लेकिन यह शिष्ठावान् महापुरुष अकेला ही वह काम करता रहा। ऐच्छिक दरिद्रताका कारण बननेवाले, आरण्यक प्रजाके आदि-सेवक भगवान् शंकरके ध्यानसे वह प्रतिदिन नई स्फूर्ति प्राप्त करने लगा और जंगल काटना, झोपड़ियां बनाना, वन्य पशुओंकी तरह एकाकी जीवन व्यतीत करनेवाले अपने मानव-बंधुओंको सामुदायिक साधना सिखाना—इन उद्योगोंमें उस स्फूर्तिसे काम लेने लगा। निष्ठावंत और निष्काम सेवा ज्यादा दिन एकाकी नहीं रहने पाती। परशुरामकी अदम्य सेवावृत्ति देख कोंकणके जंगलोंके वे वन्य निवासी पिघल गये और आखिर उन्होंने उनका अच्छा साथ दिया। अपने-आपको ब्राह्मण कहलानेवाले उसके पुराने अनुयायियोंने तो उसका साथ छोड़कर शहरोंकी पनाह ली थी, मगर उनके बदले ये नये अवर्ण अनुयायी उसे मिले। उसने उन्हें स्वच्छ आचार, स्वच्छ विचार और स्वच्छ उच्चारकी शिक्षा दी। एक दिन परशुरामने उनसे कहा, "भाइयों, आजसे तुम लोग ब्राह्मण हो गये।"

राम और परशुरामकी पहली भेंट धनुर्भंग-प्रसंगके बाद एक बार हुई थी। उसी वक्त उसे रामचंद्रजीसे जीवन-दृष्टि मिली थी। उसके बाद इतने दिनोंमें उन दोनोंकी भेंट कभी नहीं हुई थी। लेकिन अपने वनवासके दिनोंमें रामचंद्र पंचवटीमें आकर रहे थे। उनके वहांके निवासके आखिरी वर्षमें बागलाणकी तरफसे परशुराम उनसे मिलने आया था। वह जब पंचवटीके आश्रममें पहुंचा, उस समय रामचंद्र पौधोंको पानी दे रहे थे। परशुरामसे मिलकर रामचंद्र को बड़ा ही आनद हुआ। उन्होंने उस तपस्वी और वृद्ध पुरुषका साष्टांग प्रणाम-पूर्वक स्वागत किया और कुशल-प्रश्नादिके

बाद उसके कार्यक्रमके बारेमें पूछा। परशुरामने कुल्हाड़ीके अपने नये प्रयोगका सारा हाल रामचंद्रको सुनाया। वह सुन रामचंद्र ने उसका बड़ा गौरव किया। दूसरे दिन परशुराम वहांसे लौटा।

अपने मुकामपर वापस आते ही उसने उन नये ब्राह्मणोंको रामका सारा हाल सुनाया और बोला,

"रामचंद्र मेरा गुरु है। अपनी पहली ही भेंटमें उसने मुझे जो उपदेश दिया, उससे मेरी वृत्ति पलट गई और मैं तुम्हारी सेवा करने लगा। अबकी मुलाकातमें उसने मुझे शब्दों द्वारा कोई भी उपदेश नहीं दिया। लेकिन उसकी कृतिमेंसे मुझे उपदेश मिला है। वही मैं अब तुम लोगोंको सुनाता हूं।

"हम लोग जंगल काट-काटकर बस्ती बसानेका जो कार्य कर रहे हैं, वह बेशक उपयोगी कार्य है। लेकिन इसकी भी मर्यादा है। उस मर्यादाको न जानकर हम अगर पेड़ काटते ही रहेंगे, तो वह एक बड़ी भारी हिंसा होगी। और कोई भी हिंसा अपने कर्त्तापर उलटे बिना नहीं रहती, यह तो मेरा अनुभव है। इसलिए अब हम पेड़ काटनेका काम खत्म करें। आजतक जितना कुछ किया, सो ठीक ही किया; क्योंकि उसकी बदौलत पहले जो 'अ-सह्याद्रि' था, वह अब 'सह्याद्रि' बन गया है। लेकिन अब हमें जीवनोपयोगी वृक्षोंके रक्षणका काम भी अपने हाथमें लेना चाहिए।"

यह कहकर उसने उन्हें आम, केले, नारियल, काजू, कटहल, अनन्नास, आदि छोटे-बड़े फलके वृक्षोंके संगोपनकी विधि सिखाई। उसे इसके लिए स्वयं वनस्पति-संवर्धन-शास्त्रका अध्ययन करना पड़ा और उसने अपने हमेशाके उत्साहसे उस शास्त्रका अध्ययन किया भी। उसने उस शास्त्रमें कई महत्वपूर्ण शोध भी किये। पेड़ोंको मनोज्ञ आकार देनेके लिए उन्हें व्यवस्थित काटने-छांटनेकी जरूरत महसूसकर उसने उसके लिए छोटेसे औजारका आविष्कार किया। इस औजारको 'नव-परशु'का नाम देकर उसने अपनी परशु-उपासना अखंड जारी रखी।

एक बार उसने समुद्रतटपर नारियलके पेड़ लगानेका एक सामुदायिक समारोह सम्पन्न किया। उस अवसरसे लाभ उठाकर उसने वहां आये हुए लोगोंके सामने अपने जीवनके सारे प्रयोगों और अनुभवोंका

सार उपस्थित किया । सामने पूरे ज्वारमें समुद्र गरज रहा था । उसकी तरफ इशारा करके समुद्रवत् गंभीर ध्वनिमें उसने बोलना आरंभ किया—

"भाइयो, यह समुद्र हमें क्या सिखा रहा है, इसपर ध्यान दीजिए। इतना प्रचंड शक्तिशाली है यह; परंतु अपने परम उत्कर्षके समय भी यह अपनी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करता । इसलिए इसकी शक्ति हमेशा ज्यों-की-त्यों रही है । मैंने अपने सारे उद्योगों और प्रयोगोंमेंसे यही निष्कर्ष निकाला है । छुटपनमें मैंने पिताकी आज्ञासे अपनी माताकी हत्या की। लोग कहने लगे, 'कैसा मातृ-हत्यारा है !' मैं उस आक्षेपको स्वीकार करनेको तैयार नहीं था । मैं कहा करता, 'आत्मा अमर है और शरीर मिथ्या है । कौन किसे मारता है ? मैं मातृ-हत्यारा नहीं हूं, प्रत्युत पितृ-भक्त हूं ।'

"लेकिन आज मैं अपनी गलती महसूस करता हूं । मातृवधका आरोप मुझे उस वक्त स्वीकार नहीं था, और आज भी नहीं है । लेकिन मेरे ध्यानमें यह बात नहीं आई थी कि पितृभक्तिकी भी मर्यादा होती है । यही मेरा वास्तविक दोष था । लोग अगर अचूक उतना ही दोष बताते तो उससे मेरी विचार-शुद्धि हुई होती । लेकिन उन्होंने भी मर्यादाका अतिक्रमण करके मुझपर आक्षेप किया और उससे मेरी विचार-शुद्धिमें कोई सहायता नहीं पहुंची ।

"बादमें बड़ा होनेपर न्यायके प्रतिकारका व्रत लेकर मैं जुल्मी सत्तासे इक्कीस बार लड़ा । हर बार मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि मैं सफल हो गया हूं; लेकिन प्रत्येक बार मुझे निश्चित असफलता ही नसीब हुई । राम-चंद्रने मेरी गलती मुझे समझा दी ।

"अन्याय-प्रतिकार मनुष्यका धर्म तो है; लेकिन उसकी भी एक शास्त्रीय मर्यादा है, यह ज्ञान मुझे गुरु-कृपाकी बदौलत प्राप्त हुआ ।

"इसके उपरांत मैं जंगल काटकर मानव-उपनिवेश बसानेके, मानव-सेवाके कार्यमें जुट गया; लेकिन आप जानते ही हैं कि जंगल काटनेकी भी एक हद होती है, उस बातका ज्ञान मुझे ठीक समयपर कैसे हुआ ?

"अबतक मैं निरंतर प्रवृत्तिका ही आचरण करता रहा । पर आखिर

प्रवृत्तिकी भी मर्यादा तो है ही न ? इसलिए अब मैं निवृत्त होनेकी सोच रहा हूं । इसके मानी यह नहीं हैं कि मैं कर्म ही त्याग दूंगा । स्वतंत्र नई प्रवृत्तिका आरंभ अब नहीं करूंगा । प्रवाह-पतित करता रहूंगा । प्रसंगवश आप पूछेंगे तब, सलाह भी देता रहूंगा ।

"इसीलिए मैंने आज जानबूझकर इस समारोहका आयोजन किया और अपना यह 'समुद्रोपनिषत्' या 'जीवनोपनिषत्', चाहे जो कह लीजिए, आपसे निवेदन किया है । फिर-से थोड़ेमें कहता हूं--पितृ-भक्तिकी मर्यादा, प्रतिकारकी मर्यादा, मानव-सेवाकी मर्यादा--सारांश, सभी प्रवृत्तियोंकी मर्यादा--यही मेरा जीवनसार है । आओ, एक बार सब मिलकर कहें, "ॐ नमो भगवत्यै मर्यादायै ।"

इतना कहकर परशुराम शांत हो गया । उसके उपदेशकी यह गंभीर प्रतिध्वनि सह्याद्रिकी खोह-कंदराओंमें आज भी गूंजती हुई सुनाई देती है ।

नागपूर-जेल, १९४१

: ३० :

राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

आजकल खादीका कार्य हमने श्रद्धासे किया है । अब श्रद्धाके साथ-साथ विचारपूर्वक करनेका समय आ गया है । खादीवाले ही यह समय लाये हैं; क्योंकि उन्होंने ही खादीकी दर बढ़ाई है ।

सन् १९३० में हमने सत्रह आने गज खरीदी थी । मगर सस्ती करनेके इरादेसे दर कम करते-करते चार आने गज पड़ने लगी । चारों ओर "यंत्र-युग" होनेके कारण कार्यकर्त्ताओंने मिलके भाव दृष्टिमें रखकर धीरे-धीरे कुशलतापूर्वक उसे सस्ता किया । इस हेतुकी सिद्धिके लिए जहां गरीबी थी उन स्थानोंमें कम-से-कम मजदूरी देकर खादी उत्पत्तिका कार्य चलाना पड़ा । लेनेवालोंने भी ऐसी खादी इसलिए ली की वह सस्ती थी । मध्यम-वर्गके लोग कहने लगे--अब खादीका इस्तेमाल किया जा सकता है, क्योंकि

उसके भाव मिलके कपड़ेके बराबर हो गये हैं, वह टिकाऊ भी काफी है और महंगी भी नहीं है। अर्थात्, 'थुड़मुली और घनुदुधी' इस कहावतके अनुसार खादीरूपी गाय लोगोंको चाहिए थी। उन्हें वह वैसी मिल गई और वे मानने लगे कि खादी इस्तेमाल करके हम महान् देश-सेवा कर रहे हैं।

यह बात तो गांधीजीने सामने रखी है कि अब मजदूरोंको अधिक मजदूरी दी जाय, उन्हें रोजाना आठ आने मिलने चाहिए। क्या यह भी लालबुझक्कड़की बकवास है या उनकी बुद्धि सठिया गई है? या उनके कहनेमें कुछ सार भी है? इसपर हमें विचार करना चाहिए। हम अभी साठके अंदर ही हैं, संसारसे अभी ऊब नहीं गये हैं, दुनियामें अभी हमें रहना है। यदि यह विचार हमें नहीं जंचते तो यह समझकर हम उन्हें छोड़ सकते हैं कि यह खब्ती लोगोंकी सनक है। सच बात तो यह है कि जबसे खादीकी मजदूरी बढ़ी तबसे मुझमें मानो नई जान आ गई। पहले भी मैं यही काम करता था। मैं व्यवस्थित कातनेवाला हूं। उत्तम पूनी और निर्दोष चरखा काममें लाता हूं। कातते समय मेरा सूत टूटता नहीं, यह आपने अभी देखा ही है। मैं श्रद्धापूर्वक, ध्यानपूर्वक कातता हूं। आठ घंटे इस तरह काम करनेपर भी मेरी मजदूरी सवा दो आने पड़ती थी। रीढ़में दर्द होने लगता था। लगातार आठ घंटे काम करता था, मौनपूर्वक कातता था, एक बार पालथी जमाई कि चार घंटे उसी आसनमें कातता रहता। तो भी मैं सवा दो आने ही कमा सकता था। सारे राष्ट्रमें इसका प्रचार कैसे हो, इसका विचार मैं करता रहता था। यह मजदूरी बढ़ गई, इससे मुझे आनंद हुआ, कारण मैं भी एक मजदूर ही हूं। "घायलकी गति घायल जानै।"

मेरे हाथके सूतकी धोती पांच रुपयेकी हो, तब भी धनी लोग बारह रुपये में खरीदनेको तैयार हैं। कहते हैं, "यह आपके सूतकी है, इसलिए हम इसे लेते हैं।" ऐसा क्यों? मैं मजदूरोंका प्रतिनिधि हूं। जो मजदूरी मुझे देते हो वही उन्हें भी दो। ऐसी परिस्थितिमें मुझे यही चिंता हो गई है कि इतनी सस्ती खादी कैसे जीवित रह सकेगी। अब मेरी यह चिंता दूर हो गई है। पहले कातनेवाले चिंतित रहते थे कि खादी कैसे टिकेगी। आज वैसी ही चिंता पहननेवालोंको मालूम हो रही है।

संसारमें तीन प्रकारके मनुष्य होते हैं—(१) काश्तकार, (२) दूसरे धंधे करनेवाले और (३) कुछ भी धंधा न करनेवाले, जैसे बूढ़े, रोगी, बच्चे, बेकार वगैरा। अर्थशास्त्रका—सच्चे अर्थशास्त्रका—यह नियम है कि इन तीनों वर्गोंमें जो ईमानदार हैं उन सबको पेटभर अन्न, वस्त्र और आश्रयकी आवश्यक सुविधा होनी चाहिए। कुटुंब भी इसी तत्त्वपर चलता है। जैसा कुटुंबमें वैसा ही समस्त राष्ट्रमें होना चाहिए। इसीका नाम है 'राष्ट्रीय अर्थशास्त्र'—सच्चा अर्थशास्त्र। इस अर्थशास्त्रमें सब ईमानदार आदमियोंके लिए पूरी सुविधा होनी चाहिए। आलसी यानी गैर-ईमानदार लोगोंके पोषणका भार राष्ट्रके ऊपर नहीं हो सकता।

इंग्लैंड-सरीखे देशोंमें (जो यंत्र-सामग्रीसे संपन्न हैं) दूसरे देशोंकी संपत्ति बहकर आती है, सब बाजार खुले हुए हैं, नाना प्रकारकी सुविधाएं प्राप्त हैं, तो भी वहां बेकारी है। ऐसा क्यों? इसका कारण है यंत्र। इस बेकारीके कारण प्रतिवर्ष बेकारोंको भिक्षा (डोल) देनी पड़ती है। ऐसे २०-२५ लाख बेकारोंको मजदूरी न देकर अन्न देना पड़ता है। आप कहते हैं कि भिखारियोंको काम किये बगैर अन्न न दो, पर वहां अन्नदानका रिवाज चालू है। इन लोगोंको काम दीजिए। इन्हें काम देना कर्त्तव्य है। 'काम दो, नहीं तो खानेको दो', यह नीति इंग्लैंडमें है तो सारे संसारमें क्यों न हो? यहां भी उसे लागू कीजिए। पर यहां लागू करनेपर काम न देकर १।। करोड़ लोगोंको अन्न देना पड़ेगा। यहां कम-से-कम १।। करोड़ मनुष्य ऐसे निकलेंगे। यह मैं हिसाब देखकर कह रहा हूं। इतने लोगोंको अन्न कैसे दिया जा सकेगा? नहीं दिया जा सकता—मनमें ठान लिया जाय तो भी नहीं दिया जा सकता। उधर, चूंकि इंग्लैंडवाले दूसरे देशोंकी संपत्ति लूट लाते हैं, इसलिए वे ऐसा कर सकते हैं। ईमानदारीसे राज करना हो तो ऐसा करना संभव नहीं हो सकता।

हिंदुस्तान कृषि-प्रधान देश है, तो भी यहां ऐसा धंधा नहीं जो कृषिके साथ-साथ किया जा सके। जिस देशमें केवल खेती होती है, वह राष्ट्र दुर्बल समझा जाता है। यहां हिंदुस्तानमें तो ७५ प्रतिशतसे भी ज्यादा काश्तकार हैं। यहांकी जमीनपर कम-से-कम दस हज़ार बरससे काश्त की जाती है। अमेरिका हिंदुस्तानसे तिगुना बड़ा मुल्क है, पर आबादी वहांकी

सिर्फ १२ करोड़ है। जमीनकी काश्त केवल ४०० वर्ष पूर्वसे हो रही है। इसलिए वहांकी जमीन उपजाऊ है और वह देश समृद्ध है। अपने राष्ट्रके काश्तकारोंके हाथमें और भी धंधे दिये जायं तभी वह सम्हल सकेगा। काश्तकार, यानी (१) खेती करनेवाला, (२) गोपालन करनेवाला और (३) धुनकर कातनेवाला। काश्तकारकी यह व्याख्या की जाय तभी हिंदुस्तानमें काश्तकारी टिक सकेगी।

सारांश, यह वर्त्तमान परिपाटी बदलनी ही पड़ेगी। बहुत लोग दुःख प्रकट करते हैं कि खादीका प्रचार जितना होना चाहिए उतना नहीं होता। इसमें दुःख नहीं, आनंद है। खादी बीड़ीके बंडल अथवा लिप्टनकी चाय नहीं है। खादी एक विचार है। आग लगानेको कहें तो देर नहीं लगती, पर यदि गांव बसानेको कहें तो इसमें कितना समय लगेगा, इसका भी विचार कीजिए। खादी निर्माण का काम है, विध्वंसका नहीं। यह विचार अंग्रेजोंके विचारका शत्रु है। तब खादीकी प्रगति धीमी है, इसका दुःख नहीं, यह तो सद्भाग्य ही है। पहले अपना राज था तब खादी थी ही; पर उस खादीमें और आजकी खादीमें अंतर है। आजकी खादीमें जो विचार है, वह उस समय नहीं था। आज हम खादी पहनते हैं, इसके क्या मानी हैं? यह हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि आजकी खादीका अर्थ है सारे संसारमें चलते हुए प्रवाहके विरुद्ध जाना। यह पानीके प्रवाहके ऊपर चढ़ना है। इसलिए जब हम यह बहुत-सा प्रतिकूल प्रवाह—प्रतिकूल समय—जीत सकेंगे, तभी खादी आगे बढ़ सकेगी। "इस प्रतिकूल समयका संहार करनेवाली मैं हूं", यह वह कह सकेगी। "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः" ऐसा अपना विराट् रूप वह दिखलायेगी। इसलिए खादीकी यदि मिलके कपड़े से तुलना की गई तो समझ लीजिए कि वह मिट गई, मर गई। इसके विपरीत उसे ऐसा कहना चाहिए कि "मैं मिलकी तुलनामें सस्ती नहीं, महंगी हूं। मैं बड़े मोलकी हूं। जो-जो विचारशील मनुष्य हैं, मैं उन्हें अलंकृत करती हूं। मैं सिर्फ शरीर ढांपने-भरको नहीं आई, मैं तो आपका मन हरण करने आई हूं।" ऐसी खादी यकायक कैसे प्रसूत होगी? वह धीरे-धीरे ही आगे जायगी और जायगी तो पक्के तौरसे जायगी। खादीके प्रचलित विचारों की विरोधिनी होनेके कारण उसे पहननेवालोंकी गणना पागलोंमें होगी।

मैंने अभी जो तीन वर्ग बताये हैं—काश्तकार, अन्य धंधा करनेवाले और जिनके पास धंधा नहीं—उन सभी ईमानदार मनुष्योंको हमें अन्न देना है। इसे करनेके लिए तीन शर्तें हैं। एक तो सर्वप्रथम काश्तकारकी व्याख्या बदलिए। (१) खेती, (२) गो-रक्षण और (३) कातनेका काम करनेवाले, ये सब काश्तकार हैं—काश्तकारकी ऐसी व्याख्या करनी चाहिए। अन्न, वस्त्र, बैल, गाय दूध इन वस्तुओंके विषयमें काश्तकारको स्वावलंबी होना चाहिए। यह एक शर्त हुई। दूसरी शर्त है कि जो वस्तुएं काश्तकार तैयार करें, वे सब दूसरोंको महंगी खरीदनी चाहिए। तीसरी बात यह है कि इनके सिवाय बाकीकी चीजें जो काश्तकारको लेनी हों वे उसे सस्ती मिलनी चाहिए। अन्न-वस्त्र, दूध ये वस्तुएं महंगी, पर घड़ी, गिलास-जैसी वस्तुएं सस्ती होनी चाहिए। वास्तवमें दूध महंगा होना चाहिए, जो है सस्ता, और गिलास सस्ते होने चाहिए जो हैं महंगे। यह आजकी स्थिति है। आपको यह विचार रूढ़ करना चाहिए कि अच्छे-से-अच्छे गिलास सस्ते और मध्यम दूध भी महंगा होना चाहिए। इस प्रकारका अर्थशास्त्र आपको तैयार करना चाहिए। खादी, दूध और अनाज सस्ता होते हुए क्या राष्ट्र सुखी हो सकेगा? इने-गिने कुछ ही नौकरोंको नियमित रूपसे अच्छी तनख्वाह मिलती है, उनकी बात छोड़िए। जिस राष्ट्रमें ७५ प्रतिशत काश्तकार हों, उसमें यदि ये वस्तुएं सस्ती हुईं तो वह राष्ट्र कैसे सुखी होगा? उसे सुखी बनानेके लिए खादी, दूध, अनाज ये काश्तकारोंकी चीजें महंगी और बाकीकी चीजें सस्ती होनी चाहिए।

मुझसे लोग कहते हैं, "तुम्हारे ये सब विचार प्रतिगामी हैं। इस बीसवीं सदीमें तुम गांधीवाले लोग यंत्र-विरोध कर रहे हो।" पर मैं कहता हूं कि क्या आप हमारे मन की बात जानते हैं? हम सब यंत्र-विरोधी हैं, यह आपने कैसे समझ लिया? मैं कहता हूं कि हम यंत्रवाले ही हैं। एकदम आप हमें समझ सकें, यह बात इतनी सरल नहीं है। हम तो आपको भी हजम कर जानेवाले हैं। मैं कहता हूं कि आपने यंत्रोंका आविष्कार किया है न? हमें भी वे मान्य हैं। काश्तकारोंकी वस्तुएं छोड़कर बाकीकी वस्तुएं आप सस्ती कीजिए। अपनी यंत्रविद्या काश्तकारोंके धंधोंके अलावा दूसरे धंधोंपर चलाइए और वे सारी वस्तुएं सस्ती होने दीजिए। पर आज होता है उल्टा।

काश्तकारोंकी वस्तुएं सस्ती, पर इतने यंत्र होते हुए भी यंत्रकी सारी वस्तुएं महंगी ! मैं खादीवाला हूं, तो भी यह नहीं कहता कि चकमकसे आग पैदा कर लो । मुझे भी दियासलाई चाहिए । काश्तकारोंको एक पैसेमें पांच डिबिया क्यों नहीं देते ? आप कहते हैं कि हमने बिजली तैयार की और वह गांववालोंको चाहिए । तो दीजिए न आध आनेमें महीने भर ! आप खुशीसे यंत्र निकालिए, पर उनका वैसा उपयोग होना चाहिए, जैसा मैं कहता हूं । केले चार आने दर्जन होने चाहिए और आपके यंत्रोंकी बनी वस्तुएं पैसे-दो-पैसेमें मिलनी चाहिए । मक्खन दो रुपये सेर आपको काश्त-कारोंसे खरीदना चाहिए । यदि आप कहें कि हमें यह जंचता नहीं, तो काश्तकार भी कह दें कि हम अपनी चीजें खाते हैं, हमारे खानेके बाद बचेंगी तो आपको देंगे । मुझे बताइए, कौन-सा काश्तकार इसका विरोध करेगा ?

इसलिए यह खादीका विचार समझ लेना चाहिए । बहुतोंके सामने यह समस्या है कि खादी महंगी हुई तो क्या होगा ? पर किनका ? किसानों-को खादी खरीदनी नहीं, बेचनी है । इसलिए उनके लिए खादी महंगी नहीं, वह उन्हें दूसरोंको महंगी बेचनी है ।

: ३१ :

खादी और गादीकी लड़ाई

सोनेगांवकी खादी-यात्रामें शिष्ट लोगोंके लिए खादी (गद्दी) बिछाई गई थी । 'शिष्ट' की जगह चाहे 'विशिष्ट' कह लीजिए, क्योंकि वहां जो दूसरे लोग आये थे वे भी शिष्ट तो थे ही । उस मौकेपर मुझे कहना पड़ा था कि खादी और गादीकी अनबन है, दोनोंकी लड़ाई है और अगर इस लड़ाईमें गादीकी ही जीत होनेवाली हो तो हम खादीको छोड़ दें ।

लोग कहते हैं, 'खादीकी भी तो गादी बन सकती है ?' हां, बन क्यों नहीं सकती ? अंगूरसे भी शराब बन सकती है । लेकिन बनानी नहीं चाहिए और बनानेपर उसे अंगूरमें शुमार न करना ही उचित है ।

हमें ध्यान देना चाहिए भावार्थकी तरफ । बीमार, कमजोर और बूढ़ोंके लिए गादीका इंतजाम किया जाय तो बात और है । लेकिन जो शिष्ट समझे जाते हैं उनमें और दूसरोंमें फर्क करके उनके लिए भेद-दर्शक गद्दी-तकियेका आसन लगाना बिल्कुल दूसरी ही चीज है । इस दूसरी तरहकी गादी और खादीमें विरोध है ।

वास्तवमें तो जो गादी हमेशा आलसी लोगों और खटमलोंकी सोहबत करती है उसे शिष्ट जनोंके लिए बिछाना उनका आदर नहीं, बल्कि अनादर करना है । लेकिन दुर्भाग्यवश शिष्ट लोग भी इसमें अपना अपमान नहीं समझते । हमने तो यहांतक कमाल कर दिया कि शंकराचार्यकी भी गद्दी बनानेसे बाज नहीं आये ! शंकराचार्य तो कह गये—"कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः"—लंगोटिये ही सबसे बड़भागी हैं । और किसीको यह बात चाहे जंचे या न जंचे, कम-से-कम आचार्यके भक्तोंको तो जंचनी ही चाहिए ।

राष्ट्र ऊपर उठते हैं और गिरते हैं । लेकिन आलस्य, विलासिता और जड़ता कभी ऊपर उठती ही नहीं । शिवाजी महाराज कहा करते थे कि "हम तो धर्मके लिए फकीर बने हैं ।" लेकिन पेशवा तो पानीपतकी लड़ाई के लिए भी सकुटुंब, सपरिवार गये, मानो किसी बरातमें जा रहे हों और वहांसे कार्यसिद्धिसे हाथ धोकर अपना-सा मुंह लेकर लौटे । गिबनने कहा है—"रोम चढ़ा कैसे ?" "सादगीसे", "रोम गिरा कैसे ?" "भोग-विलाससे ।"

कुछ साल पहले, असहयोगके आरंभकालमें, देशके युवकों और बूढ़ोंमें, पुरुषों और स्त्रियोंमें, त्यागवृत्ति और वीरताका संचार होने लगा था । सत्रह-सत्रह आने गजवाली खादी—टाट-जैसी मोटी—लोग बड़े अभिमानसे बेचते थे और खरीदनेवाले भी अभिमानसे खरीदते थे । आगे चलकर धीरे-धीरे हम खादीका कुछ और ही ढंगसे गुणगान करने लगे । खादी बेचनेवाले गर्वसे कहने लगे, "देखिए, अब खादीमें कितनी तरक्की होगई है । बिल्कुल अप-टू-डेट—अद्यतन—पोशाक, विलासी, भड़कीली, महीन, जैसी आप चाहें खादीकी बनवा लीजिए । और सो भी पहलेकी अपेक्षा कितने सस्ते दामोंमें !" खरीदार भी कहने लगे, "खादीकी प्रतिष्ठा इसी

तरह दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़े और एक दिन वह मिलके कपड़ेकी पूरी-पूरी बराबरी करे।" लेकिन उनकी समझमें यह मोटी-सी बात न आती थी कि यदि खादीको मिलके कपड़ेकी ही बराबरी करनी है तो फिर खादीकी जरूरत ही किसलिए है ? मिल ही क्या बुरी हैं ? वैद्य अपनी दवाईकी तारीफ करने लगा, "बिल्कुल सस्ती दवाई है, न पहहेज की जरूरत न पथ्यकी।" मरीज आ गया चकमेमें। लेकिन बेचारा यह भूल गया कि 'पथ्य-परहेज नहीं तो फायदा भी नहीं।'

कोई गलत अर्थ न समझे। कहनेका यह मतलब कतई नहीं है कि मजदूरोंको पूरी-पूरी मजदूरी देकर खादी सस्ती करना हमारा कर्त्तव्य नहीं है। यह भी कोई नहीं कहता कि खादी सब लोगोंकी सब तरहकी जरूरतें पूरी न करे। प्रश्न केवल इतना ही है कि खादीका गौरव किस बातमें है ? किसीकी आंखें बिगड़ गई हों तो उसे ऐनक जरूर देनी चाहिए। लेकिन ऐनकधारीको देख उसे 'पद्मलोचन' कहकर उसकी बड़ाई तो नहीं की जा सकती।

यहां एक प्रसंग सहज ही याद आ रहा है। एक रसिक दृष्टिवाला कलाधर एक बार पंढरपुर जाकर विठोबाके दर्शन कर आया। मुझसे कहने लगा "विठोबाके सारे भक्त उनके रूपकी प्रशंसा करते नहीं अघाते; उनके उद्‌घोष (स्लोगंस) सुन-सुनकर तो जी ऊब गया। लेकिन मुझे तो उस मूर्तिको देखकर कहीं भी सुंदरताका खयाल नहीं आया। एक निरा बेडौल पत्थर नजर आया। मूर्त्तिकार और भक्तगण दोनों, मुझे तो ऐसा लगता है कि, यदृच्छालाभसे ही संतुष्ट हो गये। पंचतंत्रवाले किस्सेमें जिस तरह उन तीन धूर्तोंने सिर्फ बार-बार कह-कहकर बकरेको कुत्ता बना दिया, ठीक उसी तरह इन लोगोंने चिल्ला-चिल्लाकर एक बेडौल पत्थरमें सुंदरता निर्माण करनेकी ठान ली है।" मैंने जवाब दिया, "हां, यही बात है। इस संसारकी भीमा नदीमें गोते खानेवालोंको उबारनेका जिसने प्रण किया है उसे तो मजबूत, दृढ़, ठोस और हट्टा-कट्टा ही होना चाहए। वह यदि शेष-शय्यापर लेटनेवाले या पंचायतनका ठाट जमाकर तसवीर खिंचनेवाले के लिए आसन लगानेवाले देवताकी सुंदरताका अनुकरण करे तो क्या यह उसे शोभा देगी ?" रामदासने सिखाया है—"मनुष्यके अंतरंगका शृंगार है चातुर्य,

वस्त्र तो केवल बाहरी सजावट है । दोनोंमें कौन-सा श्रेष्ठ है, इसका विचार करो ।" इसीलिए शिवाजीको हट्टे-कट्टे मावलों-जैसे साथी मिले ।

मेरा समाजवादी दोस्त कहेगा, "तुम तो बस वही अपना पुराना राग अलापने लगे । बस, फिर उसी दरिद्रनारायणकी पूजामें मगन हो गये ! यहां दरिद्रताके पुजारी नहीं हैं । अपने राम तो वैभवके आराधक हैं ।" मैं उससे कहना चाहता हूं, "मेरे दोस्त, इस तरह अक्लके पीछे लट्ठ लेकर मत पड़ो । हम कब दारिद्र्यको नारायण कहते हैं ? हम तो 'दरिद्र' को नारायणके नामसे पुकारते हैं । और 'दरिद्र' को नारायण नाम दिया, इसका यह मतलब थोड़े ही है कि धनिक 'नारायण' नहीं हो सकता ? यदि मैं कहूं कि 'मैं ब्रह्म हूं' तो इसका यह अर्थ थोड़े ही है कि 'तुम ब्रह्म नहीं हो ?' बस, अब तो संतोष हुआ ? दरिद्र भी नारायण है और श्रीमान् भी । दरिद्र-नारायणकी पूजा उसकी दरिद्रता दूर करने से पूरी होती है और श्रीमन्नारायण-की पूजा उसे सच्चे ऐश्वर्यका अर्थ समझाकर उसका त्याग करवानेसे होती है और जब किसी मूर्ख-नारायणसे पाला पड़े तो उसकी पूजा इस प्रकार विश्लेषण करके समझानेसे होती है ! क्यों, ठीक है न ?"

लेकिन, इस यथार्थ विनोदको जाने दीजिए । अगर समाजवादी दोस्तको वैराग्य नहीं सुहाता तो वैभव ही सही । वैभव किसे कहना चाहिए और वह कैसे प्राप्त किया जाता है, इन बातोंको भी रहने दीजिए । लेकिन समाजवादी कम-से-कम साम्यवादी तो है न ? इन दो-चार आदमियोंको नरम-नरम गादी मिले और बाकी सबको टाटके चीथड़े या धूल नसीब हो, वह तो उसे नहीं भाता न ? जब मैंने खादी और गादीकी लड़ाईकी बात छेड़ी तो मेरे मनमें यह अर्थ भी तो था ही । सब लोगोंके लिए गादी लगाई गई होती तो दूसरा ही सवाल खड़ा होता । लेकिन यह मुमकिन नहीं था । और मुमकिन नहीं था, इसीलिए मुनासिब भी नहीं था, यह ध्यानमें आना जरूरी था ।

आजकल हमारे कुछ दोस्तोंमें एक ओर साम्यवाद और दूसरी ओर विषम व्यवहारका बड़ा जोर है । साम्यवाद और विषम व्यवहार बड़े आनंदसे साथ-साथ चल रहे हैं । फैजपुरके बाद हरिपुराकी कांग्रेसने विषमता-की दिशामें एक कदम और आगे बढ़ाया । अध्यक्ष, विशिष्ट पुरुष, बड़े नेता,

छोटे नेता, प्रतिनिधि, माननीय दर्शकगण और देहाती जनता—इन सबके लिए वहां दर्जेवार प्रबंध किया गया था। गांधीजीके लिए यह दारुण दुःखका विषय था, यह बात जाहिर हो चुकी है। यह विषम व्यवहार खास मौकोंपर ही होता हो, सो बात भी नहीं। हमारे जीवन और मनमें उसने घर कर लिया है। "मजदूरोंको पूरा-पूरा वेतन दिया जाना चाहिए या नहीं", इस विषयपर बहस हो सकती है; पर, "व्यवस्थापकोंको पूरा वेतन दिया जाय या नहीं," इसकी बहस कोई नहीं छेड़ता। जिन्हें हम देहातकी सेवाके लिए भेजते हैं उन्हें अपना रहन-सहन ग्राम-जीवनके अनुकूल बनानेकी हिदायत देते हैं। उन्हें देहातमें भेजने और हिदायतें देनेको तो हम तैयार रहते हैं, लेकिन हमें इस बातकी क्या तनिक भी अनुभूति नहीं होती कि स्वयं हमको भी अपनी हिदायतोंके अनुसार चलनेकी कोशिश करनी चाहिए। साम्यकी भेदसे दुश्मनी है, लेकिन विवेकसे तो नहीं है? इसीलिए बूढ़ोंके लिए गादी हमने मंजूर कर ली है। इसी तरह देहातकी सेवाके लिए जानेवाले युवक कार्यकर्त्ता और उन्हें वहां भेजनेवाले बुजुर्ग नेताओंके जीवनमें थोड़ा-बहुत फर्क होना न्याय-संगत है और विवेक उसे मंजूर करेगा। इसीलिए साम्य-सिद्धांतोंकी भी उसके खिलाफ कोई शिकायत नहीं रहेगी। लेकिन आज जो फर्क पाया जाता है वह थोड़ा-बहुत नहीं है। अक्सर वह बहुत मोटा, नजरमें सहज ही आनेवाला ही नहीं, बल्कि चुभनेवाला होता है। इस विषम वैभवका नाम गादी है और इस गादी से खादीकी दुश्मनी और लड़ाई है।

हालही में आश्रममें एक बातकी चर्चा हो रही थी। आश्रमकी आबादी बढ़ रही है, इसीलिए अब नई जगह मोल लेकर ग्राम-शास्त्रके अनुसार व्यवस्थित नकशा बनाना चाहिए। बुनकर, कातनेवाले, बढ़ई आदि मजदूर और व्यवस्थापक-वर्ग, परिवार, दफ्तरके कार्यकर्त्ता, आश्रमवासी, मेहमान आदिके लिए किस प्रकारके मकान बनवाने चाहिए, यह मुझसे पूछा गया। पूछनेवाला खुद साम्यपूजक तो था ही, और मैं साम्यवादी नहीं हूं यह भी जानता था। मैंने कुछ मन-ही-मन और कुछ प्रकट रूपमें कहा—"मैं दाल हजम नहीं कर सकता, इसलिए दही खाता हूं। मजदूरको दहीका शौक तो है, लेकिन वह दाल हजम कर सकता है। इसलिए दालसे काम चला लेता है। इतनी विषमता तो हम विवेककी दुहाई देकर हजम कर गये। लेकिन क्या

हमारे लिए मकान भी भिन्न-भिन्न प्रकारका होना जरूरी है ? जिस तरह मकानमें मजदूर अपनी जिंदगी बसर करता है, उसी तरहका मकान मेरे लिए भी काफी क्यों नहीं हो सकता ? या फिर, उसका भी मकान मेरे मकानके समान क्यों न हो ?"

आप चाहे वैराग्यका नाम लें चाहे वैभवका, विषमताको बर्दाश्त हरगिज न कीजिए। इसीका नाम है "आत्मौपम्य"। सच्चा साम्यवाद यही है। उसपर तुरंत अमल किया जाना चाहिए। साम्यवादका कोई महत्त्व नहीं है। महत्त्व है "तत्काल साम्यवाद" का। साम्यवादको तुरंत कार्यान्वित करनेकी सिफतका नाम अहिंसा है। अहिंसा हरेकसे कहती है कि "तू अपने-आपसे प्रारंभ कर दे तो तेरे लिए तो आज ही साम्यवाद है।" अहिंसाका चिह्न है खादी। खुद खादी ही अगर भेदभाव सहे, तब तो यही कहना होगा कि उसने अपने हाथों अपना गला घोंट लिया।

इस सारे अर्थका संग्राहक सूत्र-वाक्य है—खादी और गादीमें लड़ाई है।

: ३२ :

खादीका समग्र दर्शन

जलमें तटस्थ चिंतनके लिए थोड़ा-बहुत अवकाश मिल जाता है। इसलिए हमारे आंदोलनके विषयमें और हिंदुस्तान तथा संसारकी सारी परिस्थितिके विषयमें बहुत-कुछ विचार हुआ, चर्चा भी हुई। कुल मिलाकर परिस्थिति बहुत बिगड़ी हुई मालूम होती थी। ऐसे समय कौन-से उपाय करने चाहिए, इसका चिंतन हम वहां करते थे। लेकिन हमारे जेलसे छटनेके थोड़े ही दिन बाद जापान और अमेरिकाके लड़ाईमें शामिल हो जानेसे परिस्थिति और भी बिगड़ गई। इसलिए जेलमें किये कुछ विचार अधूरे मालूम हुए और कुछ दृढ़ हुए। इस युद्धके विरोधमें हम प्रायः तीन कारण दिया करते थे : पहला कारण था युद्धकी हिंसकता, दूसरा दोनों पक्षोंकी—

चाहे वह न्यूनाधिक भले ही हो—साम्राज्यवादी तृष्णा, और तीसरा यह कि हिंदुस्तानकी सम्मति नहीं ली गई। लेकिन जापान और अमेरिकाके मैदान-में कूद पड़नेके बाद अब करीब-करीब सारा संसार ही युद्धमें शामिल हो गया है। अब यह युद्ध मनुष्यके साथमें नहीं रहा, वरन् मनुष्य ही युद्धके अधीन हो गया है। इसलिए यह युद्ध स्वैर या मूढ़ है। हमारे युद्धविरोधका यह और एक नया कारण है। वासुदेव कॉलेज (वर्धा) में भाषण देते हुए मैंने इसीपर जोर दिया था।

लेकिन इस प्रकार संसारके सभी बड़े राष्ट्रोंके युद्धमें शरीक हो जानेसे, हिंदुस्तानकी, जोकि पहलेसे ही एक दरिद्र और विषम परिस्थितिमें ग्रस्त देश है, हालत और भी विषम हो गई है। अंग्रेजी राजसे पहले हिंदुस्तान स्वावलंबी था। इतना ही नहीं, वह अपनी जरूरतें पूरी करके विदेशोंको भी थोड़ा-बहुत माल भेजा करता था। लेकिन आज तो पक्के मालके लिए हिंदुस्तान करीब-करीब पूरी तरह परावलंबी हो गया है। राष्ट्रीय रक्षाके साधन, युद्धविषयक सरंजाम, वगैरामें जो परावलंबन है, उसकी बात मैं नहीं कहता। हालांकि अगर अहिंसाका रास्ता खुला न हो, तो राष्ट्रीय दृष्टिसे इस बातका विचार भी करना ही पड़ता है। लेकिन मैं तो सिर्फ जीवनोपयोगी नित्य आवश्यकताओंकी ही बात कह रहा हूं। ये चीजें आज हिंदुस्तानमें नहीं बनतीं और फिलहाल वे बाहरसे कम आ सकेंगी। लड़नेवाले राष्ट्र युद्धोपयोगी सामग्री बनानेकी ही फिक्रमें होंगे, उनके पास बाहर भेजनेके लिए बहुत कम माल रहेगा। और इसके बाद भी जो माल तैयार होगा, उसे दूसरे राष्ट्रोंतक न पहुंचने देनेकी व्यवस्था शत्रुराष्ट्र अवश्य करेंगे। अमेरिकासे माल आने लगे, तो जापान उसे डुबो देगा और जापानसे तो माल आ ही नहीं सकेगा। इस तरह अगर बाहरसे माल आना कम हो गया या बंद हो गया, तो हिंदुस्तानका हाल बहुत ही बुरा होगा। पक्का माल यहां बनानेके विषयमें सरकार, अगर हेतुपूर्वक नहीं तो परिस्थितिके कारण उदासीन रहेगी। उसका सारा ध्यान लड़ाईपर केंद्रित है, इसलिए उसे दूसरी गंभीर योजनाएं नहीं सूझेंगी। गंभीरतासे जो कुछ विचार होगा, वह केवल युद्धके विषयमें ही होगा। अगर सरकारकी यही वृत्ति रही कि हिंदुस्तानका जैसे-तैसे रक्षण—यानी उसे अंगरेजोंके कब्जेमें बनाये रखना

—भर हमारा कर्त्तव्य है, तो कोई ताज्जुब नहीं । ऐसी अवस्थामें हम कार्यकर्त्ताओंपर बहुत बड़ी जिम्मेदारी आ पड़ती है ।

यों लोगोंपर यह इलजाम लगाया जाता था कि खादीकी बिक्री काफी नहीं होती, उसके लिए लोगोंकी मिन्नतें करनी पड़ती हैं । अब हमपर यह इलजाम आनेवाला है कि इस लड़ाईकी परिस्थितिमें लोगोंकी मांग हम पूरी नहीं कर सकते । ऐसे संकटके समय अगर हम खादीके कामको तरक्की न दे सकें, तो खादीके भविष्यके लिए बहुत कम आशाकी गुंजाइश रहेगी ।

जाजूजीने 'खादी जगत' द्वारा हालहीमें एक योजना पेश की है। उसमें उन्होंने यह प्रमाणित किया है कि सरकार बेकारोंको जितने उद्योग दे सकती है, उतने अवश्य दे; लेकिन सरकारी शक्ति खतम होनेपर भी अगर भूख बाकी रह जाय, तो उतने अंशमें खादीको प्रोत्साहन देना सरकारका कर्त्तव्य है । किसी भी सरकारको खादीका यह कार्यक्षेत्र प्रायः मंजूर करना पड़ेगा ।

लेकिन इस योजनाका स्वरूप तो ऐसा है कि मानो यहां हम प्रवेश नहीं पा सकते, वहां धीरे-से अपनी पोटली रख देते हैं । हमारे घरपर कब्जा करनेवालेसे हम कहते हैं, "भैया, मकान तेरा ही सही । लेकिन तेरा यह खयाल गलत है कि मकान बिल्कुल भर गया है । वह देखो, उस कोनेमें थोड़ी-सी जगह खाली है । मेरी यह पोटली वहां पड़ी रहने दो ।" हमारा यह आक्रमण मनुष्यसे अपेक्षित न्यूनतम सद्‌गुणोंपर होता है, इसलिए उसका परिणाम अवश्य होता ही है ।

परंतु इस प्रकार की अकाल-पीड़ित खादी खादीकी बुनियाद नहीं हो सकती । आज जिस तरह खादीका उत्पादन और बिक्री हो रही है, वह भी उसकी बुनियाद नहीं है । खादीकी इमारतका वह एक भाग जरूर है । खादीकी अंतिम योजनामें भी उत्पत्ति-बिक्रीका स्थान रहेगा, और आजसे कहीं अधिक रहेगा । लेकिन वह खादीकी संपूर्ण योजनाका एक अंगमात्र है ।

उसी तरह आज जगह-जगह जो वस्त्र-स्वावलंबन जारी है उससे, यानी इस गांवमें चार वस्त्र-स्वावलंबी आदमी हैं, उस तहसीलमें सौ-दो-सौ हैं, इसी प्रकार दूसरे गांवोंमें भी वस्त्र-स्वावलंबन शुरू करते रहनेसे, भी

हमारा मुख्य काम नहीं होता। यह तो चौराहोंपर जगह-जगह म्युनिसि-पैलिटीकी बत्तियां लगनेके समान है। इन बत्तियोंका भी उपयोग तो है ही। उनके कारण चारों तरफका वातावरण प्रकाशित रहेगा। लेकिन चौककी बत्तियां घरके चिरागोंका काम नहीं देतीं। इसलिए यह इस तरह बिखरा हुआ वस्त्र-स्वावलंबन भी खादीका मुख्य कार्य नहीं है।

खादीकी नींव तो यह है कि किसान जैसे अपने खेतमें अनाज उपजाता है, उसी तरह वह अपना कपड़ा अपने घरमें बनावे। शायद शुरूसे ही हम इस तरह काम न कर सकते। इसलिए हमने खादीका काम दूसरे ढंगसे शुरू किया। लेकिन यह भी अच्छा ही हुआ। इससे खादीको गति मिली और लोगोंको थोड़ी-बहुत खादी हम दे सके।

लेकिन अब तो लोगोंकी खादीकी मांग बढ़ेगी। आजके तरीकेसे हम उसे पूरा नहीं कर सकेंगे। ऐसी स्थितिमें अगर हम लाचार होकर चुपचाप बैठे रहेंगे, तो हम दोषी समझे जायंगे और यह दोषारोपण न्यायानुकूल ही होगा, क्योंकि खादीको बीस सालका समय मिल चुका है। हिटलरने बीस वर्षोंमें एक गिरे हुए राष्ट्रको खड़ा कर दिया। उन्नीस सौ अठारहमें जर्मनीकी पूरी तरह हार हो गई थी और उन्नीस सौ अड़तीसमें वह एक आला दर्जेका राष्ट्र बन गया। रूसने भी जो कुछ ताकत कमाई, वह इन बीस बरसोंमें ही कमाई। इतने समयमें उसने दुनियाको मुग्ध कर देनेवाली विचार और आचारकी एक प्रणालीका निर्माण किया। ये दोनों प्रयोग हिंसामय या हिंसाश्रित हैं, इसलिए उनकी स्थिरता खतरेमें है, यह बात अलग है। कहा तो यही जायगा कि खादीको भी इसी प्रकार बीस वर्षतक मौका दिया गया। इतने समयमें खादी अधिक प्रगति नहीं कर सकी, इसकी कई वजहें हैं। इसलिए जर्मनी या रूससे तुलना करके हमें अपने तईं अपना धिक्कार करनेकी जरूरत नहीं है। फिर भी ऐसे संकटके मौकेपर अगर हम लाचार बन गए, तो, जैसाकि मैं कह चुका हूं, खादीके लिए एक कोना दिखा-कर उतनेसे संतुष्ट रहना पड़ेगा। लेकिन यह खादीकी मुख्य दृष्टि—जिसे अहिंसाकी योजनामें करीब-करीब केंद्रस्थान है—छोड़ देनेके समान है। कम-से-कम हिंदुस्तानमें तो खादी और अहिंसाका गठ-बंधन अटूट समझना चाहिए।

जब लोगोंकी मांग बढ़ेगी तो हम उनसे कहेंगे, 'सूत कातो।' तब लोग कहेंगे, 'हमें पूनियां दो।' हमारे आंदोलनमें पूनियोंकी समस्या बड़ी टेढ़ी है। पूनियोंके बादकी क्रिया अपेक्षाकृत सरल है। लेकिन पूनियोंका सवाल हम शास्त्रीय या लौकिक पद्धतिसे अबतक हल नहीं कर सके हैं। तब, लोगोंसे कहना होगा, 'तुम अपने लिए धुनो।' इसमें तांतका सवाल आयेगा। पक्की तांतकी व्यापक मांग एकदम पूरी नहीं की जा सकती। इसलिए काम रुक जायगा। इसका ज्यों-ज्यों मैं विचार करता हूं त्यों-त्यों मेरी निगाह उस 'दशयंत्र पींजन' पर ठहरती है। पांच और पांच दस अंगुलियोंसे जो काम होता है, उसे 'दशयंत्र' कहते हैं। सोमरस दस अंगुलियोंसे निचोड़ा जाता है। इसलिए वेदोंमें 'दशयंत्राः सोमाः' का उल्लेख है। उसी तरह यह तुनाईका दशयंत्र पींजन है। वह बहुत लाभदायी और सारी दिक्कतोंसे बचानेवाला साबित होगा। रबर लगानेके नये तरीकेकी खोजने इस दशयंत्र-पींजनमें क्रांति कर दी है। उसके कारण यह काम आसान हो गया है। यह बात सच है कि रबर सर्वसुलभ नहीं है। लेकिन उसका भी विचार हो सकता है। और वह भी इस कामके लिए अनिवार्य नहीं है। उस दिन मैं खरांगना गया था। वहां मैंने इस दशयंत्र-पींजनका प्रदर्शन किया। दर्शकोंमें से एकने कहा, 'जरा मैं भी देखूं।' और देखते-देखते उसने पंद्रह-बीस मिनिटोंमें, अगर अच्छी नहीं तो, साधारण पूनी बना ली। इसे सीखना इतना आसान है। उसकी गति भी व्यवहार-सुलभ है।

दूसरी महत्त्वकी बात यह है कि बुनकर खुद कातकर उसी सूतकी खादी बुनें। मैं कई तरहके आंकड़ोंपरसे इस परिणाम पर पहुंचा हूं कि आज दूसरोंका काता हुआ भला-बुरा सूत बुननेके लिए बुनकर जो मजदूरी पाता है, उससे कम मजदूरी उसे अपना सूत बुननेमें नहीं मिलेगी। अपना सूत बुनना उसके लिए अधिक आसान तो होने ही वाला है। इस विषयमें भी व्यापक प्रयोगोंकी आवश्यकता है।

इसीके साथ-साथ वस्त्र-स्वावलंबी लोगोंका सूत जहांका वहीं बुनवानेका प्रबंध करना होगा। इसके लिए स्ववलंबी व्यक्तियोंके सूतमें उन्नति होना जरूरी है। सूतमें उन्नतिकी बात आते ही फिर दशयंत्र-पिंजनपर ही ध्यान

जाता है। साधारण यंत्र-पींजन वैसे उपयोगी भले ही मान लिया जाय, तो भी लड़ाईके जमानेकी व्यापक योजनामें वह निपरुयोगी है। मेरा यह दावा है कि उस यंत्रसे उतनी शास्त्रीय पूनी नहीं बनती, जितनी इस दशयंत्रसे बनती है।

परंतु इसमें यह मानी हुई बात है कि यह दशयंत्र-पींजन या तुनाई कपाससे होनी चाहिए। आज सब जगह प्राय: सारी क्रियाओंमें रुई ही काममें लाई जाती है। अब रुईकी जगह कपासका उपयोग करना चाहिए। किसानको अपने खेतमेंसे अच्छी बड़ी-बड़ी डोडीवाली कपासका संचय करना चाहिए। फिर उसे सलाई-पटरी जैसे साधनसे ओट लेना चाहिए। इसमें प्राय: एक भी बिनौला नहीं बिगड़ेगा। किसान छांट-छांटकर अच्छी-अच्छी डोडियां बोनेगा। इसलिए उसे अच्छा बीज मिलेगा और उसका खेत समृद्ध होगा। इस प्रकार कपाससे शुरू करनेमें अनेक लाभ हैं। रुईसे शुरू करनेमें हम उन्हें गंवा देते हैं।

खादीका अर्थ-शास्त्र सचमुच इतनी पुख्ता नींवपर खड़ा है कि उससे सस्ता और कुछ भी नहीं सिद्ध हो सकता। लेकिन उसकी जगह बीचकी ही किसी अलग प्रक्रियाको खादीकी प्रक्रिया मान लेना खादीको नाहक बदनाम करना है।

कार्यकर्त्ताओंको समग्र दर्शनके इस विचारपर अच्छी तरह ध्यान देना चाहिए। कहा जाता है कि मिलें सस्ती पड़ती हैं। हम हिसाब करके दिखा देते हैं कि वे महंगी हैं। मिलोंमें व्यवस्थापक वर्गका जबरदस्त खर्च, यंत्र, यंत्रोंका घिसना, मालका, लाना-लेजाना, मालिकोंका अजस्र मुनाफा, आदि कई आपत्तियां स्पष्ट ही हैं। लेकिन फिर भी अगर सस्ती मालूम होती है, तो, या तो उसमें कोई जादू होना चाहिए या फिर हमारे एतराज गलत होने चाहिए। एतराज तो गलत नहीं कहे जा सकते। तो फिर अवश्य तिलस्म है। वह जादू यह है कि मिल एक विराट् यांत्रिक रचनाकी जंजीरकी एक कड़ी है। बड़े कारखानोंमें मुख्य उद्योगके साथ-साथ उससे संबंध रखनेवाले दूसरे भी फुटकर उद्योग कराये जाते हैं। कारखाना उन उद्योगोंके लिए नहीं चलता। इसलिए उन्हें गौण पैदावार कहते हैं। इन गौण उद्योगोंसे जो आमदनी होती है उँससे प्रधान उद्योगको लाभ होता है और यह सब

मिलाकर वह कारखाना आर्थिक दृष्टिसे पुसाता है। मिलकी यही स्थिति है। वह एक समग्र विचार-श्रृंखलाकी कड़ी है।

मिलोंके साथ-साथ रेल आई। शांतिके समय माल लाना-लेजाना उनका प्रधान कार्य है। यात्रियोंको भी उनसे लाभ होता है। लोगोंको लंबे सफर करनेकी आदत हो जाती है। उनके विवाह-संबंध भी दूर-दूरके स्थानोंमें होने लगते हैं और इस तरह रेल उनके जीवनकी एक आवश्यकता हो जाती है। फिर उससे फायदा उठाकर मिलोंके विषयमें सस्तेपनका एक भ्रम पैदा किया जा सकता है।

मैंने रेलका उदाहरण दिया। ऐसी कई चीजें मिलकी मददके लिए उपस्थित हैं। इसलिए मिल सस्ती प्रतीत होती हैं। अगर सिर्फ मिलका ही विचार किया जाय, तो वह बहुत महंगी होती है। यही नियम खादीके लिए भी लागू करना चाहिए। अगर अकेली खादीका ही विचार किया जाय, तो वह महंगी मालूम होगी। लेकिन ऐसा असंबद्ध विचार नहीं किया जा सकता। किसी सुंदर आदमीके अवयव अलग-अलग काटकर अगर हम देखने लगें, तो क्या होगा? कटी हुई नाक खूबसूरत थोड़े ही लगेगी? उनमें तो आरपार छेद दिखाई देंगे। लेकिन ऐसे पृथक् किये हुए अवयव अपनेमें सुंदर न होते हुए भी, सब मिलकर शरीरको सुंदर बनाते हैं। जब हम समग्र जीवनको दृष्टिमें रखकर खादीको उसका एक अंग मानेंगे, तब खादी-जीवन मिल-जीवनकी अपेक्षा कहीं सस्ता साबित होगा।

खादीमें लाने-लेजानेका सवाल ही नहीं है। वह तो जहांकी वहीं होती है। घरकी घरहीमें व्यवथित रूपसे रहती है। याने व्यवस्थापकोंका काम नहीं रह जाता। कपड़ेकी जरूरतसे ज्यादा कपास फिजूल बोई ही नहीं जायगी, इसलिए कपासका भाव हमारे हाथोंमें रहेगा। चुनी हुई डोडियां घरपर ही ओटी जायंगी, जिससे बोनेके लिए बढ़िया बिनौले मिलेंगे और खेती विशेष संपन्न और प्रफुल्लित होगी। बचे हुए बिनौले बेचने नहीं पड़ेंगे। वे सीधे गायको मिलेंगे और फलस्वरूप अच्छा दूध, घी और बैल मिलेंगे। वस्त्र-स्वावलंबनके लिए आवश्यक डोडियां सलाई-पटरी, या उसीकी विशेषताएं रखनेवाली ओटनीपर ओट ली जायंगी। वह ताती साफ ई आसानीसे धुनी जा सकेगी। वह दशयंत्रसे भलीभांति धुनी जायगी और

सूत समान तथा मजबूत कत सकेगा । सूत अच्छा होनेके कारण बुननेमें सुगमता होगी । अच्छी बुनावटके कारण वह शरीरपर ज्यादा दिन टिकेगा और कपड़ा ज्यादा दिन चलनेके कारण उतने अंशमें कपासकी खेतीवाली जमीनकी बचत होगी । अब इस सबमें तेलकी घानी आदि ग्रामोद्योग और जोड़ दीजिए और देखिए कि वह सस्ती पड़ती है कि महंगी । आप पायंगे कि वह बिल्कुल महंगी नहीं पड़ती । जब खादीका यह 'समग्र दर्शन' आपकी आंखोंमें समा जायगा, तो खादीकार्यका आरंभ कपासकी बजाय रुईसे करनेमें कितनी भारी भूल होती है, यह भी समझमें आ जायगा । और इसके अतिरिक्त सारा खादीकार्य सांगोपांग करनेकी दृष्टि भी प्राप्त होगी ।

और एक बात, जिससे समग्र दर्शन और स्पष्ट होगा । यह एक स्वतंत्र विषय भी है । पांच-छः साल पहले मैं रेलमें अपना चरखा खोलकर कातने लगा । वैसे भी मेरी आंखें कमजोर हैं, उसमें फिर गाड़ीके धक्के लगते थे, इसलिए धीरे-धीरे सम्भलकर कातनेपर भी थोड़ा-बहुत टूटता ही था । टूटते ही मैं अपने सिद्धांतके अनुसार उसे फिर जोड़ लेता था । मेरी बगलमें एक बैठे थे । बी० एस-सी० पास थे । बड़े ध्यानसे ये सारी बातें निहार रहे थे । थोड़ी देरके बाद बोले, "कुछ पूछना चाहता हूं ।" "पूछिए", मैंने कहा । वह बोले, "आप टूटे हुए तारोंको जोड़नेमें इतना वक्त खोते हैं, इससे उनको वैसे ही फेंक देना क्या आर्थिक दृष्टिसे लाभकारी नहीं होगा ।" मैंने उनसे कहा, "अर्थशास्त्र दो तरहका है । एक आंशिक अथवा एकांगी और दूसरा परिपूर्ण । इनमेंसे एकांगी अर्थशास्त्रको छोड़कर परिपूर्ण अर्थशास्त्रकी कसौटीपर परखना ही उचित है ।" वह बोले, "दुरुस्त है ।" तब मैंने उनसे पूछा, "आप कहते हैं कि थोड़ा-सा टूटा हुआ सूत अगर अकारथ जाय तो कोई हर्ज नहीं । लेकिन उसकी क्या मर्यादा हो ? कितने फीसदी आप माफ फरमायेंगे ?" उन्होंने कहा, "पांच प्रतिशत तक माफ कर देनेमें हर्ज नहीं है ।" तब मैंने कहा, "पांच प्रतिशत, जोकि जुड़ सकता है, फेंक देनेका क्या नतीजा होता है, यह देखने लायक है । इसका यह मतलब है कि कातने-वाला इस तरह सौ एकड़ कपास खेतीमेंसे बैठे-बैठे पांच एकड़की उपज यों ही फूंक देता है । तांतके सौ कारखानोंमसे पांच कारखानोंको बेकार कर

देता है। कातनेवालोंके लिए बनाई गई सौ इमारतोंमेंसे पांच गिरा देता है। हिसाबकी सौ बहियोंमेंसे पांच फाड़ देता है।" इत्यादि-इत्यादि।

इसके अलावा, जिसने पांच-प्रतिशतका न्याय स्वीकार कर लिया, उसके सभी व्यवहारोंको वह ग्रास कर रहेगा। उससे होनेवाली हानि कितनी भयानक होगी, यह समझना मुश्किल नहीं है। भोजनके वक्त अगर कोई थालीमें बहुत-सी जूठन छोड़कर उठ जाता है, तो हम उसे मस्ताया हुआ कहते हैं; क्योंकि जूठन छोड़नेका यह मतलब है कि वह, किसानके बैलसे लेकर रसोई बनानेवाली मां तक, सबकी मेहनतपर फानी फेर देता है। इसलिए जूठन छोड़नेसे मांका नाराज होना काफी नहीं है। हल चलानेवाले बैलको चाहिए कि वह उसे एक लात मारे और किसानसे लेकर दूसरे सब एक-एक धौल जमायें।

इसीलिए हरचीज सामग्र्यकी दृष्टिसे देखनी चाहिए। इसीलिए भगवद्‌गीतामें ईश्वरके ज्ञानके पीछे "असंशयं समग्रम्" ये विशेषण लगाये गए हैं। हमारे खादीके आंदोलनमें समग्र-दर्शनकी बहुत जरूरत है। हम जब खादीको समग्र-दर्शनपूर्वक आगे बढ़ायंगे तभी, और केवल तभी, वह व्यापक हो सकेगी। यह हमारी कसौटीका समय है।

अप्रैल, १९४२

: ३३ :

उद्योगमें ज्ञान-दृष्टि

मेरी दृष्टिसे हमारे शिक्षणमें सबसे बड़ी जरूरत अगर किसी चीजकी है तो विज्ञानकी। हिंदुस्तान कृषिप्रधान देश भले ही कहलाता हो, तो भी उसका उद्धार सिर्फ खेतीके भरोसे नहीं होगा। यरोपीय राष्ट्र उद्योग-प्रधान कहलाते हैं। हिंदुस्तानमें खेती ही प्रधान व्यवसाय होते हुए भी यहां फी आदमी सवा एकड़ जमीन है। इसके विपरीत फ्रांसमें, जो एक उद्योग-प्रधान देश कहलाता है, प्रति मनुष्य साढ़े तीन एकड़ जमीन है। इसपरसे

मालूम होगा कि हिंदुस्तानकी हालत इतनी बुरी है । इसका मतलब यह है कि हिंदुस्तानमें अकेली खेती ही होती है, और कुछ नहीं होता । अमेरिका (संयुक्तराज्य) संसारका सबसे सघन देश है । उसमें खेती और उद्योग दोनों बहुत बड़े परिमाणमें चलते हैं । वह युद्धके लिए रोज पचपन करोड़ रुपये खर्च कर रहा है । हमारे देशकी जनसंख्या चालीस करोड़ है । इतने लोगोंको हररोज भोजन देनेके लिए, यहांके हिसाब से प्रतिदिन पांच करोड़ रुपया खर्च लगेगा । अमेरिका इतना धनवान देश है कि वह रोज इतना खर्च करता है कि उसमें हिंदुस्तानको ग्यारह दिन भोजन दिया जा सकता है । हिंदुस्तानकी फी आदमी सालाना आमदनी खेतीसे पचास-साठ रुपये और उद्योगसे बारह रुपये हैं । इसलिए हिंदुस्तानको कृषि-प्रधान कहना पड़ता है । अब जरा इंग्लैंडकी तरफ नजर डालिए । वहां भी खेतीकी आमदनी, यहांकी ही तरह फी आदमी पचास-साठ रुपये सालाना होती है, और उद्योगकी होती है पांचसौ बारह रुपये । इसपरसे आपको पता चलेगा कि हमारा देश कहां है । यह हालत बदल देनेके लिए हमारे यहांके विद्यार्थी, शिक्षक और जनता, सभीको उद्योगमें निपुण बन जाना चाहिए । उसके लिए उन्हें विज्ञान सीखना चाहिए ।

(अ) हमारा रसोईघर हमारी प्रयोगशाला होनी चाहिए । वहां जो आदमी काम करता है, उसे किस खाद्य-पदार्थमें कितना उष्णांक, कितना ओज, कितना स्नेह, है आदि सारी बातोंकी जानकारी होनी चाहिए । उसमें यह हिसाब करनेकी सामर्थ्य होनी चाहिए कि किस उम्रके मनुष्यको किस कामके लिए कैसे आहारकी जरूरत होगी ।

(आ) शौचको तो सभी जानते हैं । लेकिन स्कूलवालोंका काम इतनेसे नहीं चलेगा । 'मैलेका क्या उपयोग होता है ? सूर्यकी किरणोंका उसपर क्या असर होता है । मैला अगर खुला पड़ा रहे तो उससे क्या नुकसान है ? कौन-सी बीमारियां पैदा होती हैं ? जमीनको अगर उसका खाद दिया जाय तो उसकी उर्वरता कितनी बढ़ती है ?'—आदि सारी बातोंका शास्त्रीय ज्ञान हमें हासिल करना चाहिए ।

(इ) कोई लड़का बीमार हो जाता है । वह क्यों बीमार हुआ ? बीमारी मुफ्तमें थोड़े ही आई है ! तुमने उसे गिरहसे कुछ खर्च करके बुलाया

है। अतिथिकी तरह उसका खयाल रखना चाहिए। वह क्यों आई, कैसे आई, आदि पूछना चाहिए। उसकी उपयुक्त पूजा और उपचार कैसे किया जाय, यह सीखना चाहिए। जब वह आ ही गई है, तब उससे सारा ज्ञान ग्रहण कर लेना चाहिए। इसमें शिक्षणकी बात है। 'वह ज्ञानदाता रोग आया और गया, हम कोरे-के-कोरे रह गये'! यह दूसरेके साथ भले ही होता हो, हमारे साथ हरगिज नहीं होना चाहिए।

(ई) तुम यहां सूत कातते हो, खादी भी बना लेते हो। तुम्हें बधाई है। लेकिन खादी-क्रियाके बारेमें शास्त्रीय प्रश्नोंके जवाब यदि तुम न दे सके, तो पाठशाला और उत्पत्ति-केंद्र यानी कारखानेमें फर्क ही क्या रहा? लेकिन मैं तो अपने कारखानेसे भी इस ज्ञानकी आशा रखूंगा।

मुझसे कहा गया है कि यहांके लड़के अंग्रेजी वगैराकी परीक्षामें पास होते हैं, दूसरे विद्यालयोंके लड़कोंसे किसी तरह कम नहीं हैं, आदि-आदि। लेकिन लड़के पास होते हैं, इसमें कौन-सी बड़ी बात है। हमारे लड़के नालायक थोड़े ही हैं? ज़रा विलायतके लड़कोंको इतिहास और भूगोल मराठीमें सिखाकर देखिए तो? देखें, कितने पास होते हैं! कई साल पहले बड़ौदेमें एक साहब आया था। उसने गीताका पूरे बीस वर्ष तक अध्ययन किया था। यों उसने अच्छा भाषण दिया; परंतु वह संस्कृतके वचनोंके उच्चारण ठीक नहीं कर सका। उसने कहा—

'कुरु कर्मैव टस्माद् ट्म्'
(कुरु कर्मैव तस्मात् त्वम्)

बीस-बीस साल अध्ययन करनेपर भी उनका यह हाल है! हमारे यहां सैकड़ों आदमी उनकी भाषामें खब बोल लेते हैं। लेकिन यह हमारी इस भूमिका ही गुण है। हजारों वर्षोंसे यहां विद्याकी उपासना होती आई है। यह कोई यहांके पाठकोंका गुण नहीं है। इसलिए हमें अंग्रेजी भाषाके ज्ञानसे संतोष नहीं मानना चाहिए। हमें आरोग्यशास्त्र, रसायनशास्त्र, पदार्थ-विज्ञान, यंत्रशास्त्र आदि शास्त्र सीखने चाहिए। शास्त्रों और विज्ञानोंकी इस तालिकाको देखकर आप घबराइए नहीं। आप उन्हें उद्योगके साथ बड़ी आसानीसे सीख सकेंगे।

दो विद्याएं सीखना आवश्यक है: एक हमारे आसपासकी चीजोंकी

परखनेकी शक्ति, अर्थात् विज्ञान । और दूसरी, आत्मज्ञानपूर्वक संयम करनेकी शक्ति, अर्थात् अध्यात्म । इसके लिए बीचमें निमित्तमात्र भाषाकी जरूरत होती है । उसका उतना ही ज्ञान आवश्यक है । भाषा चिट्ठीरसाका काम करती है । अगर मैं चिट्ठीमें कुछ भी न लिखूं, तो वह कोरा कागज भी चिट्ठीरसा पहुंचा देगा । भाषा विद्याका वाहन है । यह भी कोई कम कीमती बात नहीं है । विज्ञान और अध्यात्म ही विद्या है । उसीका मैं विचार करूंगा । मेरा चरखा अगर टूट गया, तो क्या मैं रोता बैठूंगा ? मैं बढ़ईके पास जाकर उसे सुधरवा लूंगा । उसी तरह, अगर मुझे बिच्छूने काट खाया , तो मुझे रोते नहीं बैठना चाहिए । उसका उपचार करके छुट्टी पानी चाहिए । इसी प्रकार आत्माकी अलिप्तताका ज्ञान होना चाहिए । उसकी मुझे आदत हो जानी चाहिए । यही मेरी शालाकी परीक्षा होगी । मैं भाषाका पर्चा निकालनेकी झंझटमें नहीं पड़ूंगा । लड़कोंकी बोलचालसे ही मैं उनका भाषा-ज्ञान भांप जाऊंगा ।

विद्यार्थी भोजन करते हैं और दूसरे लोग भी भोजन करते हैं; लेकिन दोनोंके भोजन करनेमें फर्क है । विद्यार्थियोंका भोजन ज्ञानमय होना चाहिए । जब विद्यार्थी अनाज पीसेगा और छानेगा, तो वह देखेगा कि उसमेंसे कितना चोकर निकलता है । मान लीजिए कि सेरमें आठ तोले चोकर निकला । यानी दस-प्रतिशत चोकर निकला । यह बहुत ज्यादा हुआ । दूसरे दिन वह पड़ोसीके यहां जाकर वहांका चोकर तौलेगा । वह देखता है कि उसके आटेमेंसे ढाई तोले ही चोकर निकला है । दस-प्रतिशत चोकर निकलनेमें क्या हर्ज है ? उतना चोकर अगर पेटमें जाय, तो नुकसान क्यों होगा? —आदि प्रश्न उसके मनमें उठने चाहिए और उनके उचित उत्तर भी उसे मिलने चाहिए । जब ऐसा होगा तो, जैसा कि गीतामें कहा है, उसका हरेक काम ज्ञान-साधन होगा । अगर बुखार आया, तो वह ज्ञान दे जायगा । वह भी प्रयोग ही होगा । फिर उस तरहका बुखार नहीं आयगा । जहां हरेक काम इस तरह ज्ञान-दृष्टिसे किया जाता है, वह पाठशाला है और जहां वही ज्ञान कर्म-दृष्टिसे होता है वह कारखाना है ।

इस प्रकार प्रयोगबुद्धिसे, ज्ञान-दृष्टिसे प्रत्येक काम करनेमें थोड़ा खर्च तो होगा । लेकिन उससे उतनी कमाई भी होगी । स्कूलमें जो चरखा

होगा वह बढ़िया होगा। चाहे जैसे चरखेसे काम नहीं चलेगा। स्कूलमें काम चाहे थोड़ा कम भले ही हो, लेकिन जो कुछ काम होगा, वह आदर्श होगा। कपास तौलकर ली जायगी। उसमेंसे जितने बिनौले निकलेंगे, वे भी तौल लिए जायंगे। रोजियामेंसे जब इतने बिनौले निकले, तब ह्वेरममें-से इतने क्यों, इस तरहका सवाल पूछा जायगा। और उसका जवाब भी दिया जायगा। बिनौला मटरके आकारका होकर भी दोनोंके वजनमें इतना फर्क क्यों? बिनौलेमें तेल होता है, इसलिए वह हलका होता है। फिर यह देखा जायगा कि इसी तरहके दूसरे धान्य कौन-से हैं। इसके लिए तराजूकी जरूरत होगी। वह बाजारसे नहीं खरीदा जायगा। स्कूलमें ही बनाया जायगा। जब हम यह सब करनेका विचार करेंगे, तभीसे विज्ञान शुरू हो जायगा। हरेक काम अगर इस ढंगसे किया जाय, तो वह कितना मनोरंजक होगा? फिर उसे कौन भूलेगा। अकबर किस सनमें मरा, यह रटनेकी क्या जरूरत है? वह तो मर गया, लेकिन हमारी छातीपर क्यों सवार हुआ? मैं इतिहास रटनेको नहीं पैदा हुआ हूं। मैं तो इतिहास बनानेके लिए पैदा हुआ हूं।

शिक्षककी दृष्टिसे हरेक चीज ज्ञान देनेवाली है। उदाहरणके लिए, मैलेकी ही बात ले लीजिए। वह बहुत बड़ा शिक्षण देता है। मैंने तो उसके बारेमें एक श्लोक ही बना डाला है: "प्रभाते मलदर्शनम्' (सबेरे मैलेका दर्शन करो)। सबेरे मैलेके दर्शनसे मनुष्यको अपने स्वास्थ्यकी स्थितिका पता चलता है। मैलेमें अगर मूंगफलीके टुकड़े हों, तो वे पेटपर पिछले दिन किए हुए अत्याचार तथा अपचनका ज्ञान और भान करायंगे। उसके अनुसार हम अपने आहार-विहारमें फर्क कर लेंगे। आप चाहे कितनी ही सावधानी और सफाईसे रहिए, आखिर मैला तो गंदा ही रहेगा। सबेरे उसके अवलोकनसे देहासक्ति कम होगी और वैराग्य पैदा होगा। मां जाड़ोंमें जिस तरह बच्चोंको कपड़ेसे ढंकती है, उसका कोई भी अंग खुला नहीं रहने देती, उसी तरह हम भी बड़ी सावधानीसे सूखी मिट्टीसे अगर मैलेको ढंक दें और यथासमय उसे खेतमें फैला दें, तो वही मैला हमारी लक्ष्मीको बढ़ायगा।

इसी तरह पाठशालामें प्रत्येक काम ज्ञानदायी और व्यवस्थित होगा।

लड़का बैठेगा, तो सीधा बैठेगा । अगर मकानका मुख्य खंभा ही झुक जाय, तो क्या वह मकान खड़ा रह सकेगा । नहीं । उसी तरह हमें भी अपने मेरु-दंडको हमेशा सीधा रखना चाहिए । पाठशालामें यदि इस प्रकारसे काम होगा, तो देखते-देखते राष्ट्रकी कायापलट हो जायगी । उसका दुःख दैन्य गायब हो जायगा, सर्वत्र ज्ञानकी प्रभा फैलेगी ।

स्कूलमें होनेवाला प्रत्येक काम ज्ञानका साधन बन जाना चाहिए । इसके लिए स्कूलोंको सजाना होगा । अच्छे-अच्छे साधन जुटाने होंगे । श्रीरामदास स्वामीने कहा है, 'देवताका वैभव बढ़ाओ ।' लोगोंको अपने घर सजानेके बदले शालाएं सजानेका शौक होना चाहिए । उन्हें शालाकी आवश्यक चीजें उपलब्ध करा देनी चाहिए । लेकिन इतना ही बस नहीं है । एकाध दानवीर मिल जाता है और कहता है, 'मैंने इस शालाको इतनी सहायता दी ।' लेकिन अपने लड़कोंको किस स्कूलमें भेजता है ?—सरकारी स्कूलमें । सो क्यों ? अगर आप राष्ट्रीय पाठशालाओंको दानके योग्य मानते हैं, तो उन्हें सब तरहसे संपन्न और सुशोभित करके अपने लड़कोंको वहीं क्यों नहीं भेजते ?

लड़के राष्ट्रके धन हैं । लेकिन उनके भोजनमें न दूध है, न घी ! फी लड़केका मासिक भोजन-खर्च ढाई रुपये है ! इसे क्या कहा जाय ? हम सारे राष्ट्रकी अवस्थाको भूल नहीं सकते, यह तो माना । लेकिन फिर भी इतना कम-से-कम जरूरी है, उतना तो मिलना ही चाहिए । पिछले दिनोंमें यह शिकायत थी कि जेलमें कैदियोंको उचित खुराक नहीं मिलती, दूध नहीं मिलता । गांधीजीकी सूचनासे बाहरके डाक्टरोंने यह तय किया कि निरामिषभोजी व्यक्तिके लिए कम-से-कम कितने दूधकी जरूरत है । उनके निर्णयके अनुसार हरेक व्यक्तिको कम-से-कम तीस तोले दूध मिलना चाहिए और सरकार अगर कैदियोंको रखती है, तो उसे उनकी कम-से-कम आवश्यकता पूरी करनी ही चाहिए । लेकिन अगर हम अपने विद्यालयोंमें ही इस नियमपर अमल नहीं करते, तो सरकारसे आशा करना कहांतक शोभा देगा ? लड़कोंको दूध मिलना ही चाहिए । उन्हें अच्छा अन्न मिलना ही चाहिए, वरना उनमें तेज नहीं पैदा होगा ।

फरवरी, १९४२

: ३४ :

गो-सेवाका रहस्य

गो-सेवाका प्रथम पाठ हमें वैदिक ऋषि-मुनियोंने सिखाया और समझाया है। कुछ लोगोंका कहना है कि गो-सेवाका पाठ पढ़ाकर ऋषियोंने हममें अनुचित पूजाके भाव पैदा किये हैं। ऐसी पशु-पूजा वैज्ञानिक नहीं है। वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। जिस तरह हम उपयोग की दृष्टिसे विचार करते हैं, उसी तरह सीधे उपयोगकी दृष्टिसे ऋषि-मुनियोंने भी विचार किया। उसी दृष्टिसे उन्होंने बतलाया है कि हिंदुस्तानके लिए गो-सेवा मुफीद है। इसलिए वही धर्म हो सकता है। तब हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम गायका जितना हो सकता हो उतना उपयोग करें। वेदका वचन है—

सहस्रधारा पयसा मही गौः।

ऐसी गाय जिससे कि हजार धाराएं रोज़ पैदा होती हों। आप समझ सकते हैं कि दूधकी एक धारा कितनी होती है। हिसाब करनेपर मालूम होगा कि वैदिक गायका दूध चालीस-पचास रतल होता था। इसपरसे आप समझ लेंगे कि उनकी मंशा क्या थी और गायोंसे वे क्या अपेक्षा रखते थे। आजकल गायका दूध नहीं मिलता, ऐसी शिकायतें आती हैं। वैदिक ऋषियोंने गो-सेवाकी दिशा भी बतलाई है।

अक्सर सुना जाता है कि दूध तो गायोंसे ज्यों-त्यों मिल सकता है, परंतु घीके लिए तो भैंसकी ही शरण लेनी पड़ेगी। लेकिन हमारे प्राचीन वैदिक ऋषि यह नहीं मानते। वे कहते हैं—

यूयं गवो मेदयथा: कृशं चित्।

"हे गायो, जिसका शरीर (स्नेहके अभावसे) सूख गया हो, उसे तुम अपने भेदसे भर देती हो।" यहां 'मेदयथा' यानी 'मेदती हो' का इस्तेमाल किया गया है। भेद कहते हैं चरबीको, स्नेहको, जिसे हम 'फैट' कहते हैं। इसका मतलब यह है कि दुबले-पतलेको मोटा-ताजा बनाने लायक चरबी गायके दूधमें पर्याप्त मात्रामें होनी चाहिए और अगर आज गायके दूधमें

घीकी मात्रा कम मालूम होती है, तो उसे बढ़ाना हमारा काम है । वह कसर गायमें नहीं, बल्कि हमारी कोशिशमें है ।

उसकी पुष्टिमें उन्होंने गायका वर्णन यों किया है—

अश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम् ।

जो शरीर अ-श्रीर है, उसे गाय श्रीर बनाती है। 'श्रीर' का अर्थ शोभन है और 'अश्रीर' का अर्थ 'शोभाहीन'।'अश्रीर' से ही 'अश्लील' शब्द बना है । इसपरसे आप समझलें कि हमको गो-सेवाका पहला पाठ वैदिक ऋषियोंने पढ़ाया है, उसके विकास की दिशा भी बतला दी है और वह दिशा अनुचित पूजाभावकी नहीं, बल्कि शुद्ध वैज्ञानिकताकी है । यानी परम उपयोगिता-की है ।

सेवासे मतलब उपयोगहीन सेवा नहीं है। उपयोगके साथ-साथ उपयोगी जानवरकी यथासंभव अधिक-से-अधिक सेवा करना ही उसका अर्थ है । उसका यह भाव है कि उपयोगी जानवरको हमें अधिकाधिक उपयोगी बनाना है और इसी तरह हम उसकी अधिक-से-अधिक सेवा कर सकते हैं, जैसाकि हम अपने बाल-बच्चोंके विषयमें करते हैं । इस तरह हमारे लिए सेवाका उपयोगके साथ नित्य संबंध है । अब मैं जरा और आगे बढ़ूंगा । जैसे हम उपयोगहीन सेवा नहीं कर सकते, वैसे ही सेवा-हीन उपयोग भी हमें नहीं करना चाहिए । गो-सेवा-संघके नाममें 'सेवा' शब्दका यही अर्थ है । यानी हम बगैर सेवाके लाभ नहीं उठायंगे । यह आज भी होता है । हम ढोरोंकी सेवा कुछ-न-कुछ तो करते ही हैं; लेकिन शास्त्रीय दृष्टिसे जितनी करनी चाहिए उतनी नहीं करते; क्योंकि शास्त्रीय दृष्टि हमारे पास नहीं है, विशेषज्ञोंसे इस काममें हम सहायता जरूर लेंगे । लेकिन हमें सब काम उनपर नहीं छोड़ना चाहिए । हमें गायकी प्रत्यक्ष सेवा करनी चाहिए । जब ऐसा होगा, तब उसमेंसे गो-सेवाका थोड़ा-बहुत शास्त्र हमारे साथ आ जायगा ।

पवनारमें हमारे आश्रमके एक भाई, नामदेवने दो-चार गायें पाली हैं । बाजारके लिए उसे एक दिन सेलू जाना पड़ा । शामको नामदेव वापस लौटा और गाय दुहनेके लिए बैठा, तो गाय ने दूध नहीं दिया । उसने काफी कोशिश की । तब उसने पूछा, "आज गाय को क्या हो गया है ?" जवाब मिला, "कुछ तो नहीं । पता नहीं, दूध क्यों नहीं देती ? बछड़ा भी तो बंधा हुआ

था। इसलिए वह भी दूध नहीं पी सका होगा।" निदान नामदेवने पूछा, "किसीने उसे मारा-पीटा तो नहीं ?" एक भाईने कहा, "हां, मारा तो था।" नामदेवने कहा, "बस, तो वह इसीलिए दूध नहीं देती।" फिर नामदेव गायके पास पहुंचा, उसने उसके शरीरपर हाथ फेरा, उसे पुचकारा। तब गाय कुछ देरके बाद दूध देनेके लिए तैयार होगई। यह किस्सा इसलिए कहा कि हमें समझना चाहिए कि जब हम नामदेवकी तरह सेवा करेंगे, तो उसीमेंसे गो-सेवाका रहस्य धीरे-धीरे स्पष्ट हो जायगा और गो-सेवाका शास्त्र बनेगा।

कालिदासने, जो कि हिंदू संस्कृतिका अप्रतिम प्रतिनिधि है, हमारे सामने उस सेवाका कितना सुंदर आदर्श पेश किया है! महाराज दिलीप ऋषिके आश्रममें रहनेको आता है। ऋषि उसे गायकी सेवाका काम देते हैं, क्योंकि आश्रममें कोई बिना सेवाके रह ही नहीं सकता। आश्रम तो सेवाकी ही भूमि है। हां, तो वह गो-सेवाका काम कितनी लगनसे करता है? उसकी कैसी सेवा-टहल करता है? उसके पीछे-पीछे कैसे रहता है?—इसका चित्र रघुवंशमें एक श्लोकमें यों खींचा है—

स्थितिः स्थितामुच्चलितः प्रयातां,
निषेदुषीमासनबंधधीरः ।
जलाभिलाषी जलमाददानां,
छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥

शरीरकी छायाकी नाई राजा गायका अनुचर बन गया था। जब वह गाय खड़ी होती थी, तब वह भी खड़ा हो जाता था। जब वह चलती तो वह भी चलता, वह बैठ जाती, तब वह बैठता, वह पानी पीती, तभी वह भी पानी पीता; गायको खिलाये-पिलाये बिना खुद नहीं खाता-पीता था।

गाय एक उदार प्राणी है। वह हमारी सेवा और प्रेमको पहचानती है और अधिक-से-अधिक लाभ देनेके लिए तैयार रहती है। 'सेवा' शब्दका दोहन करके मैंने यह दूध आपके सामने रख दिया है। एक तो हम बिना उपयोगके किसीकी सेवा नहीं कर सकते, और दूसरे सेवा किये बिना यदि हम उपयोग करेंगे तो वह भी गुनाह होगा। हमें यह हरगिज नहीं करना है।

अब एक बात और। गाय और भैंसके विषयमें बहुत-कुछ कहा गया है।

दोनों मनुष्यको दूध देनेवाले जानवर हैं। दोनोंमें कोई मौलिक विरोध तो नहीं होना चाहिए। फिर भी, हम गायका ही दूध बरतनेकी प्रतिज्ञा लेते हैं तो उसका तत्व हम लोगोंको जान लेना चाहिए। हिंदुस्तानका कृषि-देवता बैल है। और यह तो सब जानते ही हैं कि हिंदुस्तान कृषि-प्रधान देश है। बैल तो हमें गायके द्वारा ही मिलता है। यही गायकी विशेषता है। उसके साथ-साथ गायकी अन्य उपयोगिता हम जितनी बढ़ा सकते हैं, जरूर बढ़ायंगे। लेकिन उसका मुख्य उपयोग तो बैलकी जननीके नाते है। बिना बैलके हमारी खेती नहीं होती। इसलिए हमें गायकी तरफ विशेष ध्यान देना चाहिए और उसकी सार-संभाल करनी चाहिए। ऐसा अगर हम नहीं करते, तो हिंदुस्तानकी खेतीका भारी नुकसान करते हैं। जब हम इस दृष्टिसे सोचते हैं, तो भैंसका मामला सुलझ जाता है और यह सहज ही समझमें आ जाता है कि गायको ही प्रोत्साहन देना हमारा प्रथम कर्तव्य हो जाता है।

मुझे याद आता है, एक दफा मेरे एक मित्रने उनके प्रांतमें अकालके समय जानवर किस क्रमसे मरे, उसका हाल सुनाया था। उन्होंने कहा, सबसे पहले भैंसा मरता है, क्योंकि हम भैंसेकी उपेक्षा करके उसे मार डालते या मरने देते हैं। वर्धाके बाजार में भैंसें ऐसी अवस्थामें लाई जाती हैं जबकि वे एक-दो घंटोंमें ही ब्यानेको होती हैं। हेतु यह होता है कि लोग उसे तुरंत खरीद लें। एक बार एक आदमी ऐसी एक भैंस बाजारको ला रहा था। उसी समय मनोहरजीने, जोकि उन दिनों येलीकेली में महारोगीसेवा-मंडल द्वारा महारोगियोंकी सेवा करते थे, उसको देखा। रास्तेमें ही वह भैंस ब्यायी—पुत्र जन्म हो गया! लेकिन उस आदमीको उस पुत्रजन्मसे बड़ी झुंझलाहट हुई! उसने सोचा, यह पुत्र कैसा? यह तो एक बला आ गई! मनुष्यको तो पुत्र-जन्मसे आनंद होता है; लेकिन भैंसके पुत्रको वह सहन नहीं करता। उसने उस पुत्रको वहीं छोड़ दिया और भैंस को लेजाकर वर्धाके बाजारमें बेच दिया और जो कुछ पैसा मिला वह लेकर अपने घर चलता बना, बेचारा भैंस-पुत्र वहीं पड़ा रहा। मनोहरजी बेचारे दयालु ठहरे। फिक्रमें पड़े कि अब इसका क्या किया जावे? जिस खेत में वह रहते थे उस खेतके मालिकके पास गये और उससे कहा, "भैया, इसको संभालोगे?" मालिकने कहा, "यह क्या बला आगई? मैं उसको कैसे रखूं? आखिर उसका उपयोग ही

क्या है ? मैं उसकी परवरिश क्यों करूं ? उसको आखिर दशहरेके दिन कत्ल होनेके लिए ही बेचना होगा । इसके सिवा और दूसरा कोई रास्ता नहीं है ।"

मैंने यह एक नित्यकी घटना आपके सामने रखी । तो, सबसे पहले बेचारा भैंसा मरता है । फिर उसके बाद गाय मरती है । उसके पश्चात भैंस मरती है और सबसे आखिरमें बैल । बैल सबसे उपयोगी है और इसीलिए उसकी हिफाजत करनेकी विशेष कोशिश की जाती है । लोग किसी-न-किसी तरह उसको खिलाते रहते हैं और उसे जिलानेकी कोशिश करते हैं । यह तो हुई उपयोगिताकी बात । बैल इनसब जानवरोंमें सबसे ज्यादा उपयोगी तो साबित हुआ । लेकिन सवाल यह है कि गायकी सेवाके बिना अच्छे बैल कहांसे आयंगे ? हिंदुस्तानका आदमी बैल तो चाहता है; लेकिन गायकी सेवा करना नहीं चाहता । वह उसे धार्मिक दृष्टिसे पूजनेका स्वांग रचता है । दूधके लिए भैंसकी कद्र करता है । भैंस और गाय दोनोंका पालन हिंदुस्तानके लिए आज बड़ी मुश्किल बात हो गई है ।

लेकिन हमें यह समझ लेना चाहिए कि गो-सेवामें गायकी ही सेवाको महत्व देना पड़ता है । बापूने कहा कि अगर हम गायको बचा लेंगे, तो भैंसका भी मामला तय हो जायगा । इसका पूर्ण दर्शन तो अभी मुझे भी नहीं हुआ है और शायद उसकी अभी जरूरत भी नहीं है ।

गाय और भैंसको एक-दूसरेका विरोधी माननेकी जरूरत नहीं है । लेकिन हमें तो गो-सेवासे आरंभ कर देना है और वही हो भी सकता है । हमें समझना चाहिए कि आज हम दरअसल भैंसकी सेवा भी नहीं करते । आज हम जो भैंसकी सेवा करते हैं, वह दरअसल न तो गो-सेवा है और न भैंसकी सेवा ही है । हम उसमें केवल अपना स्वार्थ देखते हैं । हम भैंसका केवल सेवाहीन उपयोग करते हैं । जिस प्रकार उपयोग-हीन सेवा हम नहीं कर सकते, उसी प्रकार सेवा-हीन उपयोग भी हमें नहीं करना है ।

जैसाकि मैं बता चुका हूं, आज भैंसेकी हर तरहसे उपेक्षा की जाती है । वस्तुस्थिति यह है कि हिंदुस्तानके कुछ भागोंमें भैंसेका उपयोग भले ही किया जाता हो, लेकिन साधारणतः हिंदुस्तानकी गरम हवामें भैंसा ज्यादा उपयोगी नहीं हो सकता, भैंसका हम केवल लोभसे पालन कर रहे हैं । नागपुर-बरारमें

गमियोंमें गर्मीका मान एकसौ पंद्रह अंशतक चला जाता है । खासकर उन दिनोंमें भैंसको पानी जरूर चाहिए । मगर यहां तो पानीकी कमी है । पानीके वगैर उसको बेहद तकलीफ होती है, क्योंकि भैंस पूरी तरह जमीनका जानवर नहीं है । वह आधा जमीनका और आधा पानीका प्राणी है । गाय तो पूरी तरह थलचर है । और अक्सर देखा जाता है कि जो पानीवाला जानवर हो, उसके शरीरमें भगवान्ने चरबीकी अधिकता रखी है, क्योंकि ठंड और पानीसे बचनेके लिए उसको उसे जरूरत होती है । मछलीके शरीरमें स्नेह भरा हुआ रहता है । पानीके बाहर निकालते ही वह सूर्यके तापसे जल जाती है । वैसी ही कुछ-कुछ हालत भैंसकी भी है । उसे धूप बरदाश्त नहीं होती । इसीलिए लोग गर्मीके दिनोंमें उसीके मलमूत्रका उसकी पीठपर लेप करते हैं, ताकि कुछ ठंडक रहे । वे जानते हैं कि उस जानवरको उस समय कितनी तकलीफ होती है । देहातोंमें जाकर आप लोगोंसे पूछगे कि आपके गांवमें कितनी भैंस और कितने पाड़े हैं, तो वे कहगे कि भैंसें हैं करीब सौ-डेढ़सौ और पाड़े हैं कुल दस, या बहुत तो बीस । अगर हम उनसे पूछेंगे कि इन स्त्री-पुरुषों या नर-मादाओंकी संख्यामें इतनी विषमता क्यों है ? तो हमारे देहातोंके लोग जवाब देंगे, "क्या करें ? भगवान्की करतूत ही ऐसी है कि भैंसा ज्यादा दिन जीता ही नहीं ।" आखिर यहां भी भगवान्की करतूत आ ही गई ! यह हमारे बुद्धिनाशका लक्षण है । हम उसकी तकलीफका ध्यान न करते हुए भैंसका उपयोग करते हैं कि भैंसे जिंदा ही नहीं रहते और नहीं रहेंगे । मतलब, हम भैंसकी सेवा करते हैं, ऐसी बात नहीं है । उसमें हम सिर्फ भैंसका उपयोग ही करते हैं । बाकी उसकी सेवा कुछ भी नहीं करते । इसलिए आपकी समझमें आ गया होगा कि सेवा-संघकी स्थापना हम किसलिए करते हैं ।

चंद लोग पूछते हैं, "हिंदुस्तान एक कृषि-प्रधान देश है, इसलिए खेतीके वास्ते बैल चाहिए और बैल चाहिए तो गाय भी चाहिए, इत्यादि विचार-श्रेणी तो ठीक है, मगर क्या हिंदुस्तानका यही एक अर्थशास्त्र हो सकता है ? क्या दूसरा कोई अर्थशास्त्र ही नहीं हो सकता ? समय आनेपर हम खेतीका काम ट्रैक्टरसे क्यों न करें ?"

उसके जवाबमें मैं यह पूछता हूं कि ट्रैक्टर चलायंगे तो बैलका क्या

होगा ? जवाब मिलता है, "बैलको हिंदुस्तानके लोग खा जायं । हिंदुस्तानके लोग दूसरे कई जानवरोंका मांस बराबर खाते हैं । उसी तरह बैलका मांस भी खा सकते हैं । यह रास्ता क्यों न लिया जाय ?" इस तरह जब बैलोंके खा जानेकी व्यवस्था होगी, तभी टैक्टर द्वारा जमीन जोतनेकी योजना हो सकती है । कहा जाता है कि बैलोंको अगर हिंदू नहीं खायंगे, तो ग़ैर-हिंदू खायं । आज भी हिंदू गायको बेचते ही हैं । खुद तो कसाईसे पैसा लेते हैं और गो-हत्याका पाप उसे दे देते हैं । ऐसी सुंदर आर्थिक व्यवस्था उन्होंने अपने लिए बना ली है ? वह कहता है कि अगर मैं कसाई को गाय मुफ्तमें देता, तो गो-हत्याके पापका भागी होता । लेकिन मैं तो उसे बेच देता हूं—इसलिए पापका हिस्सेदार नहीं बनता, उस व्यवस्थाको आगे बढ़ायंगे, तो सब ठीक हो जायगा । हम भैंससे दूध लेंगे, बैलोंको खा जायंगे और यंत्रोंके द्वारा खेती करेंगे—इस तरह तीनोंका सवाल हल हो जायगा ।

इसके जवाबमें मैं आप लोगोंको यह समझाना चाहता हूं कि बैलोंको क्यों नहीं खाना चाहिए ? पूर्वपक्षकी दलील यह है कि कुछ पूर्वाग्रह-दूषित (प्रेज्युडिस्ट) लोग बैलको भले ही न खायं; लेकिन बाकीके तो खायंगे और हम यंत्रके द्वारा मजेमें खेती करेंगे । इस विषयमें हमारे विचार साफ होने चाहिए । मैं मानता हूं कि हिंदुस्तानकी आजकी जो हालत है और आगे उसकी जो हालत होनेवाली है, उस हालतमें अगर हम मांसका प्रचार करेंगे और यंत्रसे खेती करेंगे, तो हिंदुस्तान और हम जिंदा नहीं रह सकेंगे । यह समझनेकी जरूरत है । हिंदुस्तानके लोग भी अगर गाय-बैल खाने लगेंगे, तो कितने प्राणियोंकी जरूरत होगी ? उतने बैलोंकी पैदाइश हम यहीं नहीं कर सकेंगे । सिर्फ मांस, या गोश्त खानेका ढोंग तो नहीं करना है । मांस अगर खाना है तो वह हमारे भोजनका नियमित हिस्सा होना चाहिए । तभी तो उससे अपेक्षित लाभ होगा । लेकिन हम जानते हैं कि लोग खा सकें, इतने बैल पैदा नहीं हो सकेंगे । अगर हम इस तरह करने लगे और खेती ट्रैक्टरके द्वारा होने लगी, तो ट्रैक्टरका खर्च बढ़ेगा और गोश्त भी पूरा नहीं पड़ेगा और आखिरमें गाय और बैलका वंश ही नष्ट हो जायगा और उसके साथ मनुष्य भी ।

यूरोप और अमेरिकाकी क्या स्थिति है ? दक्षिण अमेरिकाके अर्जेण्टा-

इनके बंदरगाह व्युनास-आयरिसमें रोज करीब-करीब दस हजार बैल कटते हैं और वहांसे गोश्तके पीपे दूर-दूरके देशोंमें भेजे जाते हैं। अब तो यह व्यवस्था यूरोपके कामकी नहीं रही। लेकिन वैसे भी अगर यह सिलसिला जारी रहा, तो आगे चलकर लोगोंको गोश्त मिलना कठिन हो जायगा। इसलिए यूरोपके डाक्टरोंने अब यह शोध की है और बहुत सोच-विचारकर निर्णय किया है—संभव है उसमें मतभेद होगा, क्योंकि डाक्टरोंमें मतभेद तो हुआ ही करता है—कि गोश्तके मुकाबलेमें दूधमें गुण अधिक हैं। यह शोध हमारे आयुर्वेदिक वैद्यों और हकीमोंने बहुत पहले की है। मैं मानता हूं कि आज यूरोपके लोग जिस तरह मांसाहार करते हैं, उसी तरह हिंदुस्तान-के लोग भी पुराने जमानेमें मांसाहार करते थे। आखिर वे इस नतीजेपर पहुंचे कि अगर हम मांसके बजाय दूधका व्यवहार करेंगे, तो हम भी जिंदा रहेंगे और जानवर भी जिंदा रहेंगे। इसलिए ट्रैक्टरका उपयोग हमारा सवाल हल नहीं कर सकता और हमें यह समझना चाहिए कि गोश्तके बजाय दूधपर भरोसा रखना सब तरहसे लाजिमी होगा।

मेरी यह भविष्यवाणी है कि जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती जायगी, वैसे-वैसे दुनिया भरमें गोश्तकी महिमा कम होगी और दूधकी बढ़ेगी। पूछा जाता है कि 'आखिर दूध भी तो प्राणिजन्य वस्तु है ?' हां, है तो सही। 'फिर दूधको पवित्र क्यों माना गया ?' उसका जवाब अभी मैंने जो कुछ कहा उसीमें मिल सकता है। जैसाकि अभी मैंने कहा, एक समय था जब कि हिंदुस्तानमें मांसाहार ही चलता था। उस वक्त उसमेंसे बचनेके लिए क्या किया जाय, यह सवाल उत्पन्न हुआ। योगियों और वैद्योंने जब लोगोंके सामने गायके दूधकी महिमा रखी, तबसे दूध ऐसी चीज होगई जिसने लोगोंको मांसाहारसे छुड़ाया। इसलिए दूध पवित्र माना गया। इसके सबूत आपको वेदोंमें मिल सकते हैं। ऋग्वेदमें यह वचन पाया जाता है।

गोभिष्टरेम अमतिं दुरेवां,
यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।

इस मंत्रका अर्थ मैंने इस तरह किया है—'भूखको तो हम अन्नके द्वारा मिटा सकते हैं। लेकिन 'दुरेवा अमति'का यानी दुर्भाग्यमें ले जानेवाली बुद्धिका, अर्थात् गोश्तकी तरफ ले जानेवाली अबुद्धिका, गायके दूधके द्वारा

ही हम निवारण कर सकते हैं।' सब तरहकी अबुद्धि मिटानेके लिए और उसमेंसे जहर निकालनेके लिए गायका दूध हमारे काम आता है। इसीलिए गायका दूध पवित्र माना गया है। मतलब यह कि कुल मिला-कर यंत्रवादी जो ट्रैक्टरपर आधार रखनेकी बात कहते हैं, वह गलत है।

फरवरी, १९४२

: ३५ :

भिक्षा

मनुष्यकी जीविकाके तीन प्रकार होते हैं : (१) भिक्षा, (२) पेशा और (३) चोरी।

भिक्षा, अर्थात् समाजकी अधिक-से-अधिक सेवा करके समाजसे सिर्फ शरीर-धारण भरको कम-से-कम लेना, और यह भी विवश होकर और उपकृत भावसे।

पेशा, अर्थात् समाजकी विशिष्ट सेवा करके उसका उचित बदला मांग लेना।

चोरी, अर्थात् समाजकी कम-से-कम सेवा करके या सेवा करनेका नाटक करके या बिल्कुल सेवा किये बिना और कभी-कभी तो प्रत्यक्ष नुकसान करके भी समाजसे ज्यादा-से-ज्यादा भोग लेना।

प्रत्यक्ष चोर-लुटेरे, खूनी और इन्हीं-सरीखे वे 'इंतजामकार' पुलिस, सैनिक हाकिम, वगैरा सरकारी साथी-सहायक; इंतजामके बाहरके वकील, वैद्य, शिक्षक, धर्मोपदेशक वगैरा उच्च-उद्योगी और अव्यापारेषु व्यापार करनेवाले—ये सब तीसरे वर्गमें आते हैं।

मातृभूमिपर मेहनत करनेवाले किसान और जीवनकी प्राथमिक आवश्यकताएं पूरी करनेवाले मजदूर, ये दूसरे वर्गमें जानेके अभिलाषी हैं, जानेवाले नहीं। कारण, उनकी उचित पारिश्रमिक पानेकी इच्छा होते हुए

भी तीसरे वर्गकी करतूतके कारण आज उनमेंसे बहुतोंको उचित पारिश्रमिक नहीं मिलता और वे निस्संदेह तीसरे वर्गमें दाखिल हो जाते हैं ।

पहले वर्गमें दाखिल हो सकनेवाले बहुत ही थोड़े, सच्ची लगनके साधु पुरुष हैं । बहुत ही थोड़े हैं, पर हैं, और उन्हींके बलपर दुनिया टिकी है । वे थोड़े हैं, पर उनका बल अद्‌भुत है ।

"भिक्षावृत्तिका लोप हो रहा है, उसका पुनरुद्धार होना चाहिए ।" जब समर्थ यह कहते हैं तो उनका उद्देश्य इसी पहले वर्गको बढ़ाना है ।

इसीको गीतामें 'यज्ञ-शिष्ट' अमृत खाना कहा है, और गीताका आश्वासन है कि यह अमृत खानेवाला पुरुष मुक्त हो जाता है ।

आज हिंदुस्तानमें बावन लाख 'भीख मांगनेवाले' हैं । समर्थके समयमें भी बहुत 'भिक्षुक' थे, फिर भी भिक्षा-वृत्तिका जीर्णोद्धार करनेकी जरूरत समर्थको क्यों जान पड़ी ?

इसका जवाब भिक्षाकी कल्पनामें है । बावन लाखकी भिक्षाका जो अर्थ है, वह तो चोरीका ही एक प्रकार है ।

भिक्षाका मतलब है अधिक-से-अधिक परिश्रम और कम-से-कम लेना । इतना भी न लिया होता, पर शरीर-निर्वाह नहीं होता, इसलिए उतने भरके लिए लेना पड़ता है, पर हक मानकर नहीं । समाजका मुझपर यह उपकार है, इस भावनासे । भिक्षामें परावलंबन नहीं है, ईश्वरावलंबन है, समाजकी सद्भावनापर श्रद्धा है, यथालाभ संतोष है, कर्त्तव्यपरायणता है, फलनिरपेक्ष वृत्तिका प्रयत्न है ।

लोक-सेवाके शरीर-रक्षणको एक सामाजिक कार्य समझना चाहिए । विशिष्ट सामाजिक कामके लिए यदि किसीको कोई निश्चित रकम दी जाय तो उस रकमका विनियोग उचित रीतिसे, हिसाब रखकर, इसी कार्यके लिए वह करता है । मैं लोक-सेवक हूं, इसलिए मेरा शरीरधारण कार्य भी सामाजिक कार्य है, ऐसा समझकर उसके लिए मुझे, आवश्यकतानुसार समाज देता है । उस रकमका उपयोग मुझे उसी काममें करना चाहिए, उचित रूपसे करना चाहिए, उसका हिसाब रखना चाहिए, और वह हिसाब लोगोंकी जांचके लिए खुला रहना चाहिए । अर्थात् सब तरहसे एक पंच

जैसी संचालन-व्यवस्था करेगा, वैसे 'निर्मम' भावनासे मुझे अपने शरीरकी संचालन-व्यवस्था करनी चाहिए। यह भिक्षावृत्ति है।

कुछ सेवकोंको कहते सुना जाता है—अपने पैसेको हम चाहे जैसे खर्च करें, सामाजिक पैसेका हिसाब ठीक रखेंगे; लोगोंको दिखायेंगे, उनसे आलोचना चाहेंगे, उन्हें होगा तो उत्तर देंगे, नहीं तो क्षमा मांगेंगे। पर हमारे अपने पैसेका हिसाब ठीक रखनेको हम बंधे नहीं हैं, और दिखानेकी तो बात ही नहीं। यदि सचाईसे समाजसेवा करनेवाला कोई आदमी यह कहे तो उसकी सेवा 'पेशा' बन गई। पेशा ईमानदार सही, पर है 'पेशा'; भिक्षावृत्ति नहीं।

भिक्षा कहती है—'तेरा' पैसा कैसा? जैसे खादीके कामके लिए खादी-का ज्ञाता मानकर तुझे पैसा सौंपा गया उसी तरह तेरे शरीरके कामके लिए तुझे उसका ज्ञाता समझकर, पैसा दिया गया। खादीके लिए दिया हुआ पैसा जब तेरा नहीं है, तब तेरे शरीरके लिए दिया हुआ पैसा तेरा कैसे हुआ? दोनों काम सामाजिक ही हैं।

एक खादी-प्रचारकसे पूछा गया, "तुम्हें कितनेकी जरूरत है?"

"तीस रुपये महीनेकी।"

"तुम तो अकेले हो, फिर इतनेकी जरूरत क्यों है?"

"दो-तीन गरीब विद्यार्थियोंको मदद देता हूं।"

हम यह मान लेते हैं कि गरीब विद्यार्थियोंको इस तरह मदद देना अनुचित नहीं है। पर मान लो कि खादीके कामके लिए तुम्हें पैसे दिये गये तो उसमेंसे राष्ट्रीय शिक्षणके काममें लाओगे क्या?"

"ऐसा तो नहीं किया जा सकता।"

"तब तुम्हारे शरीरका पोषण, जो एक सामाजिक काम है, उसके लिए तुम्हें दी गई रकममेंसे गरीब विद्यार्थियोंको मदद देनेमें, जो दूसरा सामाजिक काम है, खर्च करनेका क्या मतलब?"

यह भी भिक्षा-वृत्तिका महत्वपूर्ण मुद्दा है। शिक्षा-वृत्तिवाले मनुष्यको दानका अधिकार नहीं है। दान हो या भोग, दोनोंका कर्त्ता 'मैं' ही हूं। और भिक्षामें 'मैं' को जगह ही नहीं है। इसीसे दोनोंका नहीं। न भोगमें फंसो, न त्यागमें पड़ो—यह भिक्षावृत्तिका सूत्र है। भिक्षावृत्तिके मानी हैं, 'घर

बड़ा करना', बड़ी जिम्मेदारी सिरपर लेना। भिक्षा गैरजिम्मेदारी नहीं है।

भिक्षा मांगनेके मानी हैं, 'मांगना छोड़ देना।' बाइबिलमें कहा है, 'मांगो तो मिल जायगा।' उसका मतलब है भगवानसे मांगो तो मिलेगा। पर समाजसे 'मांगो मत, तो मिलेगा।'

'भिक्षा मांगना' ये शब्द विसंवादी हैं। कारण, भिक्षाके मानी ही हैं न मांगना। 'भिक्षा मांगना' शब्द पुनरुक्त हैं, क्योंकि भिक्षा ही स्वतः सिद्ध मांगना है। भिक्षा मांगनी नहीं पड़ती। कर्त्तव्यकी झोलीमें अधिकार पड़े ही हैं।

जुलाई, १९४०

: ३६ :
युवकोंसे

तुम्हारे खेल देखकर आनंद हुआ। देशका भविष्य तुम बाल-गोपालोंके हाथमें है। तुमने जो खेल दिखाये हैं, वे किसलिए हैं? शक्ति प्राप्त करनेके लिए हैं। शक्ति किसलिए। गरीब लोगोंकी रक्षा के लिए। इसलिए कि गरीबोंके लिए हम उपयोगी हो सके। शरीर घिसानेके लिए तगड़ा बनाना है। चाकूमें धार किसलिए लगाई जाती है? इसलिए नहीं कि वह पड़ा-पड़ा जंग खा जाय; बल्कि इसलिए कि वह काम आ सके। शरीरमें धार लगानी है, उसे फुर्तीला, चपल और मजबूत बनाना है। उद्देश्य यह है कि आगे चलकर उसे हम चंदनके समान घिस सकें। बल सेवाके लिए है।

गीतामें श्रीभगवान्‌ने कहा है, 'बलं बलवतामस्मि कामराग-विवर्जितम।' (बलवानोंमें मैं वैराग्य-युक्त निष्काम बल हूं।) शब्दोंपर खूब ध्यान दो। सिर्फ 'बल' नहीं कहा। 'वैराग्य-युक्त निष्काम बल'। इस वैराग्य-युक्त निष्काम बलकी ही मूर्त्ति हम व्यायामशालाओंमें रखा करते हैं।

वह कौन-सी मूर्त्ति है—हनुमानजीकी पवित्र और सामर्थ्यवान मूर्ति।

हनुमानजी वैराग्य-युक्त निष्काम बलके पुतले थे। इसलिए वाल्मीकिने उनके स्तुति-स्रोत गाये। रावण भी महा बलवान था। लेकिन रावणमें वैराग्य नहीं था। रावणका बल भोगनेके लिए था, दूसरोंको सतानेके लिए था। रावण पहाड़ उठाता था, वज्र तोड़ डालता था, दस आदमियोंका बल मानो उस अकेलेमें था। इसलिए उसके दस मुंह और बीस हाथ दिखाये गये। इतना बलवान होते हुए भी उसका सारा बल धूलमें मिल गया। हनुमानका बल अजरामर होगया। वाल्मीकिने बलकी ये दो मूर्तियां, ये दो चित्र, उपस्थित किये हैं। रावणके बलमें भोग-वासना थी। रावण बलके द्वारा भोग प्राप्त करना चाहता था। हनुमान बलके द्वारा सेवा करना चाहता था। सेवाको अर्पण किया हुआ बल टिकेगा, अमर होगा। भोगको अर्पण किया हुआ बल अपने और संसारके नाशका कारण होगा।

समुद्रके तीरपर सारे वानर बैठे थे। लंकामें कौन जायगा, इसकी चर्चा हो रही थी। हनुमान एक तरफ राम-राम जपते बैठे थे। जामवंत हनुमानके पास जाकर बोला, "हनुमान, तुम जाओगे ?" हनुमान बोला, "आपका आशीर्वाद हो, तो जाऊंगा।"

वह अकेला वानर किस शक्ति के बूते उन बलवान राक्षसोंमें निर्भय होकर चला गया ? हनुमानसे जब यह सवाल पूछा तब उसने क्या यह जवाब दिया कि मैं अपने बाहुबलके जोरपर आया हूं ? हनुमान बोला, "मैं रामके भरोसे यहां आया हूं। मेरे बाजुओंमें जोर है या नहीं, यह मुझे नहीं मालूम; परंतु रामका बल अवश्य मेरे पास है।"

और जरा गहराईसे सोचो, तो बाहुबलका भी क्या अर्थ है ? बाहुबलके मानी हैं शारीरिक श्रम करनेकी शक्ति। इसीके लिए ये हाथ हैं। सेवाके लिए ही हम हस्तवान् हैं। पशुके हाथ नहीं हैं। भुजाओंके बलके प्रयोगसे हम अन्नका निर्माण करें, सेवा करें। हमारी कलाइयोंमें यह जो सेवा करनेकी शक्ति है, वह किसकी शक्ति है ? हनुमान जानता था कि वह आत्माकी शक्ति है, रामकी शक्ति है।

जिस बलकी आत्मामें श्रद्धा न हो, राममें श्रद्धा न हो, वह बल निकम्मा होता है। जिसने रामका बल पहचाना लिया, वह कलिकालसे भी नहीं

डरा करता। शरीरबल रामके लिए है। वह सेवाके लिए है, भोगके लिए नहीं है।

दूसरी बात यह है : भुजाओंमें जो बल है, वह तुच्छ वस्तु है। वह केवल बल निराधार है। वह बल आत्मश्रद्धापर सुप्रतिष्ठित होना चाहिए। निर्बलोंमें भी आत्मश्रद्धासे बल पैदा हो जाता है। उपनिषद् कह रहे हैं कि जिसमें श्रद्धाका बल है, वह दूसरे सौ आदमियोंको कंपा देगा। इसलिए आध्यात्मिक बलकी उपासना चाहिए।

हनुमानमें पशुबल नहीं था। हनुमानका जो स्तुतिश्लोक है, उसमें दूसरे सारे बलोंका वर्णन है; परंतु शरीर-बलका उल्लेख कहीं नहीं है। यथा——

मनोजवं मारुत-तुल्य-वेगम्,
जितेन्द्रियं बुद्धिमतांवरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथ-मुख्यं,
श्रीराम-दूतं शरणं प्रपद्ये ।।

मनके समान वेगवान, वायुके समान वेगवान, जितेंद्रिय, बुद्धिमानोंमें वरिष्ठ, पवनसुत, वानरों सेनापति, रामदूतकी मैं शरण जाता हूं।

हनुमान मन और पवनके समान वेगवान थे। वह जितेंद्रिय थे, वह अत्यंत बुद्धिमान थे, वह नायक थे, वह रामदूत थे——इन सारी बातोंका वर्णन है। हनुमान बलका देवता है। लेकिन इस स्तुतिमें बलका जिक्रतक नहीं। क्या यह आश्चर्यकी बात नहीं है ? परंतु ये गुण ही वास्तविक बल हैं। ये गुण ही यथार्थ कार्य-शक्ति हैं।

मनुष्यमें वेग चाहिए, स्फूर्ति चाहिए, मनके समान वेग चाहिए, सामने काम देखते ही उसे चटसे आनंदसे छलांग मारनी चाहिए। सिंहगढ़ फतह करनेका संदेशा आते ही तानाजी चल पड़ा। नहीं तो मनमें सेवाकी मुराद है, लेकिन शरीर टस-से-मस नहीं होता, वह आलसमें लोट-पोट हो रहा है, ऐसा शरीर किस कामका ? ज्ञानेश्वरने बड़ा सुंदर वर्णन किया है। सेवक कैसा चाहिए। ज्ञानेश्वर कहते हैं——'आंग मनापुढ़ें घे दौड़ा'—— शरीर मनके आगे-आगे दौड़ता है। कोई बात मनमें आनेसे पहले ही शरीर दौड़ने लग जाता है।

शरीरमें इस तरहका वेग होनेके लिए ब्रह्मचर्य चाहिए। जितेंद्रियत्व चाहिए, इंद्रियोंपर काबू चाहिए। संयमके बिना यह बल नहीं मिल सकता। वेग और संयमके साथ-साथ बुद्धि भी चाहिए, कर्म-कुशलता भी चाहिए, कल्पना-शक्ति चाहिए और चाहिए प्रतिभा। सिर्फ फरमाबरदारी ही काफी नहीं है। इसके अलावा रामकी सेवाकी भावना चाहिए। जहां राम कहें, वहां जानेके लिए दिन-रात तैयार रहना चाहिए।

हिंदुस्तानके करोड़ों देवता तुम्हारी सेवाके इच्छुक हैं। उन्हें तुम्हारी सेवाकी जरूरत है। उस सेवाके लिए तैयार रहो। वेगवान, बुद्धिमान, संयमी, सेवाके शौकीन तरुण बनो। शारीरिक बल कमाओ, प्रेम कमाओ। अभी मैंने इस व्यायामशालाके अखाड़ेमें कुश्तियां देखीं। एक कुश्ती एक हरिजन और ब्राह्मणमें हुई। मैंने उसमें समभाव पाया। अगर हम इसी समभावसे आइंदा व्यवहार करेंगे तो समाज बलवान होगा। अगर तुम इस समभावका पोषण करोगे तो, तुम जो खेल खेले, जो कुश्तियां लड़े, उनमेंसे कल्याण ही होगा।

खेलमें हम समभाव सीखते हैं? शिस्त (अनुशासन), व्यवस्थाका महत्त्व सीखते हैं। इन खेलोंके अलावा दूसरे भी अच्छे खेल खेले जा सकते हैं। खेतकी जमीन खोदना भी एक खेल ही है। एक साथ कुदालियां ऊपर उठती हैं, एक साथ जमीनमें घुस रही हैं,—कैसा सुंदर दृश्य दिखेगा। इस खेलमें आदर्श व्यायाम होगा। उसमें बुद्धिके प्रयोगकी भी गुंजाइश है। व्यायाममें बुद्धिको भी गति मिलनी चाहिए। इसलिए मेरे मतसे व्यायाम भी कुछ-न-कुछ उत्पादन करनेवाला होना चाहिए।

यहांके खेलोंसे तुम्हारे अंदर शक्ति और प्रेम दोनों पैदा हों। सब तरहके, सब जातियोंके लड़के एकत्र होते हैं, एक साथ खेलते हैं। इससे प्रेम होता है। ये संस्मरण अगले जीवनमें उपयोगी होते हैं। हम साथ-साथ खेले, कुश्ती लड़े, साथ-साथ शक्ति कमाई, ज्ञान कमाया, हाथ मिलाया आदि संस्मरणोंसे आगे चलकर तुम एकत्र होंगे। संघशक्ति और सहकार्य बढ़ेगा।

तुम गणवेष (वर्दियां) पहने हो। इनका उद्देश्य भी आत्मीयता बढ़ाना ही है। परंतु तुम्हारी पोशाक खादीकी ही हो। जो कमर-पट्टे तुम बरतोगे

वे भी मुर्दार चमड़ेके हों, हमको सर्वत्र सचेत रहना चाहिए। बूंद-बूंदसे ही घड़ा भरता है। राष्ट्रमें सब तरफ सूराख-ही-सूराख हो गये हैं। संपत्ति लगातार बाहर जा रही है। इसकी तरफ ध्यान दो।

तुमने कसरत की। लेकिन दूध और रोटी न मिली, तो कैसे काम चलेगा? अगर तुम्हें दूध चाहिए, तो गोरक्षण भी होना चाहिए। गोरक्षणके लिए गायके—मरी हुई गायके, मारी हुई गायके नहीं—चमड़ेसे बनी हुई चीज ही बरतनी चाहिए। रोटीके लिए किसानको जिलाना चाहिए। खादी खरीदकर हम उनकी थोड़ी-सी मदद करेंगे, तो वे जीयेंगे और हमें रोटी मिलेगी। तुम्हें अगर घरपर रोटी नहीं मिलती, तो यहां आकर कितनी उछल-कूद करते? तुम जानते हो कि घरपर रोटी तैयार है, इसलिए यहां कूदे-फांदे। अन्न कूदने-फांदनेकी शक्ति देता है। इसलिए उपनिषद् कहता है—अन्नं वाव बलाद् भयः (अन्न बलसे श्रेष्ठ है) राष्ट्रमें अगर अन्न न होगा, तो बल कहांसे आयेगा? पहले अन्नका इंतजाम करोगे, तब कहीं अखाड़े चलेंगे। पहले अन्नका प्रबंध होगा तब ज्ञानदानका प्रबंध हो सकेगा।

एक बार भगवान् बुद्धका एक प्रचारक घूम रहा था। उसे एक भिखारी मिला। वह प्रचारक उसे धर्मका उपदेश देने लगा। उस भिखारीने उसकी तरफ ध्यान नहीं दिया। उसमें उसका मन ही नहीं लगता था। प्रचारक नाराज हुआ। बुद्धके पास जाकर बोला, "वहां एक भिखारी बैठा है। मैं उसे इतने अच्छे-अच्छे सिखावन दे रहा था, तो भी वह सुनता ही नहीं।" बुद्धने कहा, "उसे मेरे पास लाओ।" वह प्रचारक उसे बुद्धके पास ले गया। भगवान् बुद्धने उसकी दशा देखी। उन्होंने ताड़ लिया कि वह भिखारी तीन-चार दिनोंसे भूखा है। उन्होंने उसे भरपेट खिलाया और कहा, "अब जाओ।" प्रचारक ने कहा, "आपने उसे खिला तो दिया, लेकिन उपदेश कुछ भी नहीं दिया।" भगवान् बुद्धने कहा, "आज उसके लिए अन्न ही उपदेश था। आज उसे अन्नकी ही सबसे ज्यादा जरूरत थी। वह उसे पहले देना चाहिए। अगर वह जीयेगा तो कल सुनेगा।"

हमारे राष्ट्रकी आज यही दशा है। आज राष्ट्रमें अन्न ही नहीं है। रामदासके जमानेमें अन्न भरपूर था। आजकी तरह उस समय हिंदुस्तानकी

संपत्तिका सोता सूखा नहीं था। इसलिए उन्होंने प्राणका, बलका, उपासनाका, उपदेश दिया। आज देहातोंमें सिर्फ अखाड़े खोल देनेसे काम नहीं चलेगा।

जब राष्ट्रमें अन्नकी उपज और गोसेवा होगी, तभी राष्ट्रका संवर्धन होगा। बलवान तरुणोंको राष्ट्रमें अन्न और दूधकी अभिवृद्धि करनी चाहिए। हिंदुस्तानको फिरसे 'गोकुल' बनाना है। यह जब बनाओगे तब बनाओगे। परंतु आज तो खादीकी पतलून पहनकर और मरे हुए——मारे हुए नहीं——जानवरके चमड़ेका पट्टा पहनकर अन्नदान और गोपालनमें हाथ बंटाओ।

खाकी पोशाक करो। लेकिन वह पोशाक करके गरीबोंके पेट मत मारो। तुम गरीबोंके संरक्षणके लिए कवायदा करोगे। लेकिन गरीब जब जीयेंगे तभी तो उनकी रक्षा करोगे न? तुम खाकी परिधान करके देशके बाहर पैसे भेजोगे और इधर गरीब मरेंगे। फिर संरक्षण किसका करोगे? तुम पैसे तो विदेश भेजोगे और दूध-रोटी मांगोगे देहातियोंसे? वे तुम्हें कहांसे देंगे, भैया? इसलिए खाकी ही पहननी हो, तो खाकी खादी पहनो।

तुम्हारे गणवेष (वर्दियां) खादीके हैं, तुम्हारी संस्थामें हरिजन भी आते हैं, ये बातें बड़ी अच्छी हैं। लेकिन मुसलमानोंको मुमानियत क्यों? हिंदू-मुसलमानोंको एकत्र होने दो। कम-से-कम मुमानियत तो न करो। उन्हें यहां लानेकी कोशिश करो। तुम हिंदू-मुसलमान एक ही देशके हो। एक ही देशके हवा-पानी, अन्न-प्रकाशपर पल रहे हो। अगर हिंदू यहांके हैं तो मुसलमान बाहरके कैसे? और अगर मुसलमान बाहरके हैं, तो हिंदू भी बाहरके हैं। लोकमान्य कहते हैं कि हिंदू लोग उत्तर ध्रुवकी तरफसे आये। हिंदू अगर पांच-दस हजार साल पहले आये, तो मुसलमान हजार साल पहले आये। परंतु आजकी भाषामें तो यहींके कहे जायंगे। दोनों भारत-माताके ही लाल हैं।

सब धर्मोंके विषयमें उदार भावना रखो। जो सच्चा मातृ-भक्त है, वह सभी माताओंको पूज्य मानेगा। वह अपनी माताकी सेवा करेगा, लेकिन दूसरेकी माताका अपमान नहीं करेगा। हरेक अपनी मांके दूध-

पर पलता है। धर्म-माताके समान हैं। मुझे मेरी धर्म-माता प्रिय है। मैं मातृपूजक हूं। इसलिए मैं दूसरेकी माताकी निंदा तो हरगिज नहीं करूंगा। उलटे, उस माताका भी वंदन करूंगा।

दिलमें यह भाव पैदा होनेके लिए यथार्थ हरिभक्तिकी जरूरत है। चित्तमें यथार्थ भक्ति जाग्रत होनेपर यह सब होगा। बाहर उपासना और अंदर उपासना—दोनों चाहिए। बाहर खेल चाहिए, भीतर प्रेम चाहिए। खेलोंके द्वारा शरीर फुर्तीला और सुभग बनाकर आत्माको सौंपना है। शरीर आत्माका हथियार है। हथियार भली-भांति उपयोगी होनेके लिए स्वच्छ चाहिए। शरीर ब्रह्मचर्यके द्वारा स्वच्छ करके आत्माके हवाले करो।

शरीर स्वच्छ रखो, उसी प्रकार मनको भी प्रसन्न, प्रेमल, निर्मल और सम रखो। खेलनेकी बाह्य क्रियासे शरीर स्वच्छ रहेगा। उपासनासे भीतरी शरीर याने मन, निर्मल रहेगा। अंतर-बाह्य शुचि बनो, जैसा यह हनुमान है—बलवान् और भक्तिवान, सेवाके लिए निरंतर तत्पर। तुम उम्रसे तरुण होते हुए भी अगर चपल न होगे, सेवाके लिए शरीर चटसे उठता न होगा, तो तुम बूढ़े ही हो। जिसके शरीरमें वेग है, वह तरुण है, चाहे उसकी अवस्था कुछ भी हो। हनुमान कभी बूढ़े नहीं हो सकते। वह चिर-तरुण हैं। चिरंजीव हैं।

ऐसे चिरतरुण तुम बनो। तुम दीर्घायु होकर उम्रसे वृद्ध होगे, उस वक्त भी तरुण रहो। वेग बनाये रखो। बुद्धि साबुत रखो। मैं ईश्वरसे प्रार्थना करता हूं कि हमारे तरुण इस प्रकार तन्मय बुद्धिसे जनताकी और उसके द्वारा परमेश्वरकी सेवा करनेमें जुट जायं।

नवंबर, १९४१

: ३७ :

गृत्समद

यह एक मंत्रद्रष्टा वैदिक ऋषि था। वर्तमान यवतमाल जिलेके कलंब गांवका रहनेवाला था। गणपतिका महान् भक्त था। 'गणानांत्वा गणपतिं हवामहे' (हम आपका जो कि समूहोंके अधिपति हैं, आवाहन करते हैं) यह सुप्रसिद्ध मंत्र इसीका देखा हुआ है। ऋग्वेदके दस मंडलोंमें द्वितीय मंडल समूचा इसीका है। इस मंडलमें तैंतालीस सूक्त हैं और मंत्र-संख्या चारसौके ऊपर है। ऋग्वेद जगतका अतिप्राचीन और पहला ग्रंथ माना जाता है। ऋग्वेदके भी कुछ अंश प्राचीनतर हैं। इस प्राचीनतर अंशमें द्वितीय मंडलकी गणना होती है। इसपरसे इतिहासज्ञ इस परिणामपर पहुंचे हैं कि गृत्समद गरीब बीस हजार वर्ष पहले हुआ। गृत्समदका यह मंडल सूक्तसंख्या और मंत्र-संख्याके लिहाजसे ऋग्वेदके करीब पच्चीसवें हिस्सेके बराबर होगा।

गृत्समद हरहुनरी आदमी था। ज्ञानी, भक्त और कवि तो वह था ही; लेकिन इसके अलावा गणितज्ञ, विज्ञान-वेत्ता, कृषि-संशोधक और मंजा हुआ बुनकर भी था। जीवनके छोटे-बड़े किसी भी अंगकी उपेक्षा वह सहन नहीं कर सकता था। वह हमेशा कहा करता था, "प्राये प्राये जीगीवांसः स्याम"—"हमें हरेक व्यवहारमें विजयी होना चाहिए।" और उसके ज्वलंत उदाहरणके कारण आसपास रहनेवाले लोगोंमें उत्साहका जाग्रत वातावरण बना रहता था।

गृत्समदके जमानेमें नर्मदासे गोदावरीतकका सारा भूप्रदेश जंगलोंसे भरा हुआ था। पांच-पच्चीस मीलोंके अंतरपर एकाध छोटी-सी बस्ती हुआ करती थी। शेष सारा प्रदेश निर्जन। आसपासके निर्जन वनमें बसी हुई गृत्समदकी एकमात्र बड़ी बस्ती थी। इस बस्तीने संसारका, कपासकी खेतीका, सबसे पहला सफल प्रयोग देखा। आज तो बरार कपासका भंडार बन गया है। गृत्समदके कालमें बरारमें आजकी अपेक्षा बारिशका परिमाण ज्यादा था। उतना पानी सोख लेनेवाला कपासका पौधा गृत्समदने तैयार

किया और उसे एक छोटे-से प्रयोगक्षेत्रमें लगाकर उससे दस सेर कपास प्राप्त किया। गृत्समदकी इस नई पैदावारको लोगोंने 'गार्त्समदम्' नाम दिया। क्या इसीका ही लैटिन रूप 'गौतिपियम्' हो सकता है ?

उसकी बस्तीके लोग ऊन कातना-बुनना अच्छी तरह जानते थे। यह कार्य मुख्यतः स्त्रियोंके सिपुर्द था। आज बुननेका काम पुरुष करते हैं और स्त्रियां कुकड़ी भरने, मांडी लगाने आदिमें उनकी मदद करती हैं। किंतु वैदिक कालमें बुनकरोंका एक स्वतंत्र वर्ग नहीं बना था। खेतीकी तरह बुनना भी सभीका काम था। उस युगकी ऐसी अवस्था थी कि सारे पुरुष खेती करते थे और सारी स्त्रियां घरका काम-काज सम्हालकर बुनती थीं। 'सांझको सूर्य जब अपनी किरणें समेट लेता है, तब बुननेवाली भी अपना अधूरा बुना हुआ तागा समेट लेती हैं'—'पुनः समव्यत् विततं वयंती'—इन शब्दोंमें गृत्समदने बुननेवालीके जीवन-काव्यका वर्णन किया है।

गृत्समदके प्रयोगके फलस्वरूप कपास तो मिल गया, लेकिन, 'कपड़ा कैसे बनाया जाय' यह महान प्रश्न खड़ा हुआ। ऊन कातनेकी जो लकड़ीकी तकली होती थी, उसीपर सबने मिलकर कपासका सूत कात लिया। यद्यपि बुनाई स्त्रियोंके ही सिपुर्द थी, तो भी कातनेका काम तो स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध सभी किया करते थे। सूत तो निकाला, लेकिन बिल्कुल रद्दी। अब उसे कोई बुने भी कैसे ?

गृत्समद हिम्मत हारनेवाला व्यक्ति नहीं था। उसने खुद बुनना शुरू किया। बुननेकी कलाकी सारी प्रक्रियाओंका सांगोपांग अभ्यास किया। सारा सूत दोष-संपन्न पाया। लेकिन उसमेंसे जो थोड़ा पक्का था, उससे उसने 'तंतु' बनाया। 'तंतु'के माने वैदिक भाषामें धागा है। बाकी बचे हुए कच्चे सूतको 'ओतु' कहकर रख लिया। लेकिन मांडी लगानेमें कटाकट-कटाकट तार टूटने लगे। गृत्समद गणितज्ञ होनेके कारण टूटे हुए कितने तारोंको जोड़ना पड़ा इसका हिसाब भी करता था। पहली बारके मांडी लगानेमें टूटे हुए तारोंकी संख्या चार अंकोंकी (हजारकी) थी। बादमें तागा करघेपर चढ़ाया गया। हत्थेकी पहली चोटके साथ चार-पांच तार टूटे। उन्हें जोड़कर फिरसे ठोंका, फिरसे टूटा। इसी तरह कितने ही

हफ्तोंके बाद पहला थान बुना गया । उसके बाद सूत धीरे-धीरे सुधरता चला । लेकिन फिर भी शुरूके बारह वर्षोंमें बुनाईका काम बड़ा ही कष्टकर हो गया था । गृत्समदकी आयुके ये बारह वर्ष यथार्थ तपश्चर्याके वर्ष थे । वह इतना उत्साही और तंतु-ब्रह्म, ओतु-ब्रह्म, ठोंक-ब्रह्म और टूट-ब्रह्मकी ब्रह्मलय वृत्तिसे बुनाईका काम करनेवाला होता हुआ भी, जब सूत लगातार टूटने लगता था तो वह भी कभी-कभी पस्त-हिम्मत हो जाता था । ऐसे ही एक अवसरपर उसने ईश्वरकी प्रार्थना की थी, 'देवाः, मातंतुश्छेदि वयतः'—बुनते वक्त तंतु टूटने न दे । लेकिन ऐसी गलत प्रार्थना करनेके लिए वह तुरंत ही पछताता था । इसलिए उस प्रार्थनामें "धियं मे' याने 'मेरा ध्यान' मैं दो शब्द मिलाकर उसे संवार लिया । "जब मैं अपना ध्यान बुनता होऊं, तो उसका तंतु टूटने न दे"—ऐसा उस संशोधित और परिवर्द्धित प्रार्थनामेंसे सुशोभित अर्थ निकला । उसका यथार्थ इस प्रकार है—"मैं जो खादी बुना करता हूं, यह मेरी दृष्टिसे केवल एक बाह्य क्रिया नहीं है । यह तो मेरी उपासना है । वह ध्यानयोग है । बीच-बीचमें धागोंके टूटते रहनेसे मेरा ध्यान-योग भंग होने लगता है, इसका मुझे दुःख है । इसलिए यह इच्छा होती है कि धागे न टूटने चाहिए । लेकिन यह इच्छा उचित होते हुए भी, प्रार्थनाका विषय नहीं हो सकती । उसके लिए सूतमें उन्नति करनी चाहिए । और वह कर लूंगा । लेकिन जबतक सूत कच्चा रहेगा, तबतक वह टूटता तो रहेगा ही । इसलिए अब यही प्रार्थना है कि सूतके साथ-साथ मेरी अंतर्वृत्तिका, मेरे ध्यानका, धागा न टूटे ।

गृत्समद अखंड अंतर्मुख वृत्ति रखनेका प्रयत्न करता हुआ भी प्रतिदिन कोई-न-कोई शरीर-परिश्रमात्मक और उत्पादक कार्य करता ही रहता था । 'माहं अन्यकृतेव भोजम्'—'मैं दूसरोंके परिश्रमोंसे भोग कदापि प्राप्त न करूं ।'—यही उसका जीवन-सूत्र था । वह लोक-सेवा-परायण था । इसलिए उसके योग-क्षेमकी चिंता लोग किया करते थे । लेकिन वह अपने मनमें सदा यही चिंतन किया करता था कि 'लोगोंसे मैं जितना पाता हूं, क्या उसे शतगुणित करके उन्हें लौटाता हूं ? और उसमें भी क्या नवीन उत्पादनका कोई अंश होता है ?'

इसी चिंतनके फलस्वरूप ही मानो एक दिन उसे अचानक गुणाकारकी कल्पना स्फुरित हुई। गणितशास्त्रको लोक-व्यवहार-सुलभ बनानेकी दृष्टिसे वह फुरसतके समय उसमें आविष्कार करता रहता था। उसके समयमें षड्विधियोंमेंसे लोग सिर्फ जोड़ना और घटाना ही जानते थे। जिस दिन गृत्समदने गुणन-विधिका आविष्कार किया, उस दिन उसके आनंदका पारावार ही नहीं रहा। उसने दोसे लेकर नौ तकके नौ पहाड़े बनाये और फिर तो वह बांसों उछलने लगा। पहाड़े रटनेवाले लड़कोंको कहीं इस बातका पता लग जाय तो वे गृत्समदको बिना पत्थर मारे नहीं रहेंगे। लेकिन गृत्समदने आनंदके आवेशमें आकर इंद्रदेवका आवाहन पहाड़ोंसे ही करना शुरू किया—"हे इंद्र! तू दो घोड़ोंके, और आठ घोड़ोंके और दस घोड़ोंके रथमें बैठकर आ। जल्दी-से-जल्दी आ। इसके लिए तेरी मर्जी हो, तो दोके पहाड़ेके बदले दसके पहाड़ेसे काम ले। दस घोड़ोंके, बीस घोड़ोंके, तीस घोड़ोंके और चालीस घोड़ोंके,...और सौ घोड़ोंके रथमें बैठकर आ।"

गृत्समद चौमुखा आविष्कारक था। पौराणिकोंने उसके इन महान् आविष्कारका लेखा किया है कि चद्रंमाका गर्भकी वृद्धिपर विशेष परिणाम होता है। वैदिक मंत्रोंमें भी इसकी ध्वनि पाई जाती है। चंद्रमामें मातृ-वृत्ति रम गई है और कलावान् तो वह है ही। इसलिए सूर्यकी ज्ञानमय प्रखर किरणोंको पचाकर और उन्हें भावनामय सौम्य रूप देकर रूप माताके हृदयमें रहनेवाले कोमल गर्भ तक उस जीवनामृतको पहुंचानेका प्रेमपूर्ण और कुशल कार्य चंद्र कर सकता है और वह उसे निरंतर करता रहता है—यह गृत्समदका आविष्कार है।

सितंबर, १९४१

: ३८ :

लोकमान्यके चरणोंमें

१९२० में तिलक शरीर-रूपसे हमारे बीच नहीं रहे। उस समय मैं बंबई गया था। चार-पांच दिन पहले ही पहुंचा था; परंतु डाक्टरने कहा, "अभी कोई डर नहीं है।" इसलिए मैं एक कामसे साबरमती जानेको रवाना हुआ। मैं आधा रास्ता भी पार न कर पाया होऊंगा कि मुझे लोकमान्यकी मृत्युका समाचार मिला। मेरे अत्यंत निकटके आत्मीय, सहयोगी और मित्रकी मृत्युका जो प्रभाव हो सकता है, वही लोकमान्यके निधनका हुआ। मुझपर बहुत गहरा असर हुआ। उस दिनसे जीवनमें कुछ नयापन-सा आ गया। मुझे ऐसा लगा मानो कोई बहुत ही प्रेम करनेवाला कुटुंबी चल बसा हो। इसमें जरा भी अत्युक्ति नहीं है। आज इतने बरस हो गये। आज फिर उनका स्मरण करना है। लोकमान्यके चरणोंमें अपनी यह तुच्छ श्रद्धांजलि मैं अपनी गहरी श्रद्धाके कारण चढ़ा रहा हूं।

तिलकके विषयमें जब कुछ कहने लगता हूं तो मुंहसे शब्द निकालना कठिन हो जाता है। गदगद् हो उठता हूं। साधु-संतोंका नाम लेते ही मेरी जो स्थिति होती है, वही इस नामसे भी होती है। मैं अपने चित्रका भाव ही प्रकट नहीं कर सकता। उत्कट भावनाको शब्दोंमें व्यक्त करना कठिन होता है। गीताका भी नाम लेते ही मेरी ऐसी स्थिति हो जाती है, मानों स्फूर्तिका संचार हो जाता है। भावनाओंकी प्रचंड बाढ़ आ जाती है। वृत्ति उमड़ने लगती है, परंतु यह बड़प्पन मेरा नहीं है। बड़प्पन गीताका है। यही हाल तिलकके नामका है। मैं तुलना नहीं करता; क्योंकि तुलनामें सदा दोष आ जाते हैं; परंतु जिनके नामके स्मरणमें ऐसी स्फूर्ति देनेकी शक्ति है, उन्हींमेंसे तिलक भी हैं, मानों उनके स्मरणमें ही शक्ति संचित है। रामनामको ही देखिए। कितने जड़ जीवोंका इस नामके स्मरणसे उद्धार हो गया, इसकी गिनती कौन करेगा? अनेक आंदोलन, अनेक ग्रंथ, इतिहास, पुराण——इनमेंसे किसी भी चीजका उतना प्रभाव न हुआ होगा जितना कि

रामनामका हुआ है और हो रहा है। राष्ट्रोंका उदय हुआ और अस्त हुआ। राज्योंका विकास हुआ और लय हुआ। किंतु रामनामकी सत्ता अबाधित-रूपसे विद्यमान है। तुलसीदासजीने कहा है—"कहउं नाम बड़ राम तें।—हे राम, मुझे तुझसे तेरा नाम ही अधिक प्रिय है। तेरा रूप तो उस समयके अयोध्यावासियोंने और उस जमानेके नर-वानरोंने देखा। हमारे सामने तेरा रूप नहीं, लेकिन तेरा नाम है। जो महिमा तेरे नाममें है, वह तेरे रूपमें नहीं। हे राम, तूने शबरी, जटायु आदिका उद्धार किया। लेकिन वे तो सुसेवक थे। इसमें तेरा बड़प्पन कुछ नहीं; परंतु तेरे नामने अनेक खलजनोंका उद्धार किया, यह वेद कहते हैं।"

"शबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्ह रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेद-बिदित गुनगाथ।।"

तुलसीदासजी कहते हैं, रामकी महिमा गानेवाले मूढ़ हैं। रामने तो बड़े-बड़े सेवकोंका उद्धार किया। परंतु नामने? नामने असंख्य जड़-मूढ़ोंका उद्धार किया। शबरी तो असामान्य स्त्री थी। उसका वैराग्य और उसकी भक्ति कितनी महान् थी। वैसा ही वह जटायु था। इन श्रेष्ठ जीवोंका, इन भक्तजनोंका रामने उद्धार किया। कौन बड़ी बात हुई? परंतु रामनाम तो दुर्जनोंको भी उबारता है। और दरअसल मुझे इसका अनुभव हो रहा है, मुझसे बड़ा खल दूसरा कौन हो सकता है। मेरे समान दुष्ट मैं ही हूं। मुझे इस विषयमें दूसरोंका मत जाननेकी जरूरत नहीं। नामसे उद्धार होता है। जिन्होंने पवित्र कर्म किये, अपना शरीर परमार्थमें खपाया, उनके नाममें ऐसा सामर्थ्य आ जाता है।

इसीमें मनुष्यकी विशेषता है। आहार-विहारादि दूसरी बातोंमें मनुष्य और पशु समान ही हैं। परंतु जिस प्रकार मनुष्य पशु या पशुसे भी नीच बन सकता है, उसी प्रकार पराक्रमसे, पौरुषसे, वह परमात्माके निकट भी जा सकता है। मनुष्यमें ये दोनों शक्तियां हैं। खूब मांस और अंडे वगैरा खाकर, दूसरे प्राणियोंका भक्षण कर वह शेरके समान हृष्ट-पुष्ट भी बन सकता है, या दूसरोंके लिए अपना शरीर भी फेंक सकता है। मनुष्य अपने लिए अनेकोंका घात करके पशु बन सकता है, या अनेकोंके लिए अपना बलिदान कर पवित्रनामा भी बन सकता है। पशुकी शक्ति

मर्यादित है। उसकी बुराईकी भी मर्यादा है। लेकिन मनुष्यके पतनकी या ऊपर उठनेकी कोई सीमा नहीं है। वह पशुसे भी नीचे गिर सकता है और इतना ऊपर चढ़ सकता है कि देवता ही बन जाता है। जो गिरता है, वही चढ़ भी सकता है। पशु अधिक गिर भी नहीं सकता, इसलिए चढ़ भी नहीं सकता। मनुष्य दोनों बातोंमें पराकाष्ठा कर सकता है। जिन लोगोंने अपना जीवन सारे संसारके लिए अर्पण कर दिया, उनके नाममें बहुत बड़ी पवित्रता आ जाती है। उनका नाम ही तारेके समान हमारे सम्मुख रहता है। हम नित्य तर्पण करते हुए कहते हैं, 'वशिष्ठं तर्पयामि' 'भारद्वाजं तर्पयामि' 'अत्रिं तर्पयामि,' इन ऋषियोंके बारेमें हम क्या जानते हैं? क्या सात या आठसौ पन्नोंमें उनकी जीवनी लिख सकते हैं? शायद एकाध सफा भी नहीं लिख सकेंगे। लेकिन उनकी जीवनी न हो तो भी वशिष्ठ—यह नाम ही काफी है। यह नाम ही तारक है। और कुछ शेष रहे या न रहे, केवल नाम ही तारेके समान मार्ग-दर्शक होगा, प्रकाश देगा। मेरा विश्वास है कि सैकड़ों वर्षोंके बाद तिलकका नाम भी ऐसा ही पवित्र माना जायगा। उनका जीवन-चरित्र आदि बहुत-सा नहीं रहेगा, किंतु इतिहासके आकाशमें उनका नाम तारेके समान चमकता रहेगा।

हमें महापुरुषोंके चारित्र्यका अनुसरण करना चाहिए, न कि उनके चरित्रका। दरअसल महत्त्व चारित्र्यका है। शिवाजी महाराजने सौ-दो-सौ किले बनवाकर स्वराज्य प्राप्त किया। इसलिए आज यह नहीं समझना चाहिए कि उसी तरह किले बनानेसे स्वराज्य प्राप्त होगा। किंतु जिस वृत्तिसे उन्होंने अपना जीवन बिताया और लड़ाई की, वह वृत्ति, वे गुण हमें चाहिए। जिस वृत्तिसे शिवाजीने काम किया, उस वृत्तिसे हम आज भी स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिए मैंने कहा है कि उस समयका रूप हमारे कामका नहीं है, उसका भीतरी रहस्य उपयोगी है। चरित्र उपयोगी नहीं, चारित्र्य उपयोगी है। कर्त्तव्य करते हुए उनकी जो वृत्ति थी वह हमारे लिए आवश्यक है। उनके गुणोंका स्मरण आवश्यक है। इसीलिए तो हिंदुओंने चरित्रका बोझ छोड़कर नाम-स्मरणपर जोर दिया। इतने महान् व्यक्तियोंका सारा चरित्र दिमागमें रखनेकी कोशिश करें तो उसीके मारे दम घटने लगे। इसीलिए केवल गुणोंका स्मरण करना है, चरित्रका अनुकरण नहीं।

एक कहानी मशहूर है । कुछ लड़कोंने 'साहसी' यात्री नाम की एक पुस्तक पढ़ी । फौरन यह तय किया गया कि जैसा उस पुस्तकमें लिखा है, वैसा ही हम भी करें । उस पुस्तकमें बीस-पच्चीस युवक थे । ये भी जहां-तहांसे बीस-पच्चीस इकट्ठे हुए । पुस्तकमें लिखा था कि वे एक जंगलमें गये । फिर क्या था ? ये भी एक जंगलमें पहुंचे । पुस्तकमें लिखा था उन लड़कोंको जंगलमें एक शेर मिला । अब ये बेचारे शेर कहांसे लायें ? आखिर, उनमें जो एक बुद्धिमान् लड़का था वह कहने लगा, "अरे भाई, हमने तो शुरूसे आखिरतक गलती ही की । हम उन लड़कोंकी नकल उतारना चाहते हैं । लेकिन यहां तो सबकुछ उलटा ही हो रहा है । वे लड़के कोई पुस्तक पढ़कर थोड़े ही निकले थे मुसाफिरी करने ! हमसे तो शरूमें ही गलती हुई ।"

तात्पर्य यह कि हम चरित्र की सारी घटनाओं का अनुकरण नहीं कर सकते, चरित्रका तो विस्मरण होना चाहिए । केवल गुणोंका स्मरण पर्याप्त है । इतिहास तो भूलनेके लिए ही है और लोग उसे भूल भी जाते हैं । लड़कोंके ध्यानमें वह सब-का-सब रहता भी नहीं है । इसके लिए उनपर फिजूल मार भी पड़ती है । इतिहाससे हमें सिर्फ गुण ही लेने चाहिए । जो गुण हैं, उन्हें कभी भूलना नहीं चाहिए, श्रद्धापूर्वक याद रखना चाहिए । पूर्वजोंके गुणोंका श्रद्धापूर्वक स्मरण ही श्राद्ध है । यह श्राद्ध पावन होता है । आजका श्राद्ध मुझे पावन प्रतीत होता है । उसी प्रकार आपको भी अवश्य होता होगा ।

तिलकका पहला गुण कौन-सा था ? तिलक जातितः ब्राह्मण थे । लेकिन जो ब्राह्मण नहीं हैं, वे भी उनका गुण स्मरण कर रहे हैं । तिलक महाराष्ट्रके मराठे थे । लेकिन पंजाबके पंजाबी और बंगालके बंगाली भी उन्हें पूज्य मानते हैं । हिंदुस्तान तिलकका ब्राह्मणत्व और उनका मराठापन, सबकुछ भूल गया है । यह चमत्कार है । इसमें रहस्य है—दोहेरा रहस्य है । इस चमत्कारमें तिलकका गुण तो है ही, हमारे पूर्वजोंकी कमाईका भी गुण है । जनताका एक गुण और तिलकका एक गुण—दोनोंके प्रभावसे यह चमत्कार हुआ कि ब्राह्मण और महाराष्ट्रीय तिलक सारे भारतमें सभी जातियों द्वारा पूजे जाते हैं । दोनोंके गुणकी ओर हमें ध्यान

देना चाहिए। इस अवसरपर मुझे अहल्याकी कथा याद आरही है। रामायणमें मुझे अहल्याकी कथा बहुत सुहाती है। रामका सारा चरित्र ही श्रेष्ठ है और उसमें यह कथा बहुत ही प्यारी है। आज भी यह बात नहीं कि हमारे अंदर राम (सत्व) न रहा हो। आज भी राम है। राम-जन्म हो चुका है, चाहे उसका किसीको पता हो या न हो। परंतु आज राष्ट्र में राम है, क्योंकि अन्यथा यह जो थोड़ा-बहुत तेजका संचार देख पड़ता है, वह न दिखाई देता। गहराईसे देखें तो आज रामका अवतार हो चुका है। यह जो राम-लीला हो रही है, इसमें कौन-सा हिस्सा लूं, किस पात्रका अभिनय करूं, यह मैं सोचने लगता हूं। रामकी इस लीलामें मैं क्या बनूं? लक्ष्मण बनूं? नहीं, नहीं। उनकी वह जागृति, वह भक्ति कहांसे लाऊं? तो क्या भरत बनूं? नहीं, भरतकी कर्त्तव्य-दक्षता, उत्तरदायित्वका बोध, उनकी दयालुता और त्याग कहांसे लाऊ। हनुमानका तो नाम भी मानों रामका हृदय ही है। तो फिर गांठमें पुण्य नहीं है, इसलिए क्या रावण बनूं? ऊऽऽहूं। रावण भी नहीं बन सकता। रावणकी उत्कटता, महत्वकांक्षा मेरे पास कहां है? फिर मैं कौन-सा स्वांग लूं? किस पात्रका अभिनय करूं? क्या कोई ऐसा पात्र नहीं है जो मैं बन सकूं? जटायु, शबरी?—ये तो सुसेवक थे। अंतमें मुझे अहल्या नजर आई। अहल्या तो पत्थर बनकर बैठी थी।

सोचा, मैं अहल्याका अभिनय करूं। जड़ पत्थर बनकर बैठूं। इतनेमें वह अहल्या बोल उठी, "सारी रामायणमें सबसे तुच्छ जड़-मूढ़ पात्र क्या मैं ही ठहरी? अरे बुद्धिमान, क्या अहल्या का पात्र सबसे निकृष्ट है? मुझमें क्या कोई योग्यता ही नहीं? अरे, रामकी यात्रामें तो अयोध्यासे लेकर रामेश्वरतक हजारों पत्थर थे, उनका उद्धार क्यों नहीं हुआ? मैं कोई नालायक पत्थर नहीं हूं। मैं भी गुणी पत्थर हूं।" अहल्याकी बात मुझे जंच गई। परंतु अहल्याके पत्थरमें गुण थे, तो भी यह सारी महिमा केवल उस पत्थर की नहीं। उसी प्रकार सारी महिमा रामके चरणोंकी भी नहीं। अहल्याके समान पत्थर और रामके चरणों-जैसे चरण, दोनोंका संयोग चाहिए। न तो रामके चरणोंसे दूसरे पत्थरोंका ही उद्धार हुआ और न किसी दूसरेके चरणोंसे अहल्याका ही।

इसे मैं अहल्या-राम-न्याय कहता हूं। दोनोंके मिलापसे काम होता है।

यही न्याय तिलकके दृष्टांतपर घटित होता है । तिलकका ब्राह्मणत्व, महाराष्ट्रीयत्व आदि सब भूलकर सारा हिंदुस्तान उनकी पुण्य-स्मृति मानता है । इस चमत्कारमें तिलकके गुण और जनताके गुण, दोनोंका स्थान है । इस चमत्कारके दोनों कारण हैं । कुछ गुण तिलकका है और कुछ उन्हें माननेवाली साधारण जनताका । हम उन गुणोंका जरा पृथक्करण करें ।

तिलकका गुण यह था कि उन्होंने जो कुछ किया उसमें सारे भारतवर्षका विचार किया । तिलकके फूल बंबईमें गिरे, इसलिए वहां उनके स्मारक मंदिर होंगे । उन्होंने मराठीमें लिखा, इसलिए मराठी भाषामें उनके स्मारक होंगे । लेकिन तिलकने जहां कहीं जो कुछ किया—चाहे जिस भाषामें क्यों न किया हो, वह सब भारतवर्षके लिए किया । उन्हें यह अभिमान नहीं था कि मैं ब्राह्मण हूं । मैं महाराष्ट्रका हूं । उनमें पृथक्ताकी, भेदकी, भावना नहीं थी । वह महाराष्ट्रीय थे तो भी उन्होंने सारे भारतवर्षका विचार किया । जिन अर्वाचीन महाराष्ट्रीय विभूतियोंने सारे भारतवर्षका विचार किया, तिलक उनमेंसे एक थे । और दूसरे जो मेरी दृष्टिके सामने आते हैं, वह थे महर्षि न्यायमूर्ति रानडे । तिलकने महाराष्ट्रको अपनी जेबमें रखा और सारे हिंदुस्तानके लिए लड़ते रहे । "हिंदुस्तानके हितमें मेरे महाराष्ट्रका भी हित है, इसीलिए पूनेका हित है, पूनेमें रहनेवाले मेरे परिवारका हित है और परिवारमें रहनेवाले मेरा भी हित है । हिंदुस्तानके हितका विचार करनेसे उसीमें महाराष्ट्र, पूना, मेरा परिवार और मैं, सबके हितका विचार आ जाता है ।" यह तत्त्व उन्होंने जान लिया था, और उसीके अनुसार उन्होंने काम किया । ऐसी विशाल उनकी व्याख्या थी । जो सच्ची सेवा करना चाहता है, उसे वह सेवा किसी मर्यादित स्थानमें करनी पड़ेगी । लेकिन उस मर्यादित स्थानमें रहकर की जानेवाली सेवाके पीछे जो वृत्ति रहेगी, वह विशाल, व्यापक और अमर्यादित होनी चाहिए ।

शालग्राम मर्यादित है । लेकिन उसमें मैं जिस भगवान्के दर्शन करता हूं, वह सर्वब्रह्मांडव्यापी, चर-अचर, जड़-चेतन सबमें निवास करनेवाला ही है । तभी तो वह वास्तविक पूजा हो सकती है । 'जलेस्थले तथा काष्ठे विष्णुः पर्वतमूर्धनि ।' उस त्रिभुवन व्यापक विष्णुको यदि वह पुजारी

शालग्राममें न देखेगा तो उसकी पूजा निरा पागलपन होगी । सेवा करनेमें भी खूबी है, रहस्य है । अपने गांवमें रहकर भी मैं विश्वेश्वरकी सेवा कर सकता हूं । दूसरेको न लूटते हुए जो सेवा की जाती है वह अनमोल हो सकती है, होती भी है ।

तुकारामने अपना देहू नामक गांव नहीं छोड़ा । रामदास दस गांवोंमें विचरे और सेवा करते रहे । फिर भी दोनोंकी सेवाका फल एक है, अनंत है । यदि बुद्धि व्यापक हो तो अल्प कर्मसे भी अपार मल्य मिलता है । सुदामा मट्ठीभर ही तंदुल लेकर गये थे, लेकिन उन तंदुलोंमें प्रचंड शक्ति थी । सुदामाकी बुद्धि व्यापक थी । बहुत बड़ा कर्म करनेपर भी कुछ अभागोंको बहुत थोड़ा फल मिलता है । लेकिन सुदामा छोटे-से कर्मसे बहुत बड़ा फल प्राप्त कर सके । जिसकी बुद्धि शुद्ध, निष्पाप, पवित्र तथा समत्वयुक्त है, भक्तिमय और प्रेममय है, वह छोटी-सी भी क्रिया करे तो भी उसका फल महान् होता है, मूल्य बहुत बड़ा होता है । यह एक महान् आध्यात्मिक सिद्धांत है । मांका पत्र दो ही शब्दोंका क्यों न हो, विलक्षण प्रभाव डालता है । वह प्रेमकी स्याहीसे पवित्रताके स्वच्छ कागजपर लिखा होता है । दूसरा कोई पोथा कितने ही सफेद कागजपर क्यों न लिखा हुआ हो, यदि उसके मूलमें शुद्ध बुद्धि न हो, निर्मल बुद्धि न हो, जो कुछ लिख गया है वह प्रेममें ढला हुआ न हो, तो सारा पोथा बेकार है ।

परमात्माके यहां 'कितनी सेवा', यह पूछ नहीं है । 'कैसी सेवा', यह पूछ है । तिलक अत्यंत बुद्धिमान, विद्वान, नाना शास्त्रोंके पंडित थे, इसलिए उनकी सेवा अनेकांगी और बहुत बड़ी है । परंतु तिलकने जितनी कीमती सेवाकी, उतनी ही कीमती सेवा एक देहाती भी कर सकता है । तिलककी सेवा विपुल और बहुअंगी थी; तोभी उसका मूल्य और एक स्वच्छ सेवककी सेवाका मूल्य बराबर हो सकता है । एक गाड़ीभर ज्वार रास्तेसे जा रही हो, लेकिन उसकी कीमत मैं अपनी छोटी-सी जेबमें रख सकता हूं । दस हजारका नोट अपनी जेबमें रख सकता हूं । उसपर सरकारी मुहरभर लगी हो । आपकी सेवापर व्यापकताकी मुहर लगी होनी चाहिए । अगर कोई सेवा तो बहुत करे, पर व्यापक दृष्टि और वृत्तिसे न करे तो उसकी कीमत व्यापक दृष्टिसे की हुई छोटी-सी सेवाकी अपेक्षा कम ही मानी

जायगी। व्यापक वृत्तिसे की हुई अल्प सेवा अनमोल हो जाती है, यह उसकी खूबी है । आप और मैं सबकोई सेवा कर सकें, इसीलिए परमात्माकी यह योजना है। चाहे जहां चाहे जो कुछ भी कीजिए, पर संकुचित दृष्टिसे न कीजिए । उसमें व्यापकता भर दीजिए । यह व्यापकता आजके कार्यकर्ताओंमें कम पाई जाती है । कुशल कार्यकर्ता आज संकुचित दृष्टिसे काम करते हुए देख पड़ते हैं ।

तिलककी दृष्टि व्यापक थी, इसलिए उनके चारित्र्यमें मिठास और आनंद है । हिंदुस्तानके ही नहीं, बल्कि संसारके किसी भी समाजके वास्तविक हितका विरोध न करते हुए चाहे जहां सेवा कीजिए । चाहे वह एक गांवकी ही सेवा क्यों न हो, वह अनमोल है, परंतु यदि बुद्धि व्यापक हो तो अपनी दृष्टि व्यापक बनाइए । फिर देखिए, आपके कर्मोंमें कैसी स्फूर्तिका संचार होता है । कैसी बिजलीका संचार होता है । तिलकमें यही व्यापकता थी । मैं भारतीय हूं, यह शुरूसेही उनकी वृत्ति रही । बंगालमें आंदोलन शुरू हुआ । उन्होंने दौड़कर उसकी मदद की । बंगालका साथ देनेके लिए महाराष्ट्रको खड़ा किया । स्वदेशीका डंका बजवाया । "जब बंगाल लड़ाई के मैदान में खड़ा है तो हमें भी जाना ही चाहिए । जो बंगालका दुःख है, वह महाराष्ट्रका भी दुःख है ।" ऐसी व्यापकता, सार्वराष्ट्रीयता तिलकमें थी । इसीलिए पूनेके निवासी होकर भी वे हिंदुस्तानके प्राण बन गए । सारे देशके प्रिय बने । तिलक सारे भारतवर्षके लिए पूजनीय हुए, इसका एक कारण यह था कि उनकी दृष्टि सार्वराष्ट्रीय थी, व्यापक थी ।

लेकिन इसका एक दूसरा भी कारण था । वह था जनता की विशेषता । जनताका यह गुण कार्यकर्त्ताओंमें भी है, क्योंकि वे भी तो जनताके ही हैं । लेकिन उनको खुद इस बातका पता नहीं है । तिलकके गुणके साथ जनताके गुणका स्मरण भी करना चाहिए, क्योंकि तिलक अपने-आपको जनताके चरणोंकी धूल समझते थे । जनताके दोष, जनताकी दुर्बलता, त्रुटियां, सबकुछ वे अपनी ही समझते थे । वे जनतासे एकरूप हो गये थे, इसलिए जनताके गुणोंका स्मरण तिलकके गुणोंका स्मरण ही है ।

यह जो जनताका गुण है, वह हमारा कमाया हुआ नहीं है । हमारे महान् पुण्यवान्, विशाल दृष्टिवाले पूर्वजोंकी यह देन है । यह गुण मानों

हमने अपनी मांके दूधके साथ ही पिया है। उन श्रेष्ठ पूर्वजोंने हमें यह सिखाया कि मनुष्य किस प्रांतका, किस जातिका है, यह देखनेके बदले इतना ही देखो कि वह भला है या नहीं, वह भारतीय है या नहीं। उन्होंने हमें यह सिखाया कि भारतवर्ष एक राष्ट्र है। कई लोग कहते हैं कि अंग्रेजोंने यहां आकर हमें देशाभिमान सिखलाया, तब कहीं हम राष्ट्रीयतासे परिचित हुए। पर यह गलत है। एक राष्ट्रीयता की भावना अगर हमें किसीने सिखाई है तो वह हमारे पुण्यवान् पूर्वजोंने। उन्हींकी कृपासे यह अनूठी देन हमें प्राप्त हुई है।

हमारे राष्ट्रर्षिने हमें यह सिखावन दी है कि 'दुर्लभं भारते जन्म'। 'दुर्लभं वंगेषु जन्म', 'दुर्लभं गुर्जरेषु जन्म', ऐसा उन्होंने नहीं कहा। ऋषिने तो यही कहा कि 'दुर्लभं भारते जन्म।' काशीमें गंगातटपर रहनेवालेको किस बातकी तड़प होती है। वह इसके लिए तड़पता है कि काशीकी गंगाकी बहंगी या कांवर भरकर कब रामेश्वरको चढ़ाऊं? मानो काशी और रामेश्वर उसके मकानका आंगन और पिछवाड़ा हो। वास्तवमें तो काशी और रामेश्वरमें पद्रंहसौ मीलका फासला है, परंतु आपको आपके श्रेष्ठ ऋषियोंने ऐसा वैभव दिया है कि आपका आंगन पंद्रह सौ मीलका है। रामेश्वरमें रहनेवाला इसलिए तड़पता है कि रामेश्वरके समुद्रका जल काशी-विश्वेश्वरके मस्तकपर चढ़ाऊं। वह रामेश्वरका समुद्र-जल काशी तक ले जायगा। कावेरी और गोदावरीके जलमें नहानेवाला भी 'जय गंगे', 'हरगंगे' ही कहेगा। गंगा सिर्फ काशीमें ही नहीं, यहांपर भी है। जिस बर्तनमें हम नहानेके लिए पानी लेते हैं, उसे भी गगाजल (गंगालय) नाम दे दिया है। कैसी व्यापक और पवित्र भावना है यह। यह भारतीय भावना है।

यह भावना आध्यात्मिक नहीं, किंतु राष्ट्रीय है। आध्यात्मिक मनुष्य 'दुर्लभं भारते जन्म' नहीं कहेगा। वह और ही कहेगा। जैसा कि तुकारामने कहा, 'आमुचा स्वदेश। भुवनत्रया मध्यें वास॥' (स्वदेशो भुवनत्रयम्) उन्होंने आत्माकी मर्यादाको व्यापक बना दिया। सारे दरवाजों, सारे किलों को तोड़कर आत्माको प्राप्त किया। तुकारामके समान महापुरुषोंने, जो आध्यात्मिक रंगमें रंगे हुए थे, अपनी आत्माको स्वतंत्र संचार करने

दिया। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' इस भावनासे प्रेरित होकर, सारे भेद-भावोंको पारकर जो सर्वत्र चिन्मयताके दर्शन कर सकें, वे धन्य हैं। लोग भी समझ गये कि ये सारे विश्वके हैं, इनकी कोई सीमा नहीं है। परंतु 'दुर्लभं भारते जन्म' की जो कल्पना ऋषियोंने की, वह आध्यात्मिक नहीं, राष्ट्रीय है।

वाल्मीकिने अपनी रामायणके प्रारंभिक श्लोकोंमें रामके गुणोंका वर्णन किया है। रामका गुणगान करते हुए राम कैसे थे, इसका वे यों वर्णन करते हैं कि 'समुद्रइव गाम्भीर्ये स्थैर्ये च हिमवानिव'—"स्थिरता ऊपरवाले हिमालय-जैसी और गांभीर्य पैरोंके निकटवाले समुद्र-जैसा।" देखिए, कैसी विशाल उपमा है। एक सांसमें हिमालयसे लेकर कन्याकुमारीतकके दर्शन कराए। पांच मील ऊंचा पर्वत और पांच मील गहरा सागर एकदम दिखाये। तभी तो यह रामायण राष्ट्रीय हुई। वाल्मीकिके रोम-रोममें राष्ट्रीयत्व भरा हुआ था, इसलिए वे सार्वराष्ट्रीय रामायण रच सके। उनकी रामायण संस्कृतमें है तो भी सबको आदरणीय है। वह जितनी महाराष्ट्रमें प्रिय है, उतनी मद्रासकी तरफ केरलमें भी है। श्लोकके एक ही चरणमें उत्तर भारत और दक्षिणका समावेश कर दिया। विशाल और भव्य उपमा है।

हमसे कोई पूछे कि तुम कितने हो, तो हम तुरंत बोल उठेंगे, हम पैंतीस करोड़ बहन-भाई हैं। अंग्रेजसे पूछो तो वह चार करोड़ बतलाएगा। फरांसीसी सात करोड़ बतलाएगा। जर्मन छः करोड़ बतलाएगा। बेलजियन साठ लाख बतलाएगा। यूनानी आध करोड़ बतलाएगा। और हम पैं-ती-स करोड़! ऐसा फर्क क्यों हुआ? हमने इन पैंतीस करोड़को एक माना। उन्होंने नहीं माना। सच पूछो तो जर्मनोंकी भाषा और फरांसीसियोंकी भाषा अधिक विसदृश नहीं है, जैसी मराठी और गुजराती। यूरोपकी भाषाएं लगभग एक-सी हैं। उनका धर्म भी समान है। भिन्न-भिन्न राष्ट्रोंमें परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार भी होता है। लेकिन फिर भी उन्होंने यूरोपके अलग-अलग टुकड़े कर डाले! हिंदुस्तानके प्रांतोंने अपनेको अलग-अलग नहीं माना। यूरोपके लोगोंने ऐसा मान लिया। हिंदुस्तान भी तो रूसको छोड़ बाकीके सारे यूरोपके बराबर एक खंड (महाद्वीप) ही है। लेकिन

हमने भारत को एक खंड, यानी देशोंका समुदाय न मानकर भारतवर्षके नामसे सारा एक ही देश माना, एक राष्ट्र माना ।

उन अभागे यूरोपवासियोंने सारा यूरोप एक नहीं माना । उन्होंने यूरोपको एक खंड (महाद्वीप) माना । उसके छोटे-छोटे टुकड़े किये । एक-एक टुकड़ेको अपना मान लिया और एक-दूसरेसे घनघोर युद्ध किये । पिछले महासमरको ही ले लीजिए । लाखों लोग मरे । वे एक-दूसरेसे लड़े, मगर आपसमें नहीं लड़े । यह कसूर उन्होंने नहीं किया । लेकिन हमने भारतको एक राष्ट्र मान लिया और हम आपसम लड़े ।

अंग्रेज या यूरोपीय इतिहासकार हमसे कहा करते हैं कि "तुम आपसमें लड़ते रहे, अंतस्थ कलह करते रहे ।" आपसमें लड़ना बुरा है, यह तो मैं भी मानता हूं। लेकिन यह दोष स्वीकार करते हुए भी मुझे इस आरोपपर अभिमान है । हम लड़े, लेकिन आपसमें । इसका अर्थ यह हुआ कि हम एक हैं, यह बात इन इतिहासकारोंको भी मंजूर है । उनके आक्षेपमें ही यह स्वीकृति आगई है । कहा जाता है कि यूरोपीय राष्ट्र एक-दूसरेसे लड़े, लेकिन अपने ही देशमें आपसमें नहीं लड़े । लेकिन इसमें कौन-सी बड़ाई है । एक छोटे-से मानव-समुदायको अपना राष्ट्र कहकर यह शेखी बघारना कि हमारे अंदर एकता है, आपसमें फूट नहीं है, कौन-सी बहादुरी है ? मान लीजिए कि मैंने अपने राष्ट्रकी 'मेरा राष्ट्र यानी मेरा शरीर' इतनी संकुचित व्याख्या कर ली, तो आपसमें कभी युद्ध ही न होगा । हां, मैं ही अपने मुंहपर चटसे एक थप्पड़ जड़ दूं तो अलबत्ता लड़ाई होगी । परंतु 'मैं ही मेरा राष्ट्र हूं' ऐसी व्याख्या करके मैं अपने भाईसे, मांसे, किसीसे भी लड़ूं, तो यह भी आपसकी लड़ाई नहीं होगी, क्योंकि मैंने तो अपने साढ़े तीन हाथके शरीरको ही अपना राष्ट्र मान लिया है । सारांश, हम आपसमें लड़े, यह अभियोग सही है, परंतु वह अभिमानास्पद भी है, क्योंकि इस अभियोगमें ही अभियोग लगानेवालेने यह मान लिया है कि हम एक हैं, हमारा एक ही राष्ट्र है । यूरोपके अभागोंने इस कल्पनाका विनाश किया । हमें उसकी शिक्षा दी गई है । इतना ही नहीं, वह हमारी रग-रगमें पैठ गई है । हम पुराने जमानेमें आपसमें लड़े, तो भी यह एकराष्ट्रीयताकी भावना आज भी विद्यमान है । महाराष्ट्रने पंजाबपर, गुजरात और बंगालपर चढ़ाइयां

की, फिर भी यह एकराष्ट्रीयताकी, आत्मीयताकी भावना नष्ट नहीं हुई ।

जनताके इस गुणकी बदौलत तिलक सब प्रांतोंमें प्रिय और पूज्य हुए । तिलक-गांधी तो अलौकिक पुरुष हैं । सब प्रांत उन्हें पूजेंगे ही । परंतु राजगोपालाचार्य, जमनालालजी आदि तो साधारण मनुष्य हैं । लेकिन उनकी भी सारे प्रांतोंमें प्रतिष्ठा है । पंजाब महाराष्ट्र, कर्नाटक उनका आदर करते हैं । हमें उसका पता भले ही न हो, लेकिन एकराष्ट्रीयताका यह महान् गुण हमारे खूनमें ही घुल-मिल गया है । हमारे यहां एक प्रांतका नेता दूसरे प्रांतमें जाता है, लोगोंके सामने अपने विचार रखता है । क्या यूरोपमें यह कभी हो सकता है ? जरा जाने दीजिए मुसोलिनीको रूसमें फासिज्मपर व्याख्यान देने । लोग उसे पत्थर मार-मारकर कुचल डालेंगे या फांसीपर लटका देंगे । हिटलर और मुसोलिनी जब मिलते हैं तो कैसा जबरदस्त बंदोबस्त किया जाता है, कैसी चुपचाप गुप्त रूपसे मुलाकात होती है । मानों दो खूनी आदमी किसी साजिशके लिए एक-दूसरेसे मिल रहे हैं ! किले, परकोटे, दीवारें सब तरफ खड़ी करके सारे यूरोपमें द्वेष और मत्सर फैला दिया है इन लोगोंने । पर हिंदुस्तानमें ऐसी बात नहीं है। तिलक-गांधीको छोड़ दीजिए। ये लोकोत्तर पुरुष हैं। किंतु दूसरे साधारण लोगोंका भी सर्वत्र आदर होता है । लोग उनकी बातें ध्यानसे सुनते हैं । ऐसी राष्ट्रीय भावना ऋषियोंने हमें सिखाई है । समाज और जनतामें सर्वत्र इसका असर मौजूद है । अज्ञात रूपसे वह हमारी नस-नसमें विद्यमान है ।

हमें इस गुणका पता नहीं था । आइए, अब ज्ञानपूर्वक हम उससे परिचय कर लें । आज तिलकका स्मरण सर्वत्र किया जायगा । उनके ब्राह्मण होते हुए भी, महाराष्ट्रीय होते हुए भी, सब जनता सर्वत्र उनकी पूजा करेगी, क्योंकि तिलककी दृष्टि व्यापक थी । वह सारे भारतवर्षका विचार करते थे । वह सारे हिंदुस्तानसे एकरूप हो गये थे । यही तिलककी विशेषता है । भारतकी जनता भी प्रांताभिमान आदिका खयाल न करती हुई गुणोंको पहचानती है । यह भारतीय जनताका गुण है । इन दोनोंके गुणोंका यह चमत्कार है कि तिलकका सर्वत्र सब लोग स्मरण कर रहे हैं । जैसे एक ही आमकी गुठलीसे पेड़, शाखा और आम पैदा होते हैं, उसी प्रकार एक ही

भारतमाताके बाह्यतः जुदा-जुदा पुत्र दिखाई देते हैं--कोई क्रोधी, कोई स्नेही। फिर भी मीठे और मुलायम आम जिस गुठलीसे पैदा होते हैं, उसीसे पेड़का कठिन धड़ भी पैदा होता है। इसी तरहसे हम ऊपरसे कितने ही भिन्न क्यों न दिखाई दें तो भी हम एक ही भारतमाताकी संतान हैं, यह कदापि न भूलना चाहिए। इसे ध्यानमें रखकर प्रेम-भाव बढ़ाते हुए सेवकोंको सेवाके लिए तैयार करना चाहिए। तिलकने ऐसी ही सेवा की। आशा है, आप भी करेंगे।

: ३९ :

भूदान-यज्ञ और उसकी भूमिका

हमारा यह मानव-समाज हजारों वर्षोंसे इस पृथ्वीपर जीवन बिता रहा है। पृथ्वी इतनी विशाल है कि पुराने जमानेमें इधरके मानवकी उधरके मानवसे कोई पहचान नहीं रहती थी। हरेकको शायद इतना ही लगता था कि अपनी जितनी जमात है, उतनी ही मानव-जाति है। पृथ्वीके उधर क्या होता होगा, इसका भान भी शायद उन्हें नहीं था। लेकिन जैसे-जैसे विज्ञानका प्रकाश फैलता गया, मनुष्यका संपर्क सृष्टिके साथ बढ़ता गया और मानसिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, सभी दृष्टियोंसे मानवोंका आपसी संपर्क भी बढ़ता गया। जब कभी दो राष्ट्रोंका या दो जातियोंका संपर्क हुआ तो हर बार वह मीठा ही साबित हुआ हो, ऐसी बात नहीं है। कभी वह मीठा होता था, कभी कड़वा; लेकिन कुछ मिलाकर उसका फल मीठा ही रहा। इस बातकी मिसाल दुनियाभरमें मिल सकती है। लेकिन सारी दुनियाकी मिसाल हम छोड़ भी दें और केवल भारतका ही खयाल करें तो मालूम होगा कि बहुत प्राचीन जमानेमें यहां जो आर्य लोग रहते थे, उनकी संस्कृति हिंदुस्तानकी पहाड़ी संस्कृति थी और दक्षिणमें जो द्रविड़ लोग रहते थे, उनकी संस्कृति समुद्रकी संस्कृति थी। इस तरह द्रविड़ और आर्योंकी संस्कृतिके मिश्रणसे एक नई संस्कृति बनी। पहले ये दोनों संस्कृतियां,

उत्तर और दक्षिणकी, अलग-अलग रहीं। हजारों वर्षोंतक इन लोगोंमें आपसमें कोई संबंध नहीं था, क्योंकि बीचमें एक बड़ा भारी दंडकारण्य पड़ा था। लेकिन फिर दो जमातोंका संबंध हुआ। उनमेंसे कुछ मीठे और कुछ कड़वे अनुभव आये और उसका नतीजा आजका भारतवर्ष है। द्रविड़ लोग वहांके बहुत प्राचीन लोग थे। द्रविड़ों और आर्यों, इन दोनोंकी संस्कृति-के संगमका लाभ हिंदुस्तानको मिला और उससे एक ऐसा मिश्र राष्ट्र बना, जिसमें उत्तर और दक्षिण के अच्छे अंश एक साथ अनजाने मिल गये, उत्तर और दक्षिण एक हो गए। उत्तरके लोग ज्ञान-प्रधान थे तो दक्षिणके लोग भक्ति-प्रधान थे। इस तरह ज्ञान और भक्तिका संगम होगया; लेकिन इसके बाद यहां जो मिश्र समाज बना, उसकी व्यापकता भी एकांगी साबित हुई।

लेकिन बाहरसे मुसलमान लोग यहां आये और अपने साथ एक नई संस्कृति ले आये। उनकी नई संस्कृतिके साथ यहांकी संस्कृतिकी टक्कर हुई। मुसलमानोंने अपनी संस्कृतिके विकासके लिए दो मार्ग अपनाये, ऐसा दीखता है। एक हिंसाका और दूसरा प्रेमका। ये दो मार्ग दोधाराओंकी तरह एक साथ चले। हिंसाके साथ हम गजनी, औरंगजेब आदिका नाम ले सकते हैं तो दूसरी तरफ प्रेम-मार्गके लिए अकबर और कबीरका नाम ले सकते हैं। हमारे यहां जो कमी थी, वह इस्लामने पूरी की। इस्लाम सबको समान मानता था। यद्यपि उपनिषद् आदिमें यह विचार मिलता है; लेकिन हमारी सामाजिक व्यवस्थामें इस समानताकी अनुभूति नहीं मिलती थी। हमने उसपर अमल नहीं किया था। व्यावहारिक समानताका विचार इस्लामके साथ आया। इस्लामके आगमनके समय यहां अनेक जातियां थीं। एक जाति दूसरी जातिके साथ न शादी-ब्याह करती थी, न रोटी-पानी। इस तरह जहां देखो, वहां चौखटें बनी हुई थीं; लेकिन धीरे-धीरे दो संस्कृतियां नजदीक आईं। दोनोंके गुणोंका लाभ देशको मिला। इस सिलसिलेमें जो लड़ाई-झगड़े हुए और जो संघर्ष हुआ, उसका इतिहास हम जानते ही हैं। जो लोग यहां आये, उन्होंने तलवारसे हिंदुस्तान जीता या हिंदुस्तानके लोग लड़ाईमें हार गये, यह कोई नहीं कह सकता; बल्कि लड़ाइयां हुईं, उसके पहले ही फ़कीर लोग यहां आये। वे गांव-गांव घूमे

और उन्होंने इस्लामका संदेश पहुंचाया। यहांके लिए वह चीज एकदम आकर्षक थी।

बीचके जमानेमें हिंदुस्तानमें बहुत-से भक्त हुए, जिन्होंने जातिभेद-के खिलाफ प्रचार किया और एक ही परमेश्वरकी उपासनापर जोर दिया। इसमें इस्लामका बहुत बड़ा हिस्सा था। हिंदुस्तानको इस्लामकी यह बड़ी देन है। इस तरह पहले ही जो संस्कृति द्रविड़ और आर्योंकी अच्छाइयोंके मिश्रणसे बनी थी, उसमें यह नया रसायन दाखिल हुआ।

इसके बाद कुल तीनसौ साल पहलेकी बात है। यूरोपके लोगोंको मालूम हुआ कि हिंदुस्तान बड़ा संपन्न देश है और वहां पहुंचनेसे लाभ हो सकता है। इसी समय यूरोपमें विज्ञानकी प्रगति हुई। वे लोग हिंदुस्तान आ पहुंचे। हिंदुस्तानमें अभीतक जो प्रगति हुई थी, उसमें विज्ञानकी कमी थी। यह नहीं कि विज्ञान यहां था ही नहीं। यहां वैद्यक-शास्त्र मौजूद था, पदार्थ-विज्ञान-शास्त्र मौजूद था, लोगोंको रसायन-शास्त्रका ज्ञान था। अच्छे मकान, अच्छे रास्ते, अच्छे मदरसे यहां बनते थे—यानी शिल्प-विज्ञान भी था। अर्थात हिंदुस्तान एक ऐसा प्रगतिशील देश था, जहां उस जमानेमें अधिक-से-अधिक विज्ञान मौजूद था। लेकिन बीचके जमानेमें यहां विज्ञानकी प्रगति कम हुई। उसी जमानेमें यू ोपमें विज्ञानका आविष्कार हुआ और पाश्चात्य लोग यहां आ पहुंचे। अब उनके और हमारे बीच संघर्ष शुरू हुआ। उनके साथ हमारा संबंध कड़वा और मीठा दोनों प्रकारका रहा तथा अब इस मिश्रणसे एक और नई संस्कृति बनी। कुछ मिश्रण तो पहले ही हो चुका था। फिर जो-जो प्रयोग यूरोपवालोंने अपने देशमें किये, उनके फलस्वरूप न सिर्फ भौतिक जीवनमें, बल्कि समाजशास्त्र आदिमें भी परिवर्तन हुए और जैसे-जैसे अंग्रेज, फ्रेंच, जर्मन, रशियन आदिके विचारोंसे परिचय होने लगा, वैसे-वैसे वहांके नव-विचारोंका संबंध भी बढ़ने लगा। आज हम जहां जाते हैं, वहां सोशलिज्म (समाजवाद), कम्युनिज्म (साम्यवाद) आदिपर विचार सुनते हैं। ये सारे विचार पश्चिमसे आये हैं। अब इनसब विचारोंमें झगड़ा शुरू हुआ है। उसमेंसे कचरा-कचरा निकल जावेगा। हमारी संस्कृति कुछ खोयेगी नहीं; बल्कि कुछ पायेगी ही। यही देखो न! हिंदुस्तानमें—बावजूद इसके कि पश्चिमके

विचारोंका प्रवाह निरंतर यहां आता रहा—पहलेके जमानेमें जितने आध्यात्मिक विचारवाले महापुरुष पैदा हुए, उनसे कम इस जमानेमें नहीं हुए। यहां नाम गिननेमें तो समय जायगा। अब इस समय भी संघर्ष हो रहा है, टक्कर हो रही है, मिश्रण हो रहा है। यह जो बीचकी अवस्था है, उसमें कई प्रकारके परिणाम होते हैं।

यह तो मैंने प्रस्तावके तौरपर अपने कुछ विचार रखे, ताकि हिंदुस्तानकी हालत आप लोग अच्छी तरह समझ सकें।

गांधीजीके जानेके बाद जब मैं सोचता रहा कि अब मुझे क्या करना चाहिए तो मैं निर्वासितोंके काममें लग गया। परंतु यहांके कम्युनिस्टोंके प्रश्नके बारेमें मैं बराबर सोचता रहा। यहांकी खून आदिकी घटनाओंके बारेमें मुझे जानकारी मिलती रहती थी, फिर भी मेरे मनमें कभी घबराहट नहीं हुई; क्योंकि मानव-जीवनके विकासका कुछ दर्शन मुझे हुआ है। इसलिए मैं कह सकता हूं कि जब-जब मानव-जीवनमें नई संस्कृतिका निर्माण हुआ है, वहां कुछ संघर्ष भी हुआ है, रक्तकी धारा भी बही है। इसलिए हमें बिना घबराये शांतिसे सोचना चाहिए और शांतिमय उपाय ढूंढ़ना चाहिए।

मुझे सूझा कि इस मुल्कमें घूमना चाहिए। लेकिन घूमना हो तो कैसे घूमा जाय? मोटर आदि साधन विचार-शोधक नहीं हैं। वे समय-साधक हैं, फासला काट सकते हैं। जहां विचार ढूंढ़ना है, वहां शांतिका साधन चाहिए। पुराने जमानेमें तो ऊंट, घोड़े आदि थे। लोग उनका उपयोग भी करते थे और रातभरमें दोसौ मील तक जाते थे। परंतु शंकराचार्य, महावीर, बुद्ध, कबीर, चैतन्य, नामदेव-जैसे लोग हिंदुस्तानमें घूमे और पैदल ही घूमे। वे चाहते तो घोड़ेपर भी घूम सकते थे; परंतु उन्होंने त्वरित साधनका सहारा नहीं लिया; क्योंकि वे विचारका शोधन करना चाहते थे, और विचार-शोधनके लिए सबसे उत्तम साधन पैदल घूमना ही है। इस जमानेमें वह साधन एकदम सूझता नहीं; परंतु शांति-पूर्वक विचार करें तो सूझेगा कि पैदल चले बिना चारा नहीं है।

इस तरह मैं वर्धासे शिवरामपल्ली आया और वहांसे यहांतक अब कोई छः हफ्ते होते हैं। इस बीच मैंने हर गांवका अधिक-से-अधिक परिचय

प्राप्त किया। कम्युनिस्टोंके कामके पीछे जो विचार है उसका सारभूत अंश हमें ग्रहण करना होगा, उसपर अमल करना होगा। यह अमल कैसे किया जाय, इस बारेमें मैं सोचता था तो मुझे कुछ सूझ गया। ब्राह्मण मैं था ही, वामनावतार मैंने ले लिया और भूमिदान मांगना शुरू कर दिया।

पहले-पहल लगता था कि इसका परिणाम वातावरण पर क्या होगा? थोड़े-से अमृतबिंदुओंसे सारा समुद्र मीठा कैसे होगा? पर धीरे-धीरे विचार बढ़ता गया। परमेश्वरने मेरे शब्दोंमें कुछ शक्ति भर दी। लोग समझ गये कि यह जो काम चल रहा है, क्रांतिका है और सरकारकी शक्तिके परे है; क्योंकि यह काम तो जीवन बदलनेका काम है। अब लोग दान देने लगे। एक जगह हरिजनोंने अस्सी एकड़ मांगे और एक भाईने सौ एकड़ दे दिये। इस तरह लोग मुझे देने लगे। यद्यपि लोगोंने मुझे काफी दिया तो भी मेरा काम इतनेसे पूरा नहीं होता।

जब विचार फैलेगा तब काम होगा। मैं चाहता हूं कि दरिद्रनारायणको, जो भूखा है और अब जाग गया है, आप अपने कुटुंबका एक हिस्सा समझ लें और आपके परिवारमें चार लड़के हैं तो उसे पांचवां मान लें। एक भाईके पास पांच एकड़ जमीन थी। उस भाईसे मैंने जमीन मांगी तो उसने मुझसे कहा कि मेरे घरमें आठ लड़के हैं। मैंने पूछा कि अगर नौवां आया तो उसे भी सहोगे या नहीं? उसने कहा, "हां।" मैंने कहा, "यही समझो कि मैं नौवां हूं और मुझे भी कुछ दे दो।" समझ लीजिए कि दस हजार एकड़-वाला सौ एकड़ देता है। आंकड़ा दीखनेको बहुत बड़ा दीखता है, पर दाता और दरिद्रनारायण दोनोंके हिसाबसे वह कम है। इस आंकड़ेसे मैं तो संतुष्ट हो जाऊंगा; परंतु देनेवालोंको नहीं होना चाहिए। अगर ऐसा होता कि यहां कोई भूख की या चंद लोगोंके संकटनिवारणकी समस्या होती और मैं दान मांगता तो थोड़ा-थोड़ा देनेसे भी काम चल जाता; परंतु यहां तो एक राजकीय समस्या हल करनी है, एक सामाजिक समस्या सुलझानी है, जो समस्या न सिर्फ इन दो जिलोंकी है, न सिर्फ हिंदुस्तानकी है, बल्कि पूरी दुनियाकी है। और जहां ऐसी राजनैतिक व सामाजिक क्रांति करनेकी बात है, वहां तो मनोवृत्ति ही बदल देनेकी जरूरत होती है? अगर कोई छोटा-सा संकल्प होता तो अल्प दानसे काम चल जाता; परंतु यहां दस

हजार एकड़ जमीन रखनेवाले यदि सौ एकड़ देने लगेंगे तो काम नहीं चलेगा। उन्हें तो दरिद्रनारायणको अपने परिवारका एक हिस्सा समझकर दान देना चाहिए। मैं तो गरीब और श्रीमान सबका मित्र हूं। मुझे तो मैत्रीमें ही आनंद आता है। जो शक्ति मैत्रीमें है वह द्वेषमें नहीं है। अनेक राजाओंने लड़ाइयां लड़कर जो क्रांति नहीं की, वह बुद्ध, ईसा, रामानुज, आदिने की। इनमेंसे एक-एक आदमीने जो काम किया, वह अनेक राजाओंने मिलकर नहीं किया, अर्थात् प्रेम और विचारकी तुलनामें दूसरी कोई शक्ति नहीं है। इस वास्ते बार-बार समझानेका काम पड़े तो भी मैं तैयार हूं। दो दफा समझानेसे कोई न समझ सका तो तीन दफा समझाऊंगा। तीन दफा समझानेसे यदि नहीं समझ सका तो चार दफा समझाऊंगा। और चार दफा समझानेसे भी नहीं समझेगा तो पांच दफा समाझाऊंगा। समझाना, यही मेरा काम है। जबतक मैं कामयाब नहीं होता तबतक मैं हारूंगा नहीं, निरंतर समझाता ही रहूंगा।

जो मैं चाहता हूं वह तो सर्वस्व-दानकी बात है। जैसा पोतना कविने (तेलगु) भागवतमें बताया है—"तल्लिदंड्रल भंगि धर्मवत्सलतनु दीनुल गाव चिंतिचुंवाडु।" माता-पिताके समान चिंता करनेकी यह उपमा मैं आपको लागू करना चाहता हूं। जिस प्रेमसे माता-पिता-बच्चोंके लिए काम करते हैं, भूखे रहकर उन्हें खिलाते हैं, उनके लिए सर्वस्वका त्याग करते हैं, वह शक्ति और वह प्रेम मैं आप लोगोंसे प्रकट कराना चाहता हूं।

आज मैं जेलमें यह जाननेके लिए कम्युनिस्ट भाइयोंसे मिलने गया था कि उनके क्या विचार चल रहे हैं। उनके साथ जो बातचीत हुई, वह पूरी यहां बतानेकी आवश्यकता नहीं है। पर उन्होंने एक सवाल मुझसे किया कि क्या आप इन श्रीमानोंको वापस अपने घरोंमें ले जाकर बसाना चाहते हैं? क्या उनके दिलमें परिवर्तन होनेवाला है? आपको वे लोग ठग रहे हैं। कुछ इस तरहका उनका भाव था। मुझे वहां उनसे बहस नहीं करनी थी, न उनके हर प्रश्नका जवाब ही देना था। लेकिन अगर यह बात सही है कि हरेकके हृदयमें परमेश्वर विराजमान है और हमारे श्वासोच्छ्वासका नियमन वही करता है और सारी प्रेरणा वही देता है तो मेरा विश्वास है कि परिवर्तन जरूर हो सकता है। अगर कालात्मा खड़ा

है और कालात्मा परिवर्तन करना चाहता है तो परिवर्तन होने ही वाला है। मनुष्य चाहे या न चाहे, जब मनुष्य प्रवाहमें पड़ता है तब उसकी तैरनेकी शक्ति ही उसके काम नहीं आती, प्रवाहकी शक्ति भी काम आती है। उसी तरह मनुष्यके हृदयमें परिवर्तनके लिए काल-प्रवाह मददरूप होता है। आज तो सबकी भूमि तपी हुई है। ऐसी तपी हुई भूमिपर प्रेमकी दो बूंदें छिड़कानेका काम अगर भगवान् मुझसे करवाना चाहता है तो मैं वह खुशीसे कर रहा हूं। मैं तो गरीबोंसे भी जमीनें ले रहा हूं। एक एकड़वालेसे भी मैं एक गुंठा ले आया हूं। अगर वह आधा गुंठा देता तो भी मैं ले लेता। लोग पूछते हैं कि एक गुंठा जमीनका मैं क्या करूंगा ? मैं कहता हूं, "कोई हर्ज नहीं। जिसने मुझे वह एक गुंठा दिया है, उसीको ट्रस्टी बनाकर मैं वह जमीन उसे सौंप दूंगा और कहूंगा कि जो पैदावार उसमें होगी, वह गरीबोंको दे देना।" एक एकड़वालेको एक गुंठा देनेकी वृत्ति होना, उसे ही मैं विचार-क्रांति कहता हूं। जहां विचार-क्रांति होती है, वहीं जीवन प्रगतिकी ओर बढ़ता है। 'अपि प्राज्यम् राज्यम् तृणमिव परित्यज्य सहसा'—एक घास के तिनकेकी तरह राज्यका परित्याग करनेवाला त्यागी इस भूमिमें हो गये हैं।

विचार-शक्तिकी कोई हद नहीं होती। एक विचार एक मनुष्यको ऐसा सूझता है कि उससे मनुष्यके जीवनमें क्रांति हो जाती है। आपने देखा, कुछ महापुरुष भी ऐसे होते हैं, जिनके विचारमें ऐसी शक्ति होती है कि दूसरेके जीवनको पलट देते हैं। इसलिए विचारको जगानेके लिए मैंने उस गरीबसे भी एक गुंठा जमीन ले ली और जहां मैं उन श्रीमानोंसे जमीन ले रहा हूं, वहां उनके सिरपर मेरा बरदहस्त है—"भाइयों, तुम्हें अब शहरमें भागकर जानेकी आवश्यकता नहीं है। कबतक भागते रहोगे ?" यानी जहां मैंने श्रीमानोंसे सौ एकड़ दान लिया, वहां मैंने उनके मनमें एक अच्छा विचार भी जगा दिया। हरेक मनुष्यके दिलमें अच्छे-बुरे विचार होते हैं। अब उसके हृदयमें एक लड़ाई शुरू होती है, एक महाभारत-युद्ध शुरू होता है।

"सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय
सच्चाऽसच्च वचसी पस्पृधाते
तयोर्यत् सत्यं यतरत् ऋजीयः
तदित् सोमोऽवति हंति आ असत्"

जाननेवाले जानते हैं कि हर मनुष्यके हृदयमें सत् और असत्की लड़ाई नित चलती रहती है। जो सत् होता है उसकी रक्षा होती है और जो असत् है उसका खात्मा होता है। इसीलिए दाता ढोंगी है, ऐसा माननेका कारण नहीं है। परंतु उसके द्वारा अन्यायके भी कई काम हुए होते हैं। बिना अन्यायके हजारों एकड़ जमीन कभी जमा हो सकती है ? अर्थात् जिन्होंने दान दिया है, उन श्रीमानोंके जीवनमें कई तरहका अन्याय और अनीतिका होना संभव है। परंतु उनके हृदयमें भी एक झगड़ा शुरू होगा कि क्या हमने जो अन्याय किया है, वह ठीक है ? परमेश्वर उन्हें बुद्धि देगा, वे अन्याय छोड़ देंगे। परिवर्तन इसी तरह हुआ करता है।

मेरी प्रार्थना है कि अब देनेका जमाना आया है, आप सब लोग दिल खोलकर दीजिए। देनेसे एक दैवी संपत्ति निर्माण होती है। उसके सामने आसुरी संपत्ति टिक नहीं सकती, आसुरी संपत्ति लुट जाना चाहती है। वह ममत्वभावपर आधार रखती है। समत्व नहीं जानती। दैवी तो समत्व-पर आधार रखती है। दैवी और आसुरी संपत्तिकी यह पहचान है।

जहां मैं दान लेता हूं वहां हृदय-मंथनकी, हृदय-परिवर्तनकी, मातृ-वात्सल्यकी, भ्रातृ-भावनाकी, मैत्रीकी और गरीबोंके लिए प्रेमकी आशा करता हूं। जहां दूसरोंकी फिक्रकी भावना जागती रहती है, वहां समत्व बुद्धि प्रकट होती है, वहां वैरभाव टिक नहीं सकता। वैरभावका स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं होता। पुण्यमें ताकत होती है, पापमें कोई ताकत नहीं होती। प्रकाशमें शक्ति होती है, अंधकारमें कोई शक्ति नहीं होती। प्रकाशको अंधकारका अभाव नहीं कह सकते। प्रकाश वस्तु है, अंधकार अवस्तु है। लाखों वर्षोंके अंधकारमें प्रकाश ले जाइए, एक क्षणमें अंध-कारका निवारण हो जायगा। वैसे ही आज पुण्योदय हुआ है। उसके सामने वैरभाव टिक नहीं सकता। यह भू-दान-यज्ञ अहिंसाका एक प्रयोग है, जीवन-परिवर्तनका प्रयोग है। मैं तो निमित्त-मात्र हूं। आप भी निमित्त-मात्र हैं। परमेश्वर आप लोगोंसे और मुझसे काम कराना चाहता है। वह काल-पुरुषकी, परमेश्वरकी प्रेरणा है। इसलिए मैं मांग रहा हूं, तब आप लोग दीजिए और दिल खोलकर दीजिए। जहां लोग एक फुट जमीनके लिए झगड़ते हैं, वहां मेरे कहनेसे लोग सैकड़ों-हजारों एकड़ जमीन देनेके लिए

तैयार हो जाते हैं । तो आप समझिए कि यह परमेश्वरकी प्रेरणा है । इसके साथ हो जाइए । इसके विरोधमें मत खड़े रहिए । इसमेंसे भला-ही-भला होगा ।

आज मैं फिरसे कहता हूं कि हम विज्ञानसे पूरा लाभ उठाना चाहते हैं । अगर हम विज्ञानसे पूरा लाभ उठाएं तो इस भूमिको हम स्वर्ग बना सकते हैं । लेकिन फिर हमें विज्ञानके साथ हिंसाको नहीं, अहिंसाको जोड़ना होगा । अहिंसा और विज्ञानके मेलसे ही यह भूमि स्वर्ग बन सकती है । हिंसा और विज्ञानके मेलसे वह स्वर्ग नहीं बन सकती, बल्कि खत्म हो सकती है ।

पहले लड़ाइयां छोटी-छोटी होती थीं । जरासंध-भीम लड़े, कुश्ती हुई, पाण्डवोंको राज्य मिल गया, सारी प्रजा खून-खराबीसे बच गई । अगर इस जमानेमें वैसी लड़ाइयां लड़ी जायं तो इसमें हिंसा होनेपर भी नुकसान कम है । इसलिए यह द्वंद्व-युद्ध मैं कबूल कर लूंगा । अगर हिटलर और स्टालिन कुश्तीके लिए खड़े हो जाते हैं और तय करते हैं कि जो हारेगा वह हारेगा और जो जीतेगा वह जीतेगा तो मैं उसे कबूल कर लूंगा । और अगर दुनिया वह द्वंद्व देखनेको आई है तो मैं उसका निषेध नहीं करूंगा; क्योंकि दुनियाका उसमें विशेष नुकसान नहीं होगा । परंतु द्वंद्व-युद्धका जमाना अब बीत गया है । पहले द्वंद्व-युद्ध होते थे, फिर हजारों लोग आपसमें लड़ने लगे । हजारोंकी लड़ाई खत्म हुई तो लाखों लड़ने लगे । उससे भी नतीजा नहीं निकला । फिर क्या, इधर बीस लाख तो उधर पच्चीस लाख और इधर पच्चीस तो उधर पचास लाख । इस तरह यह जमाना आया कि हजारों-लाखों नहीं, करोड़ों लोग आपसमें लड़ने लगे । मनुष्यके सामने सवाल यह है कि या तो 'टोटल वार' की तैयारी करो या हिंसा छोड़ो और अहिंसाको अपनाओ । मैं कम्युनिस्टोंको यही समझाता हूं कि भाइयों, तुम लोग कहीं दो-चार खून करते हो, कहीं दो-चार मकान जलाते हो, कहीं कुछ लूट-खसोट कर लेते हो, रातमें आते हो, दिनमें पहाड़ीमें छिपते हो; लेकिन अब छिपनेका जमाना खत्म हो चुका है । अब ऐसी हरकतोंसे कोई लाभ नहीं है । अगर लड़ाई लड़नी है तो विश्वयुद्ध (वर्ल्ड वार) की तैयारी करो और उसीकी राह देखो । लेकिन जबतक करोड़ोंके पैमानेपर हिंसा करनकी तैयारी नहीं करते तबतक छोटी-छोटी लड़ाइयोंका यह तरीका

छोड़ दो और तुम्हें वोट देनेका जो अधिकार मिला है उससे लाभ उठाओ। प्रजाको अपने विचारके लिए तैयार करो। जागतिक युद्ध या परिशुद्ध प्रेम, ऐसी समस्या विज्ञानने हमारे सामने खड़ी कर दी है।

इसलिए अगर प्रेमका, अहिंसाका तरीका आजमाना चाहते हो तो इन जमीनोंका ममत्व छोड़ दो, नहीं तो हिंसाका ऐसा जमाना आनेवाला कि उसमें सारी जमीनें और उस जमीनपर रहनेवाले प्राणी खतम हो जायंगे। यह समझकर कि भगवानने यह समस्या हमारे सामने खड़ी कर दी है, भाइयो! निरंतर दान दिया करो।

तेलंगाना, १९५१

: ४० :

ग्रामदानकी विचार और आचार-योजना

अंग्रेज हिंदुस्तानमें किस तरह आये और कैसे स्थिर हुए, उसका इतिहास सब जानते हैं। आश्चर्यकी बात यह है कि पहले उनके राज्यके लिए हम लोगों में कुछ श्रद्धा भी थी, परंतु चंद दिनोंमें उस श्रद्धाका पर्यवसान शंकामें हुआ। फिर बहुत दिनोंके बाद यह निश्चय हुआ कि स्वराज्य-प्राप्तिके बिना हिंदुस्तान के दुख नहीं मिटेंगे। दादाभाई नौरोजीने १९०६ में कलकत्ता-कांग्रेस में हिंदुस्तानको स्वराज्यका मंत्र दिया। उसके बाद लोकमान्य तिलकने और फिर महात्मा गांधीनेउस कार्यक्रमको उठा लिया। हजारों लोग उनके साथ जुट गये। बहुत तीव्र प्रयत्नके बाद स्वराज्यकी प्राप्ति हुई।

इस प्रकार जब एक मंत्रकी सिद्धि हो जाती है तब साधकोंकी हिम्मत बढ़ती है। जो साधक नहीं होते, उनकी शक्ति मंत्र-सिद्धिके बाद क्षीण हो जाती है। एक मंत्र सिद्ध हो गया तो फिर उनकी भोग-वासना जागृत हो जाती है, फिर वे नई तपस्या नहीं कर पाते। परंतु जो साधक होते हैं, उनका एक मंत्रकी सिद्धिके बाद उत्साह बढ़ता है। हिंदुस्तानमें भी साधक काफी संख्या में थे, जिन्हें गांधीजीकी तालीम मिली थी। उन लोगोंने स्वराज्य-प्राप्तिके बाद अपने सामने सर्वोदयका मंत्र रखा। एक मंत्रकी सिद्धके बाद जब फौरन

दूसरा मंत्र आता है तो मनुष्यके जीवनकी सिद्धके लिए वह बहुत ही सौभाग्य की बात समझनी चाहिए। जैसे कालिदासने लिखा है—"क्लेष फलेन हि पुनर्नवतां विधते" अर्थात् जब एक क्लेश फलित होता है तो साधकों को फिरसे नये क्लेशकी हिम्मत होती है। वैसे ही हिंदुस्तानको स्वराज्यके बाद नये मंत्र की प्राप्ति हुई। उन्हें यह मंत्र ढूंढ़ना नहीं पड़ा। वह गांधीजीकी स्फूर्ति थी कि एक मंत्रकी सिद्धि के पहले ही उन्होंने दूसरा मंत्र तैयार रखा था। जो क्रांतिदर्शी होते हैं उनका यह लक्षण है कि वे दूरका देखते हैं। गांधीजी-ने भी बहुत दूरका देख लिया था। १९१७में, याने स्वराज्य-प्राप्ति के ३० साल पहले ही, उन्होंने दक्षिण भारतमें हिंदीका काम शुरू किया था। वे कहते थे कि हमलोग हिंदीमें अच्छी तरह तैयार हो जायंगे तो स्वराज्यके बाद प्रगति कर सकेंगे। १९३७में, याने स्वराज्य के १० साल पहले ही उन्होंने नई तालीमकी खोजकी थी, ताकि स्वराज्यके बाद नई तालीम शुरू हो जाय और देशकी प्रगति न रुके। इस तरहसे स्वराज्य-प्राप्ति के बाद क्या करना पड़ेगा, इसका भी दर्शन उन्हें २५-३० साल पहले ही हुआ था। स्वराज्यके बाद सर्वोदय करना होगा, यह मंत्र उन्होंने दे रखा था।

भारतका यह बहुत बड़ा भाग्य है कि एक मंत्रकी सिद्धिके बाद दूसरा मंत्र उपस्थित हुआ। मंत्रकी सिद्धिके लिए तपस्या करनी पड़ती है। एक तपस्या पूरी होनेके बाद फौरन दूसरी तपस्या शुरू करनेका आनंद भगवानने हमें दिया। जिस जीवनमें तपस्या नहीं, मंत्र नहीं, वह जीवन सुखमय हो तो भी निस्सार हो जाता है। मनुष्यको उस सुखमें रस नहीं मालूम होता है। फिर मनुष्य यह करता है कि घरमें खानेकी चीजें खूब पड़ी रहने पर भी एकादशीका उपवास करता है। सुखमें मनुष्यको समाधान नहीं होता है, इसलिए वह तपस्या ढूंढ़ता है। सुखमें पशुको समाधान होता है, लेकिन मनुष्यको कोई मंत्र चाहिए, तपस्या करनेका मौका चाहिए। स्वराज्य-प्राप्तिके बाद हमें फौरन एक मंत्र प्राप्त हुआ और साधक उस काममें लग गए। सत्ता हाथमें आई तो उसके साथ कई प्रकारकी बाधाएं भी आइ। कुछ लोगोंको सत्ता हाथमें लेनी पड़ी। वह आवश्यक भी था। परंतु उस समय बहुत पीड़ा सहन करनी पड़ी। देश में खूब हिंसा चली। ५० लाख लोग पाकिस्तानसे हिंदुस्तान आये और करीब उतने ही हिंदुस्तानसे

पाकिस्तान गये, जिससे बहुत बड़ी समस्या खड़ी हुई। परस्पर द्वेष चला। किसीका किसीपर विश्वास नहीं था। स्वराज्य प्राप्त तो हुआ परंतु उसके टिकनेका क्षणभर भी भरोसा नहीं रहा। उस हालतमें सर्वोदय तो कहीं छिप गया और सर्वनाशका ही लक्षण दीखने लगा।

किसी तरहसे परिस्थिति संभल गई और उसके बाद देशमें योजना चली। उस योजनामें सर्वोदयका तो कहीं पता नहीं चला। यह सोचा गया कि देशकी रक्षा अच्छी होनी चाहिए। तो लश्कर उत्तम होनी चाहिए। जहां मनुष्य युद्धकी कल्पना कर लेता है वहां बड़े-बड़े उद्योगोंका विकास करना होता है, क्योंकि आधुनिक युद्ध-कलामें उसकी जरूरत होती है। हिंदुस्तानके दो टुकड़े होगए थे। एक-दूसरेका एक-दूसरेको भय था। इस हालतमें कोई भी देश अपनी योजना स्वयं नहीं करता है। हम नाममात्रका राष्ट्रीय प्लानिंग करते हैं, लेकिन वास्तवमें अपना 'प्लानिंग' हम नहीं करते हैं, बल्कि दूसरे देश हमारा प्लानिंग करते हैं। पाकिस्तानने सेना बढ़ाई तो हमारे प्लानिंगमें भी सेना बढ़ानेकी बात आती है। फिर हमें प्लानका बहुत-सा पैसा उसीमें लगाना होता है। इसका मतलब यह होता है कि आपके देशका प्लानिंग पाकिस्तानने किया। प्लान करनेके लिए दिल्लीमें हम बैठे, प्लान हमारे हाथसे हुआ, परंतु हमारे दिमागसे नहीं हुआ। हमारा दिमाग कहता था कि अधिक-से-अधिक पैसा गरीबोंकी सेवा में लगाना चाहिए और सेना पर कम-से-कम खर्चा करना चाहिए, गांधीजीके बताए हुए अहिंसाके मार्ग पर चलना चाहिए, फिर भी हमारे हाथोंने लिखा कि सेनाका बल बढ़ाना चाहिए, क्योंकि हमारा प्लानिंग पाकिस्तानने किया और पाकिस्तानका प्लानिंग किसने किया? वहां तो अभी चुनाव ही नहीं हुए हैं और दस सालमें पांच मंत्रि-मंडल बदल गए, तो वे क्या प्लानिंग करेंगे। पाकिस्तान भक्त बन गया है, अमेरिकाकी शरणमें गया है। पाकिस्तानका प्लानिंग अमेरिका करता है और आपका प्लानिंग पाकिस्तान करता है। अब सर्वोदय कहां रहेगा? इस हालतमें सर्वोदय अगर चलेगा तो जन-शक्ति से चलेगा।

सर्वोदयके साधक चंद थे। वे बेचारे निराश हो गए। वे खुद चरखा कातते थे, परंतु समझते थे कि अपनी मृत्यु के साथ यह चरखा भी दहनके काममें आयेगा। वे कहते थे कि हम तो कातना नहीं छोड़ेंगे, क्योंकि हमने

यह व्रत लिया है। हम तो यह पातिव्रत बराबर निभाएंगे,परंतु इसमेंसे कुछ निकलेगा नहीं। दुनियामें अब चरखा चलेगा नहीं, मिल ही चलेगी। जो साधक नहीं थे, उन्होंने कातना छोड़ दिया था; परंतु जो साधक थे उन्होंने नहीं छोड़ा। वे कहते थे कि हम इस उपासना को नहीं छोड़ेंगे, परंतु उनके मनमें आशा नहीं थी। इस तरह सर्वोदय निराशामें पहुंच गया था। 'सर्वोदय' शब्द तो लोगोंने उठाया, परंतु 'सर्वोदय होटल' भी खुल गया, याने वह शब्द राम-नामके-जैसा पवित्र बन गया। जैसे किसी कारखानेको भी रामजीका नाम दिया जा सकता है, वैसे ही सर्वोदयकी हालत हो गई। 'सर्वोदय' शब्द बहुत अच्छा है, वह विचार सबको कबूल है; परंतु व्यवहारमें नहीं आयेगा, अव्यवहार्य है, ऐसा देशका निर्णय हुआ। इसपर भी सर्वोदयके साधक काम कर रहे थे।

हम भी ढूंढ़ रहे थे कि सर्वोदयकी शक्ति कहांसे प्रकट होगी। होते-होते भगवानकी कृपासे तैलंगानामें भूदान-यज्ञका जन्म हुआ और सर्वोदय की अहिंसा पद्धतिसे कुछ-न-कुछ काम बन सकता है, इसका थोड़ा दर्शन वहां पर हुआ। तैलंगानाके दो महीनेके भूदान-कार्यसे वहां थोड़ी शांति हुई। उसके बाद कम्युनिस्टोंने चुनावमें हिस्सा लिया और एक प्रदेशमें उनकी सरकार भी बनी। उन्होंने संविधानके अंदर रहकर काम करनेका निश्चय किया। इस तरहसे परिवर्तन होता गया तो सर्वोदयका विचार कुछ पराक्रम कर सकता है, व्यवहारमें आ सकता है, ऐसा कुछ थोड़ा भास देशको हुआ। सर्वोदय अच्छा विचार है, इसमें किसीको संदेह नहीं था। परंतु वह व्यावहारिक है या नहीं, इस बारेमें संदेह था, लेकिन वह शायद कुछ व्यावहारिक है, ऐसा भास हुआ तो सर्वोदयके साधकोंकी कमर मजबूत हुई। आखिर भूदान के आगे बढ़ते-बढ़ते उसमेंसे ग्रामदान निकला तो एक मानसिक चमत्कार हुआ; यानि सर्वोदयमें काफी शक्ति पड़ी है, इसका भास हुआ।

इसके बाद और एक बात हुई जो उससे भी बड़ी थी, लेकिन उसकी तरफ लोगोंका जितना ध्यान जाना चाहिए था, उतना नहीं गया। भारत-भरमें भूदानका काम चला और आखिर ग्रामदान हुआ। उसका आधार यह था कि जिले-जिलेमें भूदान-समिति थी। जैसे हर जिलेमें कांग्रेस-कमेटी होती है, वैसे हिंदुस्तानके तीनसौ जिलोंमेंसे करीब ढाईसौ जिलोंमें भूदान-समिति

थी। उसके लिए गांधी-निधिसे कुछ मदद भी मिलती थी। वह अच्छा ही था। गांधी-निधिका उसमें बहुत सुंदर उपयोग होता था, क्योंकि गांधीजीके स्मरणके लिए वह निधि थी, और गांधीजीके विचारका प्रचार जितनी अच्छी तरह इससे हो सकता है, उतना और किसीसे नहीं हो सकता है, इस बातको सब नेता महसूस करते थे और गांधी-निधिवाले बड़ी खुशीसे भूदान के लिए पैसा देते थे।

ग्रामदान होनेके बाद हमारे चित्तमें एक छटपटाहट पैदा हुई। हमें लगा कि अब और एक क्रांतिकारक कदम उठाना चाहिए। भूदानसे ग्रामदान तक प्रगति होनेसे विचार काफी विकसित हो गया है। अब यह सारा तंत्र तोड़ना चाहिए। इसलिए भूदानके लिए जो गांधी-निधिका आधार लिया जाता था, वह हमने बंद किया और सारा तंत्र, भूदान-समितियां आदि, तोड़ डालीं। कोई भी पार्टी, जो व्यापक बनी है, अपना संगठन और मजबूत करना चाहती है। लेकिन वहां हमने बिल्कुल उससे उलटी प्रक्रिया चलाई। पलनीमें एक ही प्रस्तावसे सारे भारतकी कुल भूदान-समितियां खत्म कर दीं। कल्पना-के विकासका इतिहास लिखनेवाला भविष्यका इतिहासकार इस कल्पना-को बहुत महत्व देगा। वही वास्तवमें इतिहास है, जिसमें मानवकी कल्पना-का किस तरह विकास हुआ, यह बताया गया है।

हमने यह सारा तंत्र क्यों तोड़ा? क्रांतियां मांत्रिक होती हैं, तांत्रिक नहीं होती हैं। मंत्रके बलसे क्रांति होती है, तंत्रके संगठनके बलसे नहीं। संस्थासे कोई साधारण सेवाका काम हो सकता है, उससे सत्ता बन सकती है परंतु जन-समाजमें क्रांति लानेका काम उससे नहीं हो सकता। क्रांतिके लिए मंत्र चाहिए और लोग सारे मुक्त हों। हरकोई अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार काम कर सकता हो। इस तरह सारी जनतापर आंदोलन सौंप दे, तब क्रांति हो सकती है।

इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ प्रांतोंमें जहां पहले ४०-५० कार्यकर्ता थे, उनके बदले सैकड़ों कार्यकर्ता हुए और कुछ प्रांतोंमें जहां पहले कार्यकर्ता १०–५ थे, वे भी गिर गये। इस तरह दोनों परिणाम निकले। हमने दोनों परिणामोंकी कल्पना कर रखी थी और मनमें दोनोंकी तैयारी भी, बल्कि समितियां टूटनेके बाद कुल हिंदुस्तानका काम गिर जाता तो भी हमें लगता

कि हमने जो कदम उठाया, वह सही है, क्योंकि यह एक शास्त्र है, सिद्धांत है कि क्रांतियां कभी संस्थाओंके जरिए नहीं होतीं। संस्थाका एक ढांचा होता है, एक अनुशासनकी पद्धति होती है, उसके अंदर रहकर सबसे काम लिया जाता है। उसमें बुद्धि-स्वातंत्र्य नहीं रहता है।

आजके लोकतंत्रमें यह दोष देख सकते हैं। मान लीजिए कि चुनावमें ३०%लोगोंने एक पार्टीको वोट दिया, बाकीके ३०%ने २–४ पार्टियोंको मिलकर वोट दिया और ४०%ने किसीको वोट ही नहीं दिया। अब जिस पार्टीको ३०%वोट मिले उस पार्टीका राज्य चलेगा और वे १००% लोगों पर राज्य करेंगे। अब वे जो ३०% वोट पानेवाले राज्य करने लगे उनकी सरकारकी तरफसे पार्लमेंटमें एक बिल आता है, जिसकी चर्चा पहले पार्टीकी बैठकमें होती है। वहां १६%लोगोंने इस बिलको कबूल किया और १४%ने कबूल नहीं किया, तो भी पार्टी-बैठकमें वह बिल पास हो जाता है। फिर वह बिल पार्लमेंटमें आता है, तो जिन १४%ने उसे पसंद नहीं किया, उन्हें भी वहां उसे पसंद करना पड़ेगा। उसके पक्षमें हाथ उठाना पड़ेगा, क्योंकि पार्टीका अनुशासन होता है। तो आखिर भारतपर कितने प्रतिशतकी सत्ता चली? यह केवल भारतकी ही हालत नहीं है, सारी दुनियाके लोकतंत्रोंकी हालत है। आखिर १६%का राज्य चलता है और इसका नाम है बहुमतका शासन और वे जो १६ हैं उनमें भी २–४ लोगोंके पीछे सब लोग चलते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि २-४ व्यक्तियोंके ही दिमाग-का राज्य भारतपर चलता है। संस्था की शैलीसे यह सब होता है। इसमें क्रांतिका सवाल ही नहीं आता है, क्योंकि बुद्धिकी आजादी नहीं होती। वहां तो हाथोंकी गिनती होती है। इसीलिए हमने कहा कि क्रांतिके लिए तंत्र नहीं चाहिए। हमारे इस निश्चयके बाद ग्रामदानोंकी संख्या बढ़ती ही गई।

भूदानमें एकके बाद एक अद्भुत घटनाएं घटती गईं। लोग भूदानके विचारकी ओर ध्यान देने लगे, यह एक आश्चर्य ही है। फिर भूदानसे आरंभ करते-करते लोग ग्रामदान तक आते हैं, यह दूसरी बड़ी घटना है। फिर सारे भारतमें जो तंत्र बना था, वह तोड़ने के लिए लोग तैयार हो गए, यह और एक बड़ी घटना है। बावजूद तंत्र तोड़नेके, ग्रामदान बढ़ रहे हैं, यह एक अद्भुत ही घटना है और इस सबके सिरपर एक बड़ी घटना मैसूर प्रदेशमें

घटी । वहां हिंदुस्तानके भिन्न-भिन्न राजनैतिक पक्षोंकी चोटीके नेता, जिनके विचार एक दूसरेसे मिलते नहीं, इकट्ठे हुए और उन्होंने प्रस्ताव करके देशको ग्रामदानका काम उठानेका आदेश दिया । लोग हमसे पूछते हैं कि बाबा, आप तो '५७में क्रांति होगी, ऐसा कहते थे । हम उनसे कहते हैं कि क्या आप देखते नहीं कि क्रांति हो चुकी है, क्या आपको उसका दर्शन नहीं हुआ ? जहां परस्पर विरोधी विचार रखनेवाले देशके गणमान्य नेता ग्रामदानका एक विचार मान्य करते हैं, वहां वैचारिक क्रांति हुई या नहीं हुई । वैचारिक क्रांति ही वास्तव में क्रांति है । वह हाथोंसे होनेवाली है, वह पीछे आती है । इसलिए आगेका सवाल बहुत कठिन नहीं है ।

हम तो बिल्कुल विचारसे भर गए हैं । क्रांति हमारे साथ आरही है । हम उसके पीछे-पीछे जाते थे, उसे पकड़ना चाहते थे, अब वह हमारी पकड़में आगई है । उसे हाथमें लेकर अब हम आगे बढ़ेंगे ।

अब इसके आगे हमें क्या करना है, इस बारेमें मैं योजना रखूंगा । जब वैचारिक क्रांति होगई तो अब इसके आगे हमारे कार्यकर्ताओंको जागृत रहना चाहिए । उनके मुखसे मधुर वाणी ही निकलनी चाहिए । खंडन नहीं होना चाहिए । यह तो मैंने नेताओंके सम्मेलनके पहले ही कालड़ीमें कहा था कि अब खंडन-पर्व समाप्त हुआ है, इसके आगे परम शांतिपर्व आया है । नेताओंके सम्मेलनके बाद हरेकको इसका दर्शन होना चाहिए कि हम कुछ खंडन करते हैं तो हमारे कामके लिए वह बाधक होता है । अब विश्वास रखना चाहिए कि राष्ट्रका संकल्प हुआ है, इस संकल्पके पीछे परमेश्वरका बल है, अब यह बाबाका व्यक्तिगत संकल्प नहीं रहा है, न यह सर्वोदयके साधकोंका संकल्प रहा है । यह कुल हिंदुस्तान देशका संकल्प हुआ है । इसलिए हमें परमेश्वर-दर्शन तो हो चुका है, इसके बाद उसकी सेवा करनेका कार्यक्रम है, वह बड़े प्रेमसे हम करेंगे । जबतक परमेश्वरका दर्शन नहीं हुआ था तबतक बड़ी विकट साधना करनी पड़ती थी । वैराग्य बहुत जरूरी था । बहुत क्लेश, कष्ट, विरोध आदि की जरूरत थी । परंतु ईश्वरका दर्शन होनेके बाद तो प्रेमसे सेवा करनी है । इसलिए जहां देशको नेताओंका आदेश मिल गया, वहां हमें क्रांतिका दर्शन हो गया ।

अब तो लोगोंके काममें जोश आना चाहिए । हमने कहा कि इसके आगे